सामाजिक विज्ञान

भारत और समकालीन विश्व-1

कक्षा 9 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

भारत और समकालीन विश्व-1

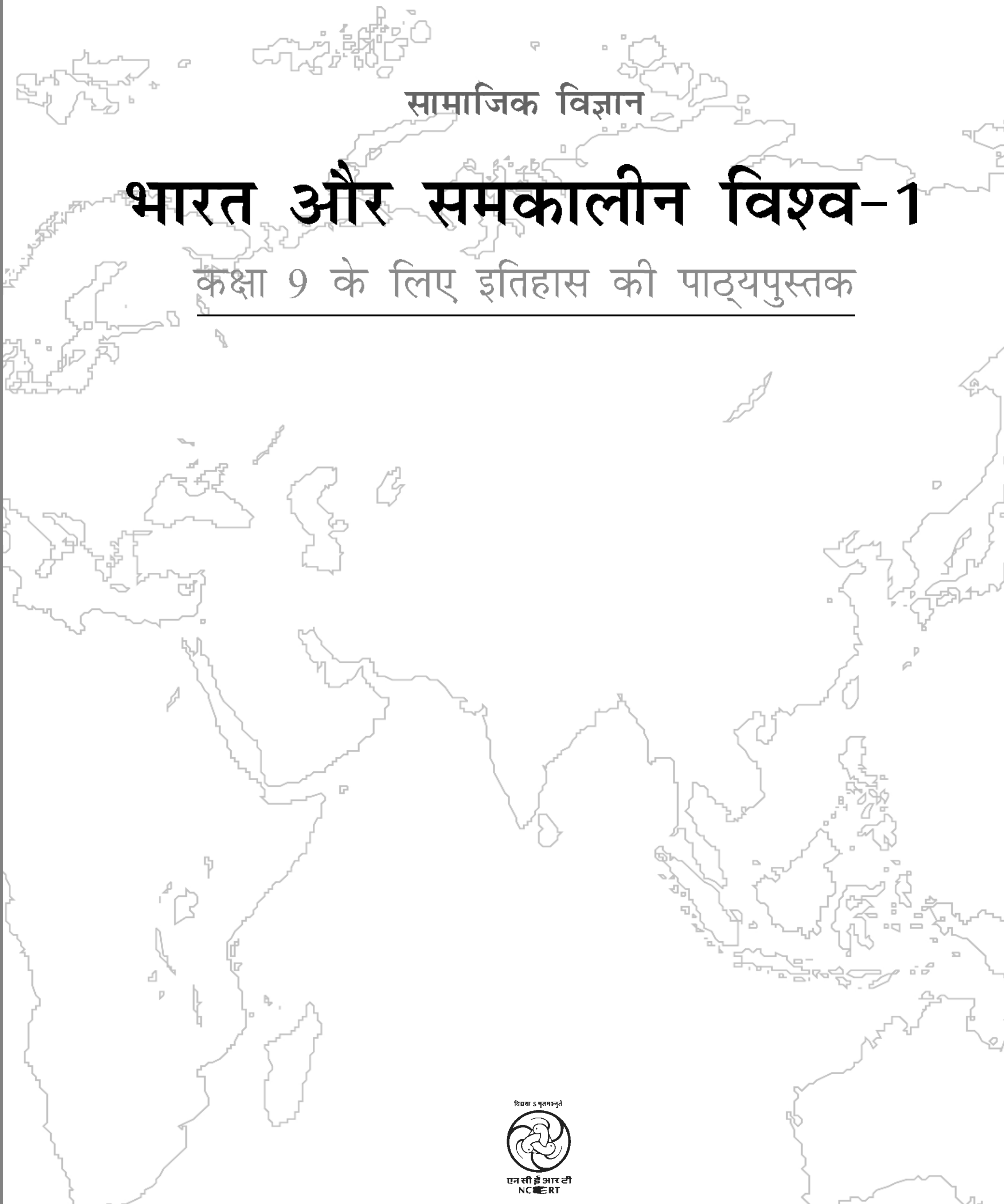

सामाजिक विज्ञान

भारत और समकालीन विश्व-1

कक्षा 9 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

मई 2006 ज्येष्ठ 1927

पुनर्मुद्रण

फरवरी 2007 माघ 1928

फरवरी 2009 माघ 1930

PD 120T SC

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2006

रु.75.00

एन.सी.ई.आर.टी. वॉटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा .... द्वारा मुद्रित।

ISBN 81-7450-571-7

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बेंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन :033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग	:	*पेय्यटी राजाकुमार*
मुख्य उत्पादन अधिकारी	:	*शिव कुमार*
मुख्य संपादक	:	*श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार प्रबंधक	:	*गौतम गांगुली*
सहायक संपादक	:	*शशि चड्ढा*
उत्पादन सहायक	:	*प्रकाश तहिलयानी*

आवरण एवं सज्जा

पार्थिव शाह तथा उनकी सहायक श्राबोनी राय एवं शशि प्रभा झा

चित्रांकन

के. वर्गीज़

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास हैं। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि स्कूलों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और अपने अनुभव पर विचार करने का अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नये ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों व स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितनी वार्षिक कैलेण्डर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक स्कूल में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में बातचीत व बहस और हाथ से की जाने वाली गतिविधियों को प्राथमिकता देती है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान सलाहकार समूह के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन और इतिहास पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार प्रोफ़ेसर नीलाद्रि भट्टाचार्य की विशेष आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में कई शिक्षकों ने योगदान दिया; इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया।

हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित एन.सी.ई.आर.टी. टिप्पणियों व सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
20 दिसंबर 2005

इतिहास और बदलती दुनिया

रोज़मर्रा की ज़िंदगी जीते हुए जब हम अखबारों में दुनिया भर की घटनाओं के बारे में पढ़ते हैं तो आमतौर पर हम ठहर कर उन घटनाओं के लंबे इतिहास के बारे में नहीं सोचते। चीज़ें हमारी आँखों के सामने बदलती रहती हैं लेकिन हम कभी ये नहीं सोचते कि वह बदल क्यों रही हैं? बल्कि अकसर हम इस बात पर भी ध्यान नहीं देते कि पहले चीज़ें ऐसी नहीं थीं। इन बदलावों पर लगातार नज़र रखना, ये समझना कि बदलाव क्यों और कैसे आ रहे हैं, और यह भी कि हम आज जिस दुनिया में जी रहे हैं वह कैसे बनी है – यही इतिहास है।

कक्षा IX और X की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों का मुख्य ज़ोर यही समझने पर है कि समकालीन विश्व कैसे बना है। पिछली कक्षाओं (VI-VIII) में आपने भारत के इतिहास के बारे में पढ़ा है। अगले दो सालों (कक्षा IX और X) की इतिहास की पुस्तकों में आप यह जानेंगे कि किस तरह भारत के अतीत की कहानी दुनिया के लंबे इतिहास से जुड़ी हुई है। जब तक हम इस संबंध पर विचार नहीं करेंगे तब तक इस बात को अच्छी तरह नहीं समझ पाएँगे कि भारत में क्या और कैसे हो रहा था। यह बात इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि आज तमाम अर्थव्यवस्थाएँ और समाज दिनोंदिन गहरे तौर पर एक-दूसरे से जुड़ते जा रहे हैं। इतिहास को हमेशा भौगोलिक सीमाओं में बंद करके नहीं देखा जा सकता।

वैसे भी राष्ट्रीय भौगोलिक सीमाओं को ही अपने अध्ययन का एकमात्र केंद्रबिंदु मान लेना ठीक नहीं होगा। कई बार ऐसे मौके आते हैं जब एक छोटे से क्षेत्र – एक इलाके, एक गाँव, किसी रेगिस्तानी पट्टी, किसी जंगल, या किसी पहाड़ – पर ध्यान केंद्रित करने से हमें लोगों के जीवन में मौजूद भारी विविधता और उन इतिहासों को समझने में मदद मिलती है जिनसे किसी राष्ट्र का इतिहास बनता है। न तो हम लोगों के बिना राष्ट्र की बात कर सकते हैं और न ही राष्ट्र के बिना किसी इलाके की बात कर सकते हैं। फ़्रांसीसी इतिहासकार फ़र्नांड ब्रॉदेल के शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि 'विश्व के बिना राष्ट्र की बात नहीं की जा सकती'।

अगले दो साल आप जो पाठ्यपुस्तकें पढ़ेंगे उनमें इसी लक्ष्य को अलग-अलग स्तरों पर साधने की कोशिश की गई है। इस दौरान हम कुछ खास समुदायों और इलाकों का अध्ययन करते हुए राष्ट्र के इतिहास तक और भारत व यूरोप के इतिहास से होते हुए अफ़्रीका और इंडोनेशिया के घटनाक्रमों तक जाएंगे। हमारे अध्ययन का केंद्र विषय के हिसाब से बदलता जाएगा।

ये विषय क्या हैं और उन्हें कैसे व्यवस्थित किया गया है? विषयवस्तु का चुनाव किस आधार पर किया गया है?

अब तक आधुनिक विश्व का इतिहास अकसर पश्चिमी दुनिया के इतिहास पर आश्रित रहा है। मानो सारे परिवर्तन और सारी तरक्की सिर्फ़ पश्चिम में ही होती रही हो। मानो बाकी देशों के इतिहास एक समय के बाद ठहर कर रह गए हों, गतिहीन और जड़ हो गए हों। इस इतिहास में पश्चिम के लोग उद्यमशील, रचनात्मक, वैज्ञानिक मेधायुक्त, मेहनती, कुशल और बदलाव के लिए तत्पर दिखाई पड़ते हैं। दूसरी तरफ़ पूर्वी

समाज – या अफ़्रीका और दक्षिणी अमेरिका – के लोगों को परंपरानिष्ठ, आलसी, अंधविश्वासी, और बदलावों से कन्नी काटने वाला दिखाया जाता है।

इतिहासकार बहुत सालों से इन स्थापनाओं पर सवाल खड़ा करते आ रहे हैं। अब हम अच्छी तरह जान चुके हैं कि हरेक समाज में परिवर्तन का अपना इतिहास होता है। इसीलिए आधुनिक विश्व की रचना को समझने के लिए हमें इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा कि विभिन्न समाजों ने इन बदलावों को किस तरह अनुभव किया और उन्हें कैसे शक्ल दी है। हमें देखना पड़ेगा कि अलग-अलग देशों के इतिहास किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़ रहे हैं। कैसे एक समाज में हुए बदलावों का असर दूसरे समाज में देखा जा सकता है; कैसे भारत व अन्य उपनिवेशों की घटनाओं ने यूरोप को प्रभावित किया। आशय यह कि समकालीन विश्व का रूप-स्वरूप सिर्फ़ पश्चिम से तय नहीं हुआ है।

समकालीन विश्व का इतिहास सिर्फ़ उद्योग और व्यापार, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, रेलवे और सड़कों का इतिहास नहीं है। इनके साथ-साथ यह वनवासियों और चरवाहों, घुमंतू काश्तकारों और छोटे किसानों का भी इतिहास है। इन सभी सामाजिक समूहों ने आज की दुनिया को आज जैसा बनाने में अपना योगदान दिया है। इस साल आप इस विविधता भरी दुनिया के बारे में ही पढ़ने जा रहे हैं।

कक्षा IX और X, दोनों पुस्तकों में तीन खंड और आठ अध्याय हैं। हमें उम्मीद है कि आप सभी अध्यायों को पढ़ने का आनंद उठाएँगे। लेकिन परीक्षा की दृष्टि से आपको केवल पाँच-पाँच अध्याय ही पढ़ने हैं- दो-दो अध्याय खंड I और II से तथा एक अध्याय खंड III से।

दोनों किताबों के खंड I में कुछ ऐसी घटनाओं और प्रक्रियाओं पर ध्यान दिया गया है जो आधुनिक विश्व को समझने की दृष्टि से काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इस साल खंड I में आप फ़्रांसीसी क्रांति, रूसी क्रांति और नात्सीवाद के बारे में पढ़ेंगे। अगले साल आप भारत तथा अन्य देशों में राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों के बारे में जानेंगे।

खंड II में नाटकीय घटनाओं पर दृष्टिपात करते हुए हम लोगों के जीवन की सामान्य बातों – उनकी आर्थिक गतिविधियों और आजीविका के स्वरूप – तक जाएंगे। इस हिस्से में आप देखेंगे कि जनजातीय समुदायों, चरवाहों और किसानों के लिए समकालीन विश्व का क्या मतलब रहा है; उन्होंने इन बदलावों का सामना किस तरह किया और उन्हें किस तरह प्रभावित किया। अगले साल आप औद्योगीकरण और शहरीकरण, पूँजीवाद और उपनिवेशाद के बारे में और विस्तार से जानेंगे।

खंड III आपको दैनिक जीवन के इतिहास से परिचित कराता है। इस भाग में आप खेल और पहनावे के इतिहास (कक्षा IX) तथा छपाई-पढ़ाई और उपन्यास व अखबारों के विकास के बारे में पढ़ेंगे (कक्षा X)। आप पूछ सकते हैं कि हमें खेल-कूद और वेश-भूषा का इतिहास पढ़ने की भला क्या ज़रूरत है? क्या हम उनके बारे में अखबारों और पत्रिकाओं में रोज़ ही नहीं पढ़ते?

बेशक, हम इन चीज़ों के बारे में बहुत कुछ पढ़ते रहते हैं। लेकिन इनके बारे में हम जो कुछ पढ़ते हैं उससे हमें इनके इतिहास के बारे में कुछ खास पता नहीं चल पाता। हमें

ये पता नहीं चल पाता कि ये चीज़ें किस तरह विकसित हुई हैं और क्यों बदलती हैं। जब हम अपने आस-पास की चीज़ों के बारे में इतिहास की दृष्टि से सवाल उठाना सीख जाते हैं तो इतिहास एक नया अर्थ ग्रहण कर लेता है। हमें रोज़मर्रा की साधारण चीज़ों को भी एक अलग कोण से देखने का मौका मिल जाता है। हमें अहसास होने लगता है कि जो चीज़ें इतनी मामूली दिखाई देती हैं उनका भी एक इतिहास है जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है।

समकालीन विश्व किस तरह अस्तित्व में आया है, इसे समझने के लिए हम भारत से अफ़्रीका और यूरोप से इंडोनेशिया तक का सफ़र करेंगे। इस क्रम में हम बड़ी-बड़ी घटनाओं के बारे में भी पढ़ेंगे और दैनिक जीवन को भी करीब से देखेंगे। इन यात्राओं के दौरान आप खुद महसूस करने लगेंगे कि इतिहास भी कितना दिलचस्प हो सकता है, जिस दुनिया में हम रहते हैं उसे समझने में कितना मददगार हो सकता है।

नीलाद्रि भट्टाचार्य
मुख्य सलाहकार - इतिहास

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता,**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और
राष्ट्र की एकता और अखंडता
सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

पाठ्यपुस्तक विकास समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता (अध्याय 2)।

मुख्य सलाहकार

नीलाद्रि भट्टाचार्य, *प्रोफ़ेसर,* ऐतिहासिक अध्ययन केंद्र, समाज विज्ञान संस्थान, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली (अध्याय 5 और 6)।

सदस्य

मोनिका जुनेजा, *प्रोफ़ेसर,* मारिया-गोएप्पेर्ट-मेयर गेस्ट प्रोफ़ेसर, हिस्टोरिचेस सेमिनार, हनोवर विश्वविद्यालय, जर्मनी (अध्याय 1)।

वंदना जोशी, *लेक्चरर,* श्री वेंकटेस्वर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली (अध्याय 3)।

नंदिनी सुंदर, *प्रोफ़ेसर,* समाजशास्त्र विभाग, दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकनॉमिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (अध्याय 4)।

मुकुल केसवन, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली (अध्याय 7)।

जानकी नायर, *प्रो.फ़ेसर,* सेंटर फ़ॉर स्टडीज़ इन सोशल साइंसेज़, कोलकाता (अध्याय 8)।

रेखा कृष्णन, *हेड ऑफ़ सीनियर स्कूल,* वसंत वैली स्कूल, नई दिल्ली।

रश्मि पालीवाल, एकलव्य, होशंगाबाद, मध्य प्रदेश।

अजय दांडेकर, *विज़िटिंग .फ़ेलो,* टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज़, मुंबई।

प्रीतीश आचार्या, *रीडर,* रीजनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन, भुवनेश्वर, उड़ीसा।

हिंदी अनुवाद

योगेन्द्र दत्त, सराय-सी.एस.डी.एस., दिल्ली (अध्याय 2, 3, 5)

रविकान्त, सराय-सी.एस.डी.एस., दिल्ली (अध्याय 7, 8)

नरेश गोस्वामी, स्वतंत्र अनुवादक एवं शोधकर्ता (अध्याय 6)

शिवानंद उपाध्याय, शोधार्थी, हिंदी, जनेवि, नई दिल्ली (अध्याय 1)

कमल कुमार मिश्रा, इंडिपेंडेंट फ़ेलो, सराय-सी.एस.डी.एस., दिल्ली (अध्याय 4)

सदस्य-संयोजक

किरण देवेंद्र, *प्रोफ़ेसर,* प्राथमिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली।

आभार

यह पुस्तक बहुत सारे इतिहासकारों, शिक्षकों और शिक्षाविदों की साझा कोशिशों का परिणाम है। हरेक अध्याय के लेखन, उस पर चर्चा और संशोधनों में कई-कई महीने का समय लगा है। इन चर्चाओं में हिस्सा लेने वाले सभी साथियों को हम धन्यवाद देना चाहते हैं।

बहुत सारे लोगों ने पुस्तक के अलग-अलग अध्यायों को पढ़ा है। विशेष रूप से हम निगरानी समिति के सदस्यों को धन्यवाद देना चाहते हैं जिन्होंने विभिन्न अध्यायों के प्रारंभिक पाठों पर अपनी टिप्पणियाँ दीं। नारायणी गुप्ता और कुमकुम रॉय ने निरंतर प्रोत्साहन और सहायता दी; रिचर्ड इवांस ने नात्सीवाद के बारे में लिखे गए अध्याय को पढ़ा - इन सभी को धन्यवाद। पांडुलिपियों पर जो भी सुझाव मिले, उन सभी को शामिल करने का हमने हर-संभव प्रयास किया है।

बहुत सारे संस्थानों और व्यक्तियों की सहायता के बिना इन पुस्तकों की ऐसी साज-सज्जा संभव नहीं थी। मासाई एसोसिएशन, नॉर्थ डकोटा स्टेट यूनिवर्सिटी लायब्रेरी, युनाइटेड स्टेट्स हॉलोकास्ट म्यूज़ियम, यूनेस्को पारज़ॉर प्रोजेक्ट और महिला विकास अध्ययन केंद्र, दिल्ली ने हमारे आग्रह पर अपने अभिलेखागारों से आवश्यक चित्र और अन्य सामग्री उपलब्ध कराई। कुछ तस्वीरें लायब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस प्रिंट्स ऐण्ड फ़ोटोग्राफ़ डिविज़न, ज्यूइश हिस्टॉरिकल इंस्टीट्यूट, वॉरसॉ, पोलैंड, रबींद्र भवन फ़ोटो आर्काइव्ज़, और विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन से ली गई हैं। संजय बरनेला, मुकुल मांगलिक और वसंत सबरवाल ने चरवाहों और वनाश्रित समुदायों की तस्वीरों के अपने संग्रह का इस्तेमाल करने की हमें इजाज़त दी। पहनावे के इतिहास पर केंद्रित अध्याय के लिए तस्वीरें जुटाने के वास्ते हमने मालविका कार्लेकर से संपर्क किया जबकि क्रिकेट से संबंधित चित्रों के लिए हमने राम गुहा की मदद ली। अनीश वनायक ने चित्रों से संबंधित शोध में मदद दी। हम सराय-सी.एस.डी.एस. से जुड़े साथियों को धन्यवाद देना चाहते हैं जिन्होंने पुस्तक पर हुई चर्चाओं में सक्रिय भूमिका निभायी।

इस तरह की विषयवस्तु का अनुवाद हमेशा आसान नहीं होता, खासतौर से जबकि किताब कम उम्र विद्यार्थियों के लिए तैयार की जा रही है। इस चुनौती को देखते हुए अनुवादक टीम ने शब्दों के चयन, भाषायी प्रवाह और अवधारणात्मक अभिव्यक्ति को लेकर गहन विचार-विमर्श किया और कई महत्त्वपूर्ण सवालों पर बहस छेड़ी। आलोक राय, नरेंद्र व्यास और राजेंद्र प्रसाद तिवारी ने अनुवाद पर अमूल्य टिप्पणियाँ दी। हयात सिंह नेगी ने प्रूफ़ पढ़ा। संजय शर्मा इस पुस्तक की तैयारी के प्रत्येक चरण में हिस्सेदार रहे। उन्होंने न केवल पूरी किताब का अनुवाद जाँचा, कॉपी संपादन किया और प्रूफ़ रीडिंग की बल्कि विषयवस्तु को हिंदी माध्यम विद्यार्थियों के लिए सहज बनाने के सवाल पर चली विषयात्मक और रूपात्मक बहसों में भी उत्साहपूर्वक हिस्सा लिया और कई अहम सुझाव दिए। अंतिम चरणों में परिषद् के भाषा विभाग एवं हिंदी प्रकोष्ठ के अध्यक्ष प्रो. रामजन्म शर्मा ने शैलीगत परामर्श देकर किताब को निखारने में मदद की। परिषद् की ओर से डी.टी.पी. ऑपरेटर अरविंद शर्मा और विजय कुमार तथा कॉपी एडिटर सतीश झा ने अपना पूर्ण योगदान दिया। इतने कम समय में काम पूरा कर देने और पूरी परियोजना में इतनी दिलचस्पी लेने के लिए हम इन सभी साथियों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

जिन्होंने इस किताब में अपना योगदान दिया है उन सभी के नाम किताब के अंत में देने का हमने हर मुमकिन प्रयास किया है। अगर भूलवश किसी का नाम छूट गया है तो हम ऐसे सभी साथियों से क्षमा माँगते हैं।

विषय-सूची

आमुख	iii
इतिहास और बदलती दुनिया	v
खण्ड I : घटनाएँ और प्रक्रियाएँ	**1-74**
1. फ़्रांसिसी क्रांति	3
2. यूरोप में समाजवाद एवं रूसी क्रांति	25
3. नात्सीवाद और हिटलर का उदय	49
खण्ड II : जीविका, अर्थव्यवस्था एवं समाज	**75-138**
4. वन्य समाज एवं उपनिवेशवाद	77
5. आधुनिक विश्व में चरवाहे	97
6. किसान और काश्तकार	117
खण्ड III : रोज़ाना की ज़िंदगी, संस्कृति और राजनीति	**139-178**
7. इतिहास और खेल: क्रिकेट की कहानी	141
8. पहनावे का सामाजिक इतिहास	159
आभार	179

खण्ड I

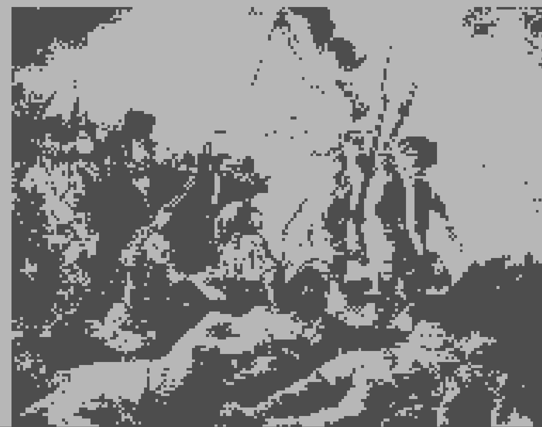

घटनाएँ और प्रक्रियाएँ

इस खण्ड में आप फ़्रांसीसी क्रांति, रूसी क्रांति और नात्सीवाद के उदय का इतिहास पढ़ेंगे। आधुनिक विश्व की रचना में इन तीनों घटनाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

अध्याय 1 फ़्रांसीसी क्रांति के बारे में है। आज हम मुक्ति, स्वतंत्रता और समानता को सहज-सुलभ और सामान्य मान कर चलते हैं। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि इन सबका भी एक इतिहास रहा है। फ़्रांसीसी क्रांति के ज़रिए आपको इस इतिहास के एक हिस्से को समझने में मदद मिलेगी। फ़्रांसीसी क्रांति ने फ़्रांस में राजतंत्र को समाप्त कर दिया। विशेषाधिकारों पर आधारित व्यवस्था से शासन की एक नई व्यवस्था उदित हुई। क्रांति के दौरान तैयार किया गया मानव अधिकार घोषणापत्र एक नए युग के आगमन का द्योतक था। सबके एक समान अधिकार होते हैं और हर व्यक्ति बराबरी का दावा कर सकता है - यह सोच राजनीति की नई भाषा का हिस्सा बन गई। समानता और स्वतंत्रता की यह सोच नए युग का केंद्रीय विचार थी; लेकिन विभिन्न देशों में इन विचारों को नाना रूपों में समझा और साधा गया। भारत और चीन, अफ़्रीका और दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलनों ने कई ऐसे विचारों को जन्म दिया जो बेहद रचनात्मक और मौलिक थे लेकिन इन आंदोलनों की भाषा और मुहावरे को अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध की घटनाओं से ही वैधता मिल रही थी।

अध्याय 2 में आप यूरोप में समाजवाद के आगमन और उस नाटकीय घटनाक्रम के बारे में पढ़ेंगे जिसके चलते रूस के शासक ज़ार निकोलस-II को सत्ता छोड़नी पड़ी। रूसी क्रांति ने समाज परिवर्तन का एक नया तरीका गढ़ने का प्रयास किया। इस क्रांति ने आर्थिक समानता और मज़दूर-किसानों की बेहतरी का सवाल उठाया। इस अध्याय में आप नई सोवियत सरकार द्वारा शुरू किए गए बदलावों, उसके सामने आई समस्याओं और उनसे निपटने के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कदमों के बारे में जानेंगे। सोवियत रूस की सरकार ने खेती के औद्योगीकरण और मशीनीकरण का कार्यक्रम तो दृढ़ता के साथ आगे बढ़ाया लेकिन उसने नागरिकों के कई ऐसे अधिकारों का हनन भी किया जो किसी भी लोकतांत्रिक समाज के संचालन के लिए अनिवार्य होते हैं। फिर भी, समाजवाद का नारा विभिन्न देशों के उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन का हिस्सा बना। आज सोवियत संघ बिखर चुका है और समाजवाद संकट में है, लेकिन बीसवीं सदी के पैमाने पर समकालीन विश्व का रूपाकार तय करने में यह सबसे शक्तिशाली ताकत था।

अध्याय 3 में आप जर्मनी के बारे में जानेंगे। इस अध्याय में हिटलर के उदय और नात्सीवाद की राजनीति का विश्लेषण किया गया है। यहाँ आप नात्सी जर्मनी में औरतों व बच्चों की दशा और स्कूलों व यातना गृहों के बारे में पढ़ेंगे। इस अध्ययन से आपको पता चलेगा कि नात्सीवाद ने किस तरह विभिन्न अल्पसंख्यक समूहों को जीने के अधिकार से वंचित कर दिया था, किस तरह उन्होंने यहूदियों का सफ़ाया करने के लिए यहूदी-विरोधी भावनाओं को भड़काया और लोकतंत्र व समाजवाद के खिलाफ़ एक मारक युद्ध छेड़ दिया। नात्सीवाद के उदय की कहानी सिर्फ़ कुछ खास घटनाओं, सत्ता की पैशाचिक चाह, हत्याकांडों और मौत की कहानी भर नहीं है। यह विभिन्न स्तरों पर चलने वाली एक विस्तृत और दिल दहला देने वाली व्यवस्था की कहानी है। भारत में भी कुछ लोग हिटलर के विचारों से काफ़ी प्रभावित हुए लेकिन ज़्यादातर लोगों को नात्सीवाद के उदय पर खौफ़ ही महसूस हुआ।

आधुनिक विश्व का इतिहास सिर्फ़ स्वतंत्रता और लोकतंत्र के फलने-फूलने की कहानी भर नहीं है। यह हिंसा और निरंकुशता, मृत्यु और महाविनाश की कहानी भी है।

फ़्रांसीसी क्रांति

चौदह जुलाई 1789 की सुबह, पेरिस नगर में आतंक का माहौल था। सम्राट ने सेना को शहर में घुसने का आदेश दे दिया था। अफ़वाह थी कि वह सेना को नागरिकों पर गोलियाँ चलाने का आदेश देने वाला है। लगभग 7000 मर्द तथा औरतें टॉउन हॉल के सामने एकत्र हुए और उन्होंने एक जन-सेना का गठन करने का निर्णय किया। हथियारों की खोज में वे बहुत-से सरकारी भवनों में जबरन प्रवेश कर गए।

अंततः सैकड़ों लोगों का एक समूह पेरिस नगर के पूर्वी भाग की ओर चल पड़ा और बास्तील (Bastille) किले की जेल को तोड़ डाला जहाँ भारी मात्रा में गोला-बारूद मिलने की संभावना थी। हथियारों पर कब्ज़े की इस सशस्त्र लड़ाई में बास्तील का कमांडर मारा गया और कैदी छुड़ा लिए गए, यद्यपि उनकी संख्या केवल सात थी। सम्राट की निरंकुश शक्तियों का प्रतीक होने के कारण बास्तील किला लोगों की घृणा का केंद्र था। इसलिए किले को ढहा दिया गया और उसके अवशेष बाज़ार में उन लोगों को बेच दिए गए जो इस ध्वंस को बतौर स्मृति-चिह्न संजोना चाहते थे।

इस घटना के बाद कई दिनों तक पेरिस तथा देश के देहाती क्षेत्रों में कई और संघर्ष हुए। अधिकांश जनता पावरोटी की महँगी कीमतों का विरोध कर रही थी। बाद में इस दौर का सिंहावलोकन करते हुए इतिहासकारों ने इसे एक लंबे घटनाक्रम की ऐसी शुरुआती कड़ियों के रूप में देखा जिनकी परिणति फ़्रांस के सम्राट को फाँसी दिए जाने में हुई, हालाँकि उस समय अधिकांश लोगों को ऐसे नतीजे की उम्मीद नहीं थी। ऐसा क्यों और कैसे हुआ?

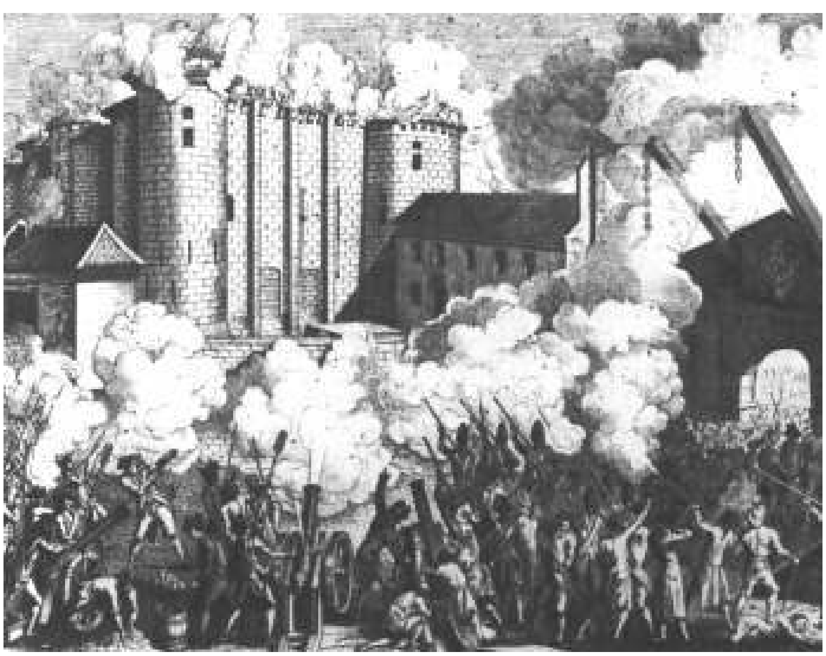

चित्र 1 – बास्तील का ध्वंस.
बास्तील ध्वंस के बाद चित्रकारों ने इस घटना की याद में कई चित्र बनाए।

1 अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांसीसी समाज

सन् 1774 में बूर्बो राजवंश का लुई XVI फ्रांस की राजगद्दी पर आसीन हुआ। उस समय उसकी उम्र केवल बीस साल थी और उसका विवाह ऑस्ट्रिया की राजकुमारी मेरी एन्तोएनेत से हुआ था। राज्यारोहण के समय उसने राजकोष खाली पाया। लंबे समय तक चले युद्धों के कारण फ्रांस के वित्तीय संसाधन नष्ट हो चुके थे। वर्साय (Versailles) के विशाल महल और राजदरबार की शानो-शौकत बनाए रखने की फिजूलखर्ची का बोझ अलग से था। लुई XVI के शासनकाल में फ्रांस ने अमेरिका के 13 उपनिवेशों को साझा शत्रु ब्रिटेन से आज़ाद कराने में सहायता दी थी। इस युद्ध के चलते फ्रांस पर दस अरब ***लिव्रे*** से भी अधिक का कर्ज़ और जुड़ गया जबकि उस पर पहले से ही दो अरब लिव्रे का बोझ चढ़ा हुआ था। सरकार से कर्ज़दाता अब 10 प्रतिशत ब्याज की माँग करने लगे थे। फलस्वरूप फ्रांसीसी सरकार अपने बजट का बहुत बड़ा हिस्सा दिनोंदिन बढ़ते जा रहे कर्ज़ को चुकाने पर मजबूर थी। अपने नियमित खर्चों जैसे, सेना के रख-रखाव, राजदरबार, सरकारी कार्यालयों या विश्वविद्यालयों को चलाने के लिए फ्रांसीसी सरकार करों में वृद्धि के लिए बाध्य हो गई पर यह कदम भी नाकाफ़ी था। अठारहवीं सदी में फ्रांसीसी समाज तीन एस्टेट्स में बँटा था और केवल तीसरे **एस्टेट** के लोग (जनसाधारण) ही कर अदा करते थे।

वर्गों में विभाजित फ्रांसीसी समाज मध्यकालीन सामंती व्यवस्था का अंग था। 'प्राचीन राजतंत्र' पद का प्रयोग सामान्यतः सन् 1789 से पहले के फ्रांसीसी समाज एवं संस्थाओं के लिए होता है।

चित्र 2 फ्रांसीसी समाज की वर्ग-व्यवस्था को दर्शाता है। पूरी आबादी में लगभग 90 प्रतिशत किसान थे। लेकिन, ज़मीन के मालिक किसानों की संख्या बहुत कम थी। लगभग 60 प्रतिशत ज़मीन पर कुलीनों, चर्च और तीसरे एस्टेट्स के अमीरों का अधिकार था। प्रथम दो एस्टेट्स, कुलीन वर्ग एवं **पादरी वर्ग** के लोगों को कुछ विशेषाधिकार जन्मना प्राप्त थे। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार था—राज्य को दिए जाने वाले करों से छूट। कुलीन वर्ग को कुछ अन्य सामंती विशेषाधिकार भी हासिल थे। वह किसानों से सामंती कर वसूल करता था। किसान अपने स्वामी की सेवा—स्वामी के घर एवं खेतों में काम करना, सैन्य सेवाएँ देना अथवा सड़कों के निर्माण में सहयोग आदि—करने के लिए बाध्य थे।

चर्च भी किसानों से करों का एक हिस्सा, **टाइद** (Tithe, धार्मिक कर) के रूप में वसूलता था। ऊपर से तीसरे एस्टेट के तमाम लोगों को सरकार को तो कर चुकाना ही होता था। इन करों में **टाइल** (Taille, प्रत्यक्ष कर) और अनेक अप्रत्यक्ष कर शामिल थे। अप्रत्यक्ष कर नमक और तम्बाकू जैसी रोज़ाना उपभोग की वस्तुओं पर लगाया जाता था। इस प्रकार राज्य के वित्तीय कामकाज का सारा बोझ करों के माध्यम से जनता वहन करती थी।

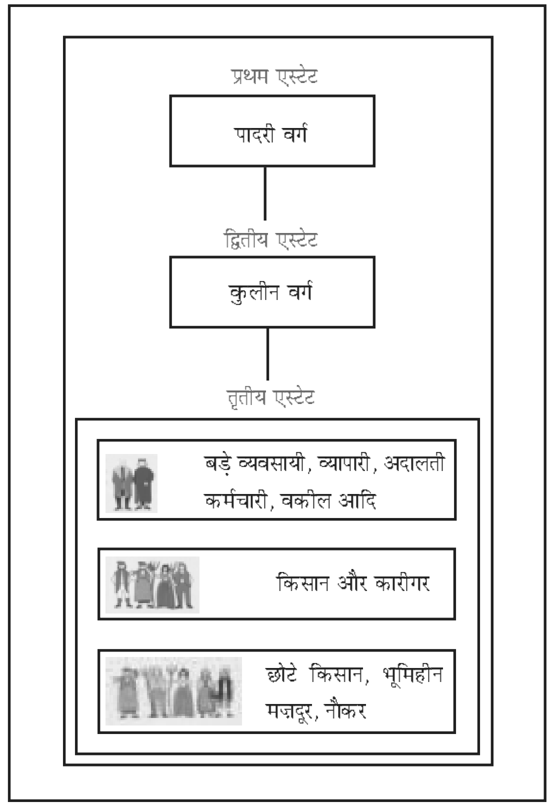

चित्र 2 – एस्टेट्स का समाज .
ध्यान दें कि तृतीय एस्टेट में कुछ लोग अमीर हैं तो कुछ गरीब भी हैं।

नए शब्द

लिव्रे : फ्रांस की मुद्रा जिसे 1794 में समाप्त कर दिया गया।

एस्टेट : क्रांति-पूर्व फ्रांसीसी समाज में सत्ता और सामाजिक हैसियत को अभिव्यक्त करने वाली श्रेणी।

पादरी वर्ग : चर्च के विशेष कार्यों को करने वाले व्यक्तियों का समूह।

टाइद : चर्च द्वारा वसूल किया जाने वाला कर। यह कर कृषि उपज के दसवें हिस्से के बराबर होता था।

टाइल : सीधे राज्य को अदा किया जाने वाला कर।

'बेचारा गरीब अनाज, फल, पैसा, सलाद सब कुछ लाता है। मोटू ज़मींदार सब कुछ स्वीकार करने को तैयार बैठा है। पर वह उसको एक नज़र देखता तक नहीं।'

'कुलीन व्यक्ति मकड़ा है और किसान मक्खी।'

'शैतान को जितना दो, उसका लालच उतना ही बढ़ता जाता है।'

चित्र 3 – मकड़ा और मक्खी.
*एक **अनाम** उत्कीर्ण चित्र।*

क्रियाकलाप

बताएँ कि चित्रकार ने कुलीन व्यक्ति को मकड़े और किसान को मक्खी के रूप में क्यों चित्रित किया है।

1.1 जीने का संघर्ष

फ़्रांस की जनसंख्या सन् 1715 में 2.3 करोड़ थी जो सन् 1789 में बढ़कर 2.8 करोड़ हो गई। परिणामत: अनाज उत्पादन की तुलना में उसकी माँग काफ़ी तेज़ी से बढ़ी। अधिकांश लोगों के मुख्य खाद्य–पावरोटी–की कीमत में तेज़ी से वृद्धि हुई। अधिकतर कामगार कारखानों में मज़दूरी करते थे और उनकी मज़दूरी मालिक तय करते थे। लेकिन मज़दूरी महँगाई की दर से नहीं बढ़ रही थी। फलस्वरूप, अमीर–गरीब की खाई चौड़ी होती गई। स्थितियाँ तब और बदतर हो जातीं जब सूखे या ओले के प्रकोप से पैदावार गिर जाती। इससे रोज़ी–रोटी का संकट पैदा हो जाता था। ऐसे **जीविका संकट** प्राचीन राजतंत्र के दौरान फ़्रांस में काफ़ी आम थे।

नए शब्द

जीविका संकट : ऐसी चरम स्थिति जब जीवित रहने के न्यूनतम साधन भी खतरे में पड़ने लगते हैं।

अनाम : जिसका नाम मालूम नहीं है।

1.2 जीविका का संकट कैसे उत्पन्न होता है

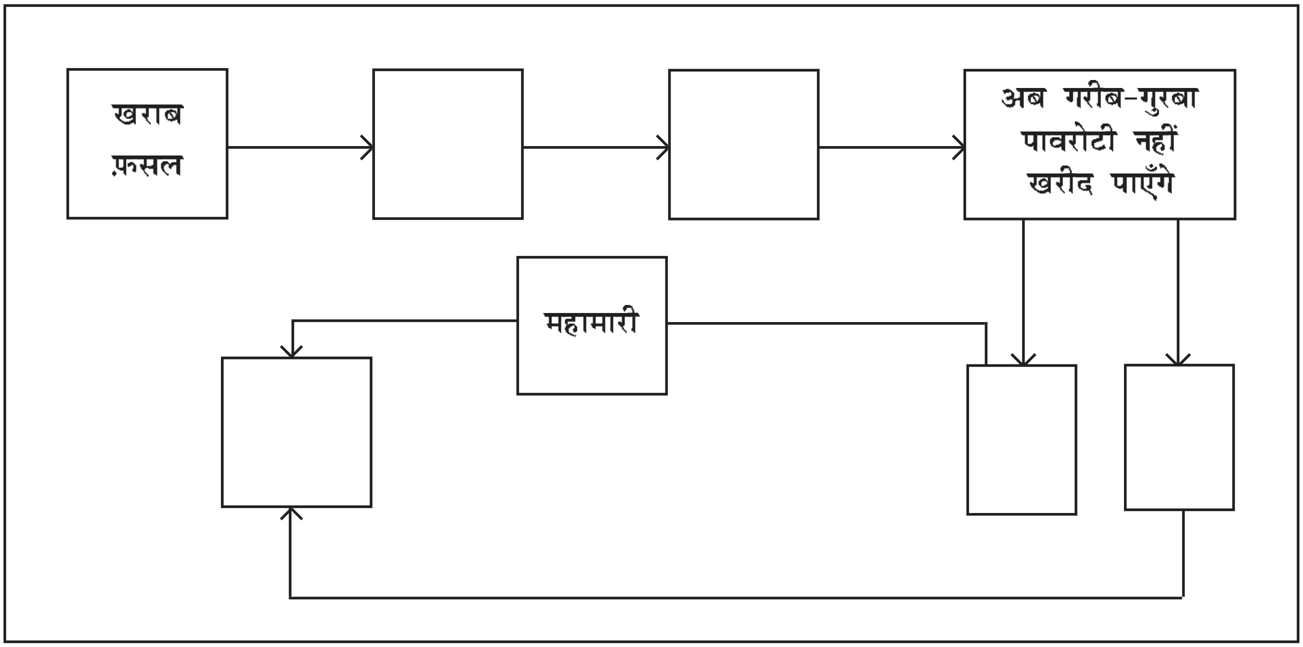

चित्र 4 – जीविका संकट का चक्र .

क्रियाकलाप

नीचे दिए गए शब्दों में से सही शब्द चुनकर चित्र 4 के रिक्त स्थानों को भरें : **खाद्य दंगे, अन्नाभाव, मृतकों की संख्या में वृद्धि, खाद्य पदार्थों की बढ़ती कीमत, कमज़ोर शरीर।**

1.3 उभरते मध्य वर्ग ने विशेषाधिकारों के अंत की कल्पना की

पहले भी कर बढ़ने एवं अकाल के समय किसान और कामगार विद्रोह कर चुके थे। परंतु उनके पास सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव लाने के लिए साधन एवं कार्यक्रम नहीं थे। ये ज़िम्मेदारी तीसरे एस्टेट के उन समूहों ने उठाई जो समृद्ध और शिक्षित होकर नए विचारों के संपर्क में आ सके थे।

अठारहवीं सदी में एक नए सामाजिक समूह का उदय हुआ जिसे मध्य वर्ग कहा गया, जिसने फैलते समुद्रपारीय व्यापार और ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों के उत्पादन के बल पर संपत्ति अर्जित की थी। ऊनी और रेशमी कपड़ों का या तो निर्यात किया जाता था या समाज के समृद्ध लोग उसे खरीद लेते थे। तीसरे एस्टेट में इन सौदागरों एवं निर्माताओं के अलावा प्रशासनिक सेवा व वकील जैसे पेशेवर लोग भी शामिल थे। ये सभी पढ़े-लिखे थे और इनका मानना था कि समाज के किसी भी समूह के पास जन्मना विशेषाधिकार नहीं होने चाहिए। किसी भी व्यक्ति की सामाजिक हैसियत का आधार उसकी योग्यता ही होनी चाहिए। स्वतंत्रता, समान नियमों तथा समान अवसरों के विचार पर आधारित समाज की यह परिकल्पना जॉन लॉक और ज़्याँ ज़ाक रूसो जैसे दार्शनिकों ने प्रस्तुत की थी। अपने *टू ट्रीटाइज़ेज़ ऑफ़ गवर्नमेंट* में

लॉक ने राजा के दैवी और निरंकुश अधिकारों के सिद्धांत का खंडन किया था। रूसो ने इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए जनता और उसके प्रतिनिधियों के बीच एक सामाजिक अनुबंध पर आधारित सरकार का प्रस्ताव रखा। मॉन्तेस्क्यू ने द *स्पिरिट ऑफ़* द *लॉज़* नामक रचना में सरकार के अंदर विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच सत्ता विभाजन की बात कही। जब संयुक्त राज्य अमेरिका में 13 उपनिवेशों ने ब्रिटेन से खुद को आज़ाद घोषित कर दिया तो वहाँ इसी मॉडल की सरकार बनी। फ़्रांस के राजनीतिक चिंतकों के लिए अमेरिकी संविधान और उसमें दी गई व्यक्तिगत अधिकारों की गारंटी प्रेरणा का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत थी।

दार्शनिकों के इन विचारों पर कॉफ़ी हाउसों व सैलॉन की गोष्ठियों में गर्मागर्म बहस हुआ करती और पुस्तकों एवं अखबारों के माध्यम से इनका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। पुस्तकों एवं अखबारों को लोगों के बीच ज़ोर से पढ़ा जाता ताकि अनपढ़ भी उन्हें समझ सकें। इसी समय लुई XVI द्वारा राज्य के खर्चों को पूरा करने के लिए फिर से कर लगाये जाने की खबर से विशेषाधिकार वाली व्यवस्था के विरुद्ध गुस्सा भड़क उठा।

स्रोत क

प्राचीन राजतंत्र में हुए अनुभवों का वृत्तांत

1. आगे चलकर क्रांतिकारी राजनीति में सक्रिय होने वाले जॉर्ज दान्तन ने अपनी पढ़ाई पूरी होने के बाद के समय को याद करते हुए सन् 1793 में अपने एक मित्र को लिखा :

   'मैं प्लेसिस के आवासीय कॉलेज में था। वहाँ मुझे कई महत्त्वपूर्ण लोगों का सान्निध्य मिला...। पढ़ाई पूरी होने के बाद बेकारी के दिनों में मैं नौकरी की तलाश में जुट गया। पेरिस के न्यायालय में नौकरी मिलनी असंभव थी। सेना में नौकरी का विकल्प भी मेरे लिए नहीं था क्योंकि मैं न तो जन्मजात कुलीन था और न ही मेरा कोई संरक्षक था। चर्च भी मुझे आसरा नहीं दे सका। मैं कोई ओहदा भी खरीदने की स्थिति में नहीं था क्योंकि मेरी जेब में एक सू (फ़्रांसीसी पैसा) तक नहीं था। पुराने दोस्तों ने भी मुँह मोड़ लिया था। ... व्यवस्था ने हमें पढ़ा-लिखा तो दिया था लेकिन हमारी प्रतिभा के इस्तेमाल के अवसर उपलब्ध नहीं कराए थे।'

2. आर्थर यंग नाम के एक अंग्रेज़ ने सन् 1787-1789 के दौरान फ़्रांस की यात्रा की और अपनी यात्रा का विस्तृत वृत्तांत लिखा। इस वृत्तांत में उसकी यह टिप्पणी दिलचस्प है :

   'सेवा-टहल में लगे अपने गुलामों, खासतौर पर उनके साथ बुरा व्यवहार करने वाले को पता होना चाहिए कि इस तरह वह अपनी ज़िंदगी को ऐसी स्थिति में डाल रहा है जो उस स्थिति से बिल्कुल भिन्न होती जिसमें उसने मुक्त लोगों की सेवाएँ ली होतीं और उनसे बेहतर बर्ताव करता। जो अपने पीड़ितों की कराह सुनते हुए भोज उड़ाना पसंद करते हैं उन्हें दंगे के दौरान अपनी बेटी के अपहरण या बेटे का गला रेत दिए जाने का दुखड़ा नहीं रोना चाहिए।'

स्रोत

क्रियाकलाप

यहाँ यंग क्या संदेश देने की कोशिश कर रहे हैं? 'गुलामों' से उनका क्या आशय है? वह किसकी आलोचना कर रहे हैं? सन् 1787 में उन्हें किन खतरों का आभास होता है?

2 क्रांति की शुरुआत

पिछले भाग में आप देख चुके हैं कि किन कारणों से लुई XVI ने कर बढ़ा दिए थे। क्या आप सोच सकते हैं कि उसने ऐसा कैसे किया होगा? प्राचीन राजतंत्र के तहत फ़्रांसीसी सम्राट अपनी मर्ज़ी से कर नहीं लगा सकता था। इसके लिए उसे एस्टेट्स जेनराल (प्रतिनिधि सभा) की बैठक बुला कर नए करों के अपने प्रस्तावों पर मंज़ूरी लेनी पड़ती थी। एस्टेट्स जेनराल एक राजनीतिक संस्था थी जिसमें तीनों एस्टेट अपने-अपने प्रतिनिधि भेजते थे। लेकिन सम्राट ही यह निर्णय करता था कि इस संस्था की बैठक कब बुलाई जाए। इसकी अंतिम बैठक सन् 1614 में बुलाई गई थी।

फ़्रांसीसी सम्राट लुई XVI ने 5 मई 1789 को नये करों के प्रस्ताव के अनुमोदन के लिए एस्टेट्स जेनराल की बैठक बुलाई। प्रतिनिधियों की मेज़बानी के लिए वर्साय के एक आलीशान भवन को सजाया गया। पहले और दूसरे एस्टेट ने इस बैठक में अपने 300-300 प्रतिनिधि भेजे जो आमने-सामने की कतारों में बिठाए गए। तीसरे एस्टेट के 600 प्रतिनिधि उनके पीछे खड़े किए गए। तीसरे एस्टेट का प्रतिनिधित्व इसके अपेक्षाकृत समृद्ध एवं शिक्षित वर्ग कर रहे थे। किसानों, औरतों एवं कारीगरों का सभा में प्रवेश वर्जित था। फिर भी लगभग 40,000 पत्रों के माध्यम से उनकी शिकायतों एवं माँगों की सूची बनाई गई, जिसे प्रतिनिधि अपने साथ लेकर आए थे।

एस्टेट्स जेनराल के नियमों के अनुसार प्रत्येक वर्ग को एक मत देने का अधिकार था। इस बार भी लुई XVI इसी प्रथा का पालन करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था। परंतु तीसरे वर्ग के प्रतिनिधियों ने माँग रखी कि अबकी बार पूरी सभा द्वारा मतदान कराया जाना चाहिए, जिसमें प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार होगा। यह एक लोकतांत्रिक सिद्धांत था जिसे मिसाल के तौर पर रूसो ने अपनी पुस्तक द *सोशल कॉन्ट्रैक्ट* में प्रस्तुत किया था। जब सम्राट ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया तो तीसरे एस्टेट के प्रतिनिधि विरोध जताते हुए सभा से बाहर चले गए।

तीसरे एस्टेट के प्रतिनिधि खुद को संपूर्ण फ़्रांसीसी राष्ट्र का प्रवक्ता मानते थे। 20 जून को ये प्रतिनिधि वर्साय के इन्डोर टेनिस कोर्ट में जमा हुए। उन्होंने अपने आप को नैशनल असेंबली घोषित कर दिया और शपथ ली कि जब तक सम्राट की शक्तियों को कम करने वाला संविधान तैयार नहीं किया जाएगा तब तक असेंबली भंग नहीं होगी। उनका नेतृत्व **मिराब्यो** और **आबे सिए** ने किया। मिराब्यो का जन्म कुलीन परिवार में हुआ था लेकिन वह सामंती विशेषाधिकारों वाले समाज को खत्म करने की ज़रूरत से सहमत था। उसने एक पत्रिका निकाली और वर्साय में जुटी भीड़ के समक्ष ज़ोरदार भाषण भी दिए। आबे सिए मूलतः पादरी था और उसने 'तीसरा एस्टेट क्या है?' शीर्षक से एक अत्यंत प्रभावशाली प्रचार-पुस्तिका (पैम्फ़्लेट) लिखी।

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

1774

लुई XVI फ़्रांस का राजा बनता है। सरकारी खज़ाना खाली हो चुका है और प्राचीन राजतंत्र के समाज में असंतोष गहराता जा रहा है।

1789

एस्टेट्स जेनराल का आह्वान। तृतीय एस्टेट नैशनल असेंबली का गठन करता है। बास्तील पर हमला, देहात में किसानों का विद्रोह।

1791

सम्राट की शक्तियों पर अंकुश लगाने और सभी मनुष्यों को मूलभूत अधिकार प्रदान करने के लिए संविधान बनाया जाता है।

1792-93

फ़्रांस गणराज्य बनता है; सिर काट कर राजा को मार दिया जाता है।
जैकोबिन गणराज्य का पतन; फ़्रांस पर डिरेक्ट्री का शासन।

1804

नेपोलियन फ़्रांस का सम्राट बनता है; यूरोप के विशाल भूभाग पर कब्ज़ा कर लेता है।

1815

वॉटरलू में नेपोलियन की हार।

क्रियाकलाप

तृतीय एस्टेट के प्रतिनिधि मध्य में एक मेज़ पर खड़े असेंबली अध्यक्ष बेयली की ओर हाथ उठाकर शपथ लेते हैं। क्या आप मानते हैं कि उस समय बेयली निर्वाचित प्रतिनिधियों की ओर पीठ करके खड़ा रहा होगा? बेयली को इस तरह दर्शाने (चित्र 5) के पीछे डेविड का क्या इरादा प्रतीत होता है?

चित्र 5 - टेनिस कोर्ट में शपथ .
एक विशाल पेंटिंग के लिए ज़ाक-लुई डेविड द्वारा बनाया गया शुरुआती रेखांकन। यह तस्वीर नैशनल असेंबली में लगाई जानी थी।

जिस वक्त नैशनल असेंबली संविधान का प्रारूप तैयार करने में व्यस्त थी, पूरा फ़्रांस आंदोलित हो रहा था। कड़ाके की ठंड के कारण फ़सल मारी गई थी और पावरोटी की कीमतें आसमान छू रही थीं। बेकरी मालिक स्थिति का फ़ायदा उठाते हुए जमाखोरी में जुटे थे। बेकरी की दुकानों पर घंटों के इंतज़ार के बाद गुस्सायी औरतों की भीड़ ने दुकान पर धावा बोल दिया। दूसरी तरफ़ सम्राट ने सेना को पेरिस में प्रवेश करने का आदेश दे दिया था। क्रुद्ध भीड़ ने 14 जुलाई को बास्तील पर धावा बोलकर उसे नेस्तनाबूद कर दिया।

देहाती इलाकों में गाँव-गाँव यह अफ़वाह फैल गई कि जागीरों के मालिकों ने भाड़े पर लठैतों-लुटेरों के गिरोह बुला लिए हैं जो पकी फ़सलों को तबाह करने निकल पड़े हैं। कई ज़िलों में भय से आक्रांत होकर किसानों ने कुदालों और बेलचों से ग्रामीण किलों (chateau) पर आक्रमण कर दिए। उन्होंने अन्न भंडारों को लूट लिया और लगान संबंधी दस्तावेज़ों को जलाकर राख कर दिया। कुलीन बड़ी संख्या में अपनी जागीरें छोड़कर भाग गए, बहुतों ने तो पड़ोसी देशों में जाकर शरण ली।

अपनी विद्रोही प्रजा की शक्ति का अनुमान करके, लुई XVI ने अंततः नैशनल असेंबली को मान्यता दे दी और यह भी मान लिया कि उसकी सत्ता पर अब से संविधान का अंकुश होगा। 4 अगस्त, 1789 की रात को असेंबली ने करों, कर्त्तव्यों और बंधनों वाली सामंती व्यवस्था के उन्मूलन का आदेश पारित किया। पादरी वर्ग के लोगों को भी अपने विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए विवश किया गया। धार्मिक कर समाप्त कर दिया गया और चर्च के स्वामित्व वाली भूमि ज़ब्त कर ली गई। इस प्रकार कम से कम 20 अरब लिव्रे की संपत्ति सरकार के हाथ में आ गई।

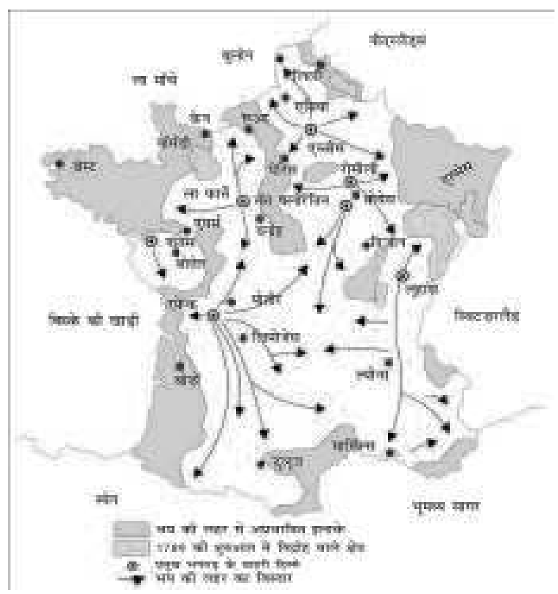

चित्र 6 - भय की लहर का प्रसार .
मानचित्र से पता चलता है कि किस तरह किसानों के जत्थे एक जगह से दूसरी जगह फैलते चले गए।

2.1 फ़्रांस संवैधानिक राजतंत्र बन गया

नैशनल असेंबली ने सन् 1791 में संविधान का प्रारूप पूरा कर लिया। इसका मुख्य उद्देश्य था—सम्राट की शक्तियों को सीमित करना। एक व्यक्ति के हाथ में केंद्रीकृत होने के बजाय अब इन शक्तियों को विभिन्न संस्थाओं—विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका—में विभाजित एवं हस्तांतरित कर दिया गया। इस प्रकार फ़्रांस में संवैधानिक राजतंत्र की नींव पड़ी। चित्र 7 दिखाता है कि नयी राजनीतिक व्यवस्था कैसे काम करती थी।

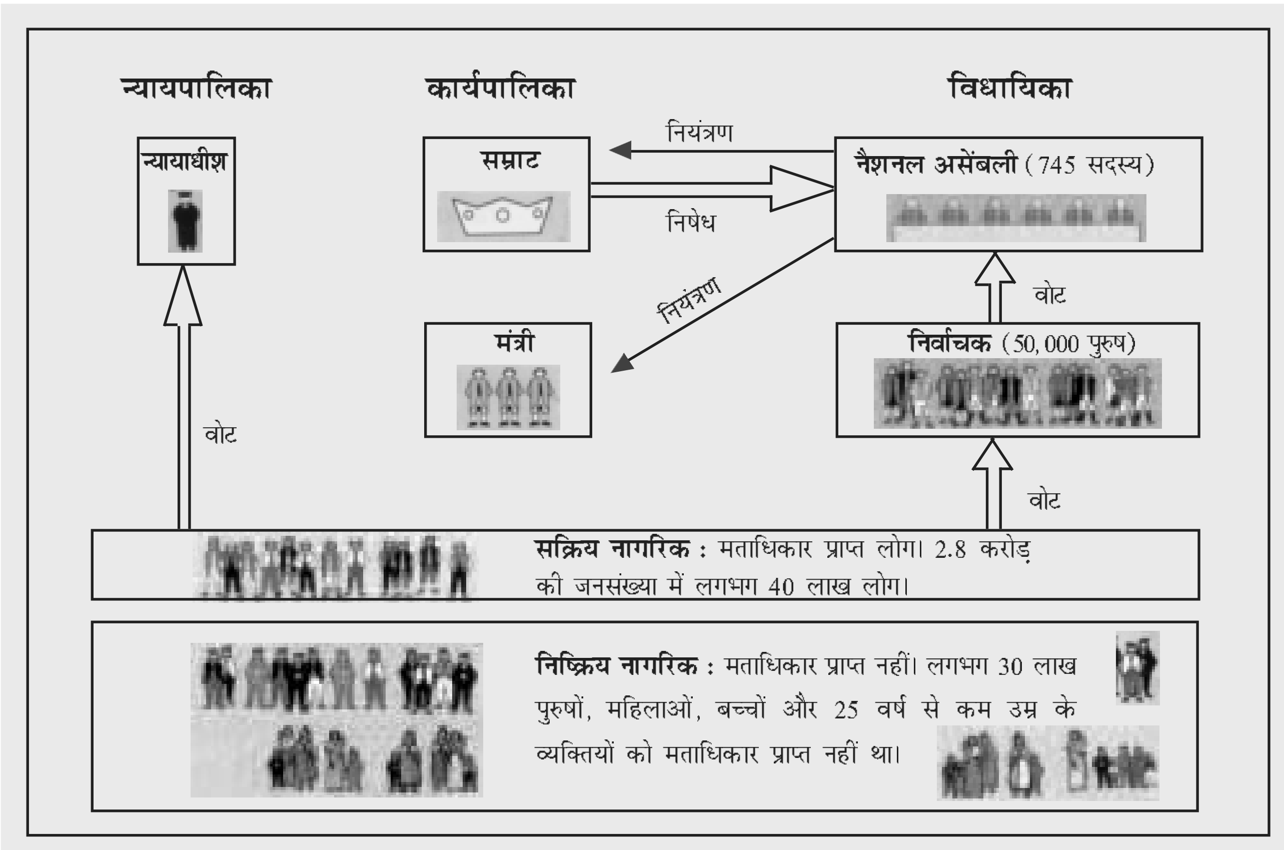

चित्र 7 - 1791 के संविधान के अंतर्गत राजनीतिक व्यवस्था.

सन् 1791 के संविधान ने कानून बनाने का अधिकार नैशनल असेंबली को सौंप दिया। नैशनल असेंबली अप्रत्यक्ष रूप से चुनी जाती थी। सर्वप्रथम नागरिक एक निर्वाचक समूह का चुनाव करते थे, जो पुनः असेंबली के सदस्यों को चुनते थे। सभी नागरिकों को मतदान का अधिकार नहीं था। 25 वर्ष से अधिक उम्र वाले केवल ऐसे पुरुषों को ही सक्रिय नागरिक (जिन्हें मत देने का अधिकार था) का दर्जा दिया गया था, जो कम-से-कम तीन दिन की मज़दूरी के बराबर कर चुकाते थे। शेष पुरुषों और महिलाओं को निष्क्रिय नागरिक के रूप में वर्गीकृत किया गया था। निर्वाचक की योग्यता प्राप्त करने तथा असेंबली का सदस्य होने के लिए लोगों का करदाताओं की उच्चतम श्रेणी में होना ज़रूरी था।

चित्र 8 – 'पुरुष एवं नागरिक अधिकार घोषणापत्र' का 1790 में ले बार्बियें द्वारा बनाया गया चित्र। दायीं ओर की आकृति फ़्रांस को और बायीं ओर की कानून को निरूपित करती है।

संविधान 'पुरुष एवं नागरिक अधिकार घोषणापत्र' के साथ शुरू हुआ था। जीवन के अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार और कानूनी बराबरी के अधिकार को 'नैसर्गिक एवं अहरणीय' अधिकार के रूप में स्थापित किया गया अर्थात् ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को जन्मना प्राप्त थे और इन अधिकारों को छीना नहीं जा सकता। राज्य का यह कर्त्तव्य माना गया कि वह प्रत्येक नागरिक के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करे।

स्रोत ख

क्रांतिकारी पत्रकार ज़्याँ-पॉल मरा (Jean-Paul Marat) ने अपने अखबार *लामि द पप्ल* (जनता का मित्र) में नैशनल असेंबली द्वारा तैयार किए गए संविधान पर यह टिप्पणी की थी :

'जनता के प्रतिनिधित्व का कार्यभार अमीरों को सौंप दिया गया है ... गरीबों और शोषितों की दशा केवल शांतिपूर्ण तरीकों से कभी नहीं सुधर सकती। यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि धनाढ्य वर्ग कानून को कैसे प्रभावित करता है। फिर भी ये कानून तभी तक चलेंगे जब तक लोग इन्हें मानेंगे। जिस तरह उन्होंने कुलीनों द्वारा लादे गए जुए को उतार फेंका है एक दिन वही हश्र अमीरों का करेंगे।'

समाचारपत्र *लामि द पप्ल* से उद्धृत।

स्रोत ग

पुरुष एवं नागरिक अधिकार घोषणापत्र

1. आदमी स्वतंत्र पैदा होते हैं, स्वतंत्र रहते हैं और उनके अधिकार समान होते हैं।
2. हरेक राजनीतिक संगठन का लक्ष्य आदमी के नैसर्गिक एवं अहरणीय अधिकारों को संरक्षित रखना है। ये अधिकार हैं – स्वतंत्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा एवं शोषण के प्रतिरोध का अधिकार।
3. समग्र संप्रभुता का स्रोत राज्य में निहित है; कोई भी समूह या व्यक्ति ऐसा अनाधिकार प्रयोग नहीं करेगा जिसे जनता की सत्ता की स्वीकृति न मिली हो।
4. स्वतंत्रता का आशय ऐसे काम करने की शक्ति से है जो औरों के लिए नुकसानदेह न हो।
5. समाज के लिए किसी भी हानिकारक कृत्य पर पाबंदी लगाने का अधिकार कानून के पास है।
6. कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। सभी नागरिकों को व्यक्तिगत रूप से या अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से इसके निर्माण में भाग लेने का अधिकार है। कानून की नज़र में सभी नागरिक समान हैं।
7. कानूनसम्मत प्रक्रिया के बाहर किसी भी व्यक्ति को न तो दोषी ठहराया जा सकता है और न ही गिरफ़्तार अथवा नज़रबंद किया जा सकता है।
11. प्रत्येक नागरिक बोलने, लिखने और छापने के लिए आज़ाद है। लेकिन कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के तहत ऐसी स्वतंत्रता के दुरुपयोग की ज़िम्मेदारी भी उसी की होगी।
12. सार्वजनिक सेना तथा प्रशासन के खर्चे चलाने के लिए एक सामान्य कर लगाना अपरिहार्य है। सभी नागरिकों पर उनकी आय के अनुसार समान रूप से कर लगाया जाना चाहिए।
17. चूँकि संपत्ति का अधिकार एक पावन एवं अनुलंघनीय अधिकार है, अत: किसी भी व्यक्ति को इससे वंचित नहीं किया जा सकता है, जब तक कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के तहत सार्वजनिक आवश्यकता के लिए संपत्ति का अधिग्रहण करना आवश्यक न हो। ऐसे मामले में अग्रिम मुआवज़ा ज़रूर दिया जाना चाहिए।

बॉक्स 1

राजनीतिक प्रतीकों के मायने

अठारहवीं सदी में ज़्यादातर स्त्री-पुरुष पढ़े-लिखे नहीं थे। इसलिए महत्त्वपूर्ण विचारों का प्रचार करने के लिए छपे हुए शब्दों के बजाय अकसर आकृतियों एवं प्रतीकों का प्रयोग किया जाता था। ले बार्बिये ने अपनी पेंटिंग (चित्र 8) में अधिकारों के घोषणापत्र को लोगों तक पहुँचाने के लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया। आइए, इन प्रतीकों को समझने की कोशिश करें।

टूटी हुई ज़ंजीर : दासों को बाँधने के लिए ज़ंजीरों का प्रयोग होता था। टूटी हुई हथकड़ी उनकी आज़ादी का प्रतीक है।

छड़ों का बर्छीदार गट्ठर : अकेली छड़ को आसानी से तोड़ा जा सकता है पर पूरे गट्ठर को नहीं। एकता में ही बल है।

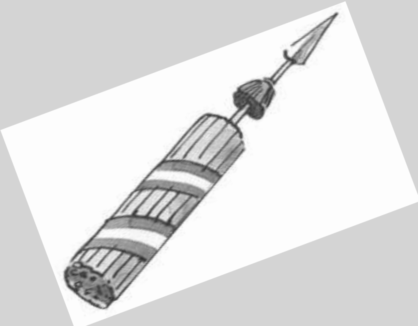

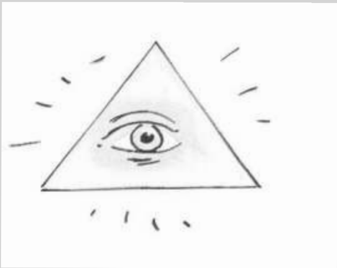

त्रिभुज के अंदर रोशनी बिखेरती आँख : सर्वदर्शी आँख ज्ञान का प्रतीक है। सूर्य की किरणें अज्ञान रूपी अंधेरे को मिटा देंगी।

राजदंड : शाही सत्ता का प्रतीक।

अपनी पूँछ मुँह में लिए साँप : सनातनता का प्रतीक। अँगूठी का कोई ओर-छोर नहीं होता।

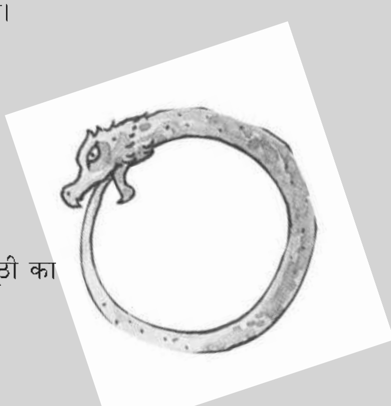

लाल फ्राइजियन टोपी : दासों द्वारा स्वतंत्र होने के बाद पहनी जाने वाली टोपी।

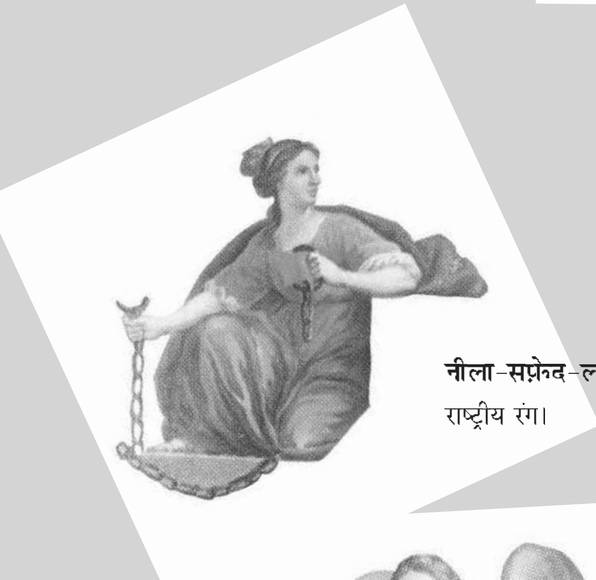

नीला-सफ़ेद-लाल : फ़्रांस के राष्ट्रीय रंग।

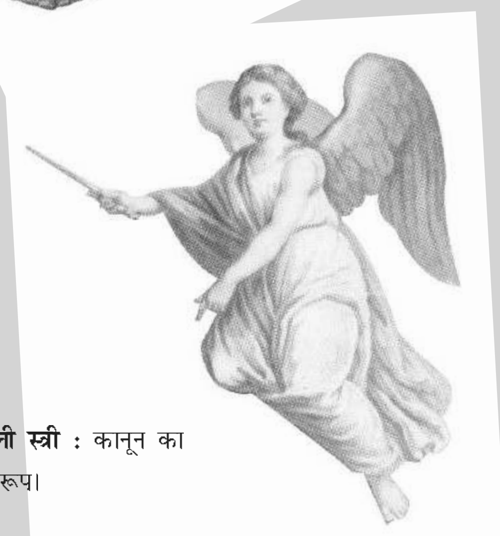

डैनों वाली स्त्री : कानून का मानवीय रूप।

विधि पट : कानून सबके लिए समान है और उसकी नज़र में सब बराबर हैं।

क्रियाकलाप

1. बॉक्स 1 में स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व के प्रतीकों की पहचान करें।
2. ले बार्बिये के 'पुरुष एवं नागरिक अधिकार घोषणापत्र' (चित्र 8) में चित्रित प्रतीकों की व्याख्या करें।
3. 1791 के संविधान में नागरिकों को दिए गए राजनीतिक अधिकारों के घोषणापत्र (स्रोत ग) के अनुच्छेद 1 एवं 6 में दिए गए अधिकारों से तुलना करें। क्या दोनों दस्तावेज़ एक-दूसरे के अनुरूप हैं? क्या दोनों दस्तावेज़ों से एक ही विचार का बोध होता है?
4. 1791 के संविधान से फ़्रांसीसी समाज के कौन-से समूह लाभान्वित हुए होते? किन समूहों को इससे असंतोष हो सकता था? मरा ने भविष्य के बारे में कौन-से पूर्वानुमान (स्रोत ख) लगाए थे?
5. फ़्रांस की घटनाओं से निरंकुश राजतंत्र वाले प्रशा, ऑस्ट्रिया, हंगरी या स्पेन आदि देशों पर पड़ने वाले प्रभावों की कल्पना कीजिए। फ़्रांस में हो रही घटनाओं की खबरों पर राजाओं, व्यापारियों, किसानों, कुलीनों एवं पादरियों ने कैसी प्रतिक्रिया दी होगी?

3 फ़्रांस में राजतंत्र का उन्मूलन और गणतंत्र की स्थापना

फ़्रांस की स्थिति आने वाले वर्षों में भी तनावपूर्ण बनी रही। यद्यपि लुई XVI ने संविधान पर हस्ताक्षर कर दिए थे, परन्तु प्रशा के राजा से उसकी गुप्त वार्ता भी चल रही थी। फ़्रांस की घटनाओं से अन्य पड़ोसी देशों के शासक भी चिंतित थे। इसलिए 1789 की गर्मियों के बाद होने वाली ऐसी घटनाओं को नियंत्रित करने के लिए इन शासकों ने सेना भेजने की योजना बना ली थी। लेकिन जब तक इस योजना पर अमल होता, अप्रैल 1792 में नैशनल असेंबली ने प्रशा एवं ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा का प्रस्ताव पारित कर दिया। प्रांतों से हज़ारों स्वयंसेवी सेना में भर्ती होने के लिए जमा होने लगे। उन्होंने इस युद्ध को यूरोपीय राजाओं एवं कुलीनों के विरुद्ध जनता की जंग के रूप में लिया। उनके होठों पर देशभक्ति के जो तराने थे उनमें कवि रॉजेट दि लाइल द्वारा रचित *मार्सिले* भी था। यह गीत पहली बार *मार्सिलेस* के स्वयंसेवियों ने पेरिस की ओर कूच करते हुए गाया था। इसलिए इस गाने का नाम मार्सिले हो गया जो अब फ़्रांस का राष्ट्रगान है।

क्रांतिकारी युद्धों से जनता को भारी क्षति एवं आर्थिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। पुरुषों के मोर्चे पर चले जाने के बाद घर-परिवार और रोज़ी-रोटी की ज़िम्मेवारी औरतों के कंधों पर आ पड़ी। देश की आबादी के एक बड़े हिस्से को ऐसा लगता था कि क्रांति के सिलसिले को आगे बढ़ाने की ज़रूरत है क्योंकि 1791 के संविधान से सिर्फ़ अमीरों को ही राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए थे। लोग राजनीतिक क्लबों में अड्डे जमा कर सरकारी नीतियों और अपनी कार्ययोजना पर बहस करते थे। इनमें से जैकोबिन क्लब सबसे सफल था, जिसका नाम पेरिस के भूतपूर्व **कॉन्वेंट** ऑफ़ सेंट जेकब के नाम पर पड़ा, जो अब इस राजनीतिक समूह का अड्डा बन गया था। इस पूरी अवधि में महिलाएँ भी सक्रिय थीं और उन्होंने भी अपने क्लब बना लिए। इस अध्याय के खण्ड 4 में आप उनकी गतिविधियों एवं माँगों के बारे में और जानेंगे।

जैकोबिन क्लब के सदस्य मुख्यत: समाज के कम समृद्ध हिस्से से आते थे। इनमें छोटे दुकानदार और कारीगर—जैसे जूता बनाने वाले, पेस्ट्री बनाने वाले, घड़ीसाज़, छपाई करने वाले और नौकर व दिहाड़ी मज़दूर शामिल थे। उनका नेता मैक्समिलियन रोबेस्प्येर था। जैकोबिनों के एक बड़े वर्ग ने गोदी कामगारों की तरह धारीदार लंबी पतलून पहनने का निर्णय किया। ऐसा उन्होंने समाज के फ़ैशनपरस्त वर्ग, खासतौर से घुटने तक पहने जाने वाले ब्रीचेस (घुटन्ना) पहनने वाले कुलीनों से खुद को अलग करने के लिए किया। यह ब्रीचेस पहनने वाले कुलीनों की सत्ता समाप्ति के एलान का उनका तरीका था।

नए शब्द

कॉन्वेंट : धार्मिक जीवन को समर्पित समूह की इमारत।

चित्र 9 - सौं कुलॉत (बिना ब्रीचेस वाले) दंपत्ति.

चित्र 10 **– नानीन वालैं,** ***लिबर्टी (स्वतंत्रता).***
यह किसी महिला कलाकार द्वारा रचित दुर्लभ चित्रों में से एक है। क्रांतिकारी घटनाक्रम के बाद महिलाओं के लिए यह संभव हो गया कि वे स्थापित चित्रकारों के साथ प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें और हर दो साल में लगने वाली सैलॉन नामक नुमाइश में अपने चित्रों को प्रदर्शित कर सकें। यह तस्वीर स्वतंत्रता का नारी रूपक है अर्थात् नारी-आकृति स्वतंत्रता का प्रतीक है।

क्रियाकलाप

इस चित्र को ध्यान से देखें और उन वस्तुओं की सूची बनाएँ जिन्हें आपने राजनीतिक प्रतीकों के रूप में बॉक्स 1 में देखा है (लाल टोपी, टूटी हुई ज़ंजीर, छड़ों का बर्छीदार गट्ठर, अधिकारों का घोषणापत्र)। पिरामिड समानता का प्रतीक है जिसे अकसर एक त्रिभुज के रूप में दिखाया जाता था। इन प्रतीकों की सहायता से इस चित्र की व्याख्या करें। स्वतंत्रता की प्रतिमूर्ति इस महिला मूर्ति के बारे में आपके क्या विचार हैं।

इसलिए जैकोबिनों को 'सौं कुलॉत' के नाम से जाना गया जिसका शाब्दिक अर्थ होता है – बिना घुटन्ने वाले। सौं कुलॉत पुरुष लाल रंग की टोपी भी पहनते थे जो स्वतंत्रता का प्रतीक थी। लेकिन महिलाओं को ऐसा करने की अनुमति नहीं थी।

सन् 1792 की गर्मियों में जैकोबिनों ने खाद्य पदार्थों की महँगाई एवं अभाव से नाराज़ पेरिसवासियों को लेकर एक विशाल हिंसक विद्रोह की योजना बनायी। 10 अगस्त की सुबह उन्होंने ट्यूलेरिए के महल पर धावा बोल दिया, राजा के रक्षकों को मार डाला और खुद राजा को कई घंटों तक बंधक बनाये रखा। बाद में असेंबली ने शाही परिवार को जेल में डाल देने का प्रस्ताव पारित किया। नये चुनाव कराये गए। 21 वर्ष से अधिक उम्र वाले सभी पुरुषों – चाहे उनके पास संपत्ति हो या नहीं – को मतदान का अधिकार दिया गया।

नवनिर्वाचित असेंबली को कन्वेंशन का नाम दिया गया। 21 सितंबर 1792 को इसने राजतंत्र का अंत कर दिया और फ्रांस को एक गणतंत्र घोषित किया। जैसा कि आप जानते हैं, गणतंत्र सरकार का वह रूप है जहाँ सरकार एवं उसके प्रमुख का चुनाव जनता करती है। यह वंशानुगत राजशाही नहीं है। आप कुछ अन्य गणतांत्रिक देशों के बारे में जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करें और देखें कि वे कब और कैसे गणतंत्र बने।

लुई XVI को न्यायालय द्वारा **देशद्रोह** के आरोप में मौत की सज़ा सुना दी गई। 21 जनवरी 1793 को प्लेस डी लॉ कॉन्कॉर्ड में उसे सार्वजनिक रूप से फाँसी दे दी गई। जल्द ही रानी मेरी एन्तोएनेत का भी वही हश्र हुआ।

नए शब्द

देशद्रोह : अपने देश या सरकार से विश्वासघात करना।

3.1 आतंक राज

सन् 1793 से 1794 तक के काल को आतंक का युग कहा जाता है। रोबेस्प्येर ने नियंत्रण एवं दंड की सख्त नीति अपनाई। उसके हिसाब से गणतंत्र के जो भी शत्रु थे - कुलीन एवं पादरी, अन्य राजनीतिक दलों के सदस्य, उसकी कार्यशैली से असहमति रखने वाले पार्टी सदस्य - उन सभी को गिरफ़्तार कर जेल में डाल दिया गया और एक क्रांतिकारी न्यायालय द्वारा उन पर मुकदमा चलाया गया। यदि न्यायालय उन्हें 'दोषी' पाता तो गिलोटिन पर चढ़ाकर उनका सिर कलम कर दिया जाता था। गिलोटिन दो खंभों के बीच लटकते आरे वाली मशीन था जिस पर रख कर अपराधी का सिर धड़ से अलग कर दिया जाता था। इस मशीन का नाम इसके आविष्कारक डॉ. गिलोटिन के नाम पर पड़ा।

रोबेस्प्येर सरकार ने कानून बना कर मज़दूरी एवं कीमतों की अधिकतम सीमा तय कर दी। गोश्त एवं पावरोटी की राशनिंग कर दी गई। किसानों को अपना अनाज शहरों में ले जाकर सरकार द्वारा तय कीमत पर बेचने के लिए बाध्य किया गया। अपेक्षाकृत महँगे सफ़ेद आटे के इस्तेमाल पर रोक लगा दी गई। सभी नागरिकों के लिए साबुत गेहूँ से बनी और बराबरी का प्रतीक मानी जाने वाली, 'समता रोटी' खाना अनिवार्य कर दिया गया। बोलचाल और संबोधन में भी बराबरी का आचार-व्यवहार लागू करने की कोशिश की गई। परंपरागत मॉन्स्यूर (महाशय) एवं मदाम (महोदया) के स्थान पर अब सभी फ़्रांसीसी पुरुषों एवं महिलाओं को सितोयेन (नागरिक) एवं सितोयीन (नागरिका) नाम से संबोधित किया जाने लगा। चर्चों को बंद कर दिया गया और उनके भवनों को बैरक या दफ़्तर बना दिया गया।

रोबेस्प्येर ने अपनी नीतियों को इतनी सख्ती से लागू किया कि उसके समर्थक भी त्राहि-त्राहि करने लगे। अंततः जुलाई 1794 में न्यायालय द्वारा उसे दोषी ठहराया गया और गिरफ़्तार करके अगले ही दिन उसे गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया।

क्रियाकलाप

डेस्मॉलिन्स और रोबेस्प्येर के विचारों की तुलना करें। राज्य-शक्ति के प्रयोग से दोनों का क्या तात्पर्य है? 'निरंकुशता के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई' से रोबेस्प्येर का क्या मतलब है? डेस्मॉलिन्स स्वतंत्रता को कैसे देखता है? एक बार फिर स्रोत ग देखें। व्यक्तिगत अधिकारों के बारे में संविधान में कौन-से प्रावधान थे? इस विषय पर अपनी कक्षा में चर्चा करें।

स्रोत घ

स्वतंत्रता (लिबर्टी) क्या है ? दो परस्पर विरोधी विचार :

क्रांतिकारी पत्रकार कैमिल डेस्मॉलिन्स ने सन् 1793 में यह लिखा। इसके कुछ ही दिनों बाद आतंक राज के दौरान उसे फाँसी दे दी गई

'कुछ लोगों का मानना है कि स्वतंत्रता एक शिशु के समान है जिसे परिपक्व होने तक अनुशासन की अवस्था से गुज़रना आवश्यक है। पर सत्य कुछ और है। स्वतंत्रता सुख-शांति है, विवेक है, समानता एवं न्याय है, यह अधिकारों का घोषणापत्र है...। आप शायद अपने सभी दुश्मनों का सिर काट देना चाहते हैं। क्या इससे बड़ी मूर्खता हो सकती है? क्या किसी एक व्यक्ति को, उसके दसियों सगे-संबंधियों को दुश्मन बनाये बिना फाँसी के तख्ते तक लाना संभव है?

7 फ़रवरी 1794 को रोबेस्प्येर ने कन्वेंशन में भाषण दिया जो *ल मोनीतेर यूनिवर्सेल* अखबार में छपा। उसी भाषण का एक अंश : 'लोकतंत्र को स्थापित और सुदृढ़ करने के लिए, संविधान सम्मत शांतिपूर्ण शासन के लिए हमें सबसे पहले अत्याचारी निरंकुशता के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई को अंतिम परिणति तक पहुँचाना होगा... गणतंत्र के घरेलू एवं बाहरी दुश्मनों का विनाश करना आवश्यक है अन्यथा हम खुद नष्ट हो जाएँगे। क्रांति के दौर में लोकतांत्रिक सरकार आतंक का सहारा ले सकती है। आतंक बस कठोर, तुरंता और अनम्य न्याय है... जिसका प्रयोग पितृभूमि की अत्यावश्यक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए किया ही जाएगा। आतंक के ज़रिए स्वतंत्रता के दुश्मनों पर अंकुश लगाना गणतंत्र के संस्थापक का अधिकार है।'

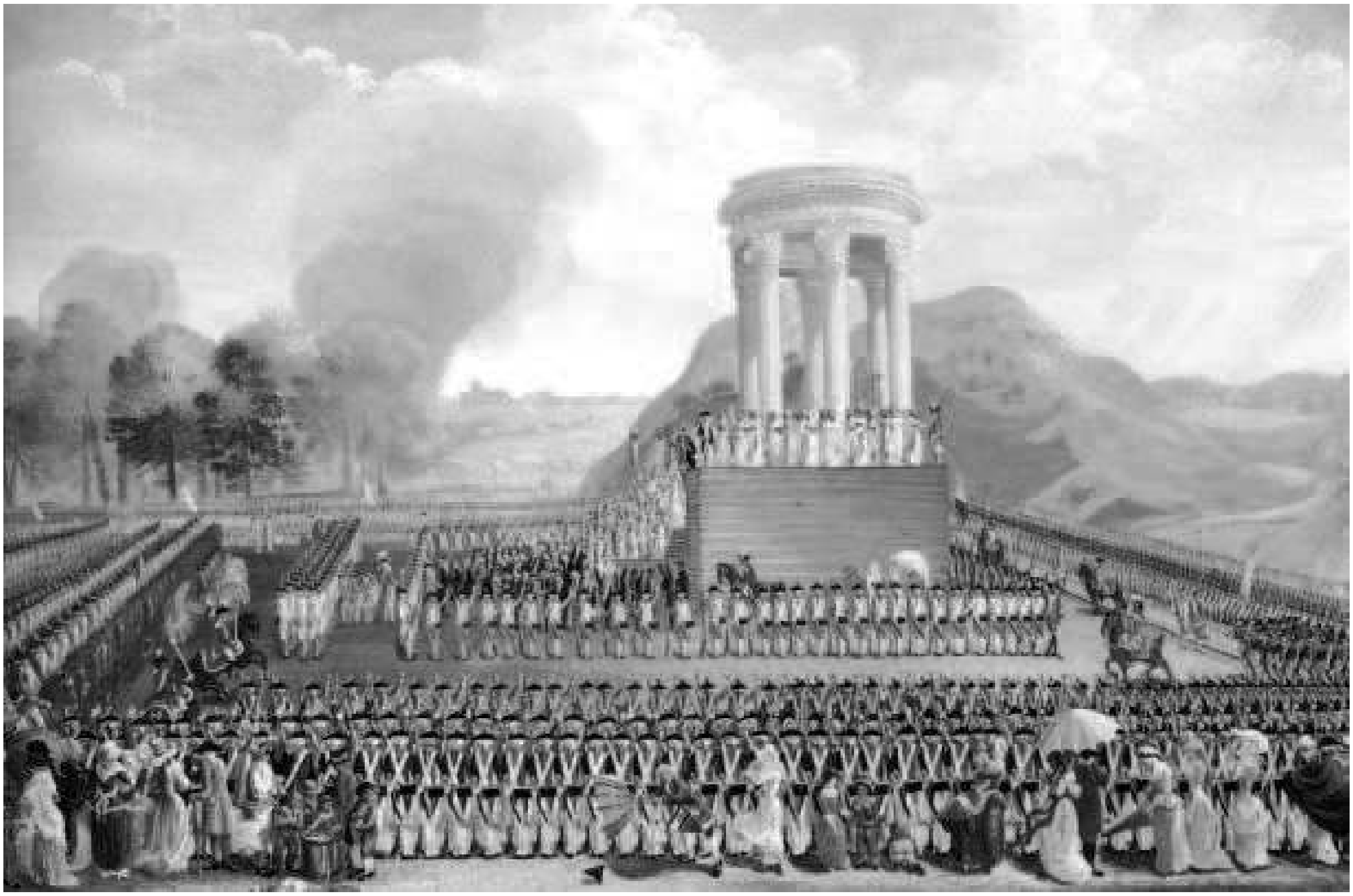

चित्र 11 – क्रांतिकारी सरकार ने अनेक प्रकार से जनता की वफ़ादारी हासिल करनी चाही – उनमें से एक इस प्रकार के उत्सवों का आयोजन था। एक गौरवमय इतिहास की आभा को संप्रेषित करने के लिए प्राचीन यूनान व रोम की सभ्यताओं के प्रतीकों का इस्तेमाल किया गया। मंच के बीचोंबीच बने पायों पर टिका हुआ क्लासिकी मंडप अस्थायी सामग्री का बना था जिसे जब चाहे तोड़ा जा सकता था।

3.2 डिरेक्ट्री शासित फ़्रांस

जैकोबिन सरकार के पतन के बाद मध्य वर्ग के संपन्न तबके के पास सत्ता आ गई। नए संविधान के तहत सम्पत्तिहीन तबके को मताधिकार से वंचित कर दिया गया। इस संविधान में दो चुनी गई विधान परिषदों का प्रावधान था। इन परिषदों ने पाँच सदस्यों वाली एक कार्यपालिका – डिरेक्ट्री – को नियुक्त किया। इस प्रावधान के ज़रिए जैकोबिनों के शासनकाल वाली एक व्यक्ति-केंद्रित कार्यपालिका से बचने की कोशिश की गई। लेकिन, डिरेक्टरों का झगड़ा अकसर विधान परिषदों से होता और तब परिषद् उन्हें बर्खास्त करने की चेष्टा करती। डिरेक्ट्री की राजनीतिक अस्थिरता ने सैनिक तानाशाह – नेपोलियन बोनापार्ट – के उदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

सरकार के स्वरूप में इन सभी परिवर्तनों के दौरान स्वतंत्रता, विधिसम्मत समानता और बंधुत्व प्रेरक आदर्श बने रहे। इन मूल्यों ने आगामी सदी में न सिर्फ़ फ़्रांस बल्कि बाकी यूरोप के राजनीतिक आंदोलनों को भी प्रेरित किया।

क्रियाकलाप

यहाँ चित्रित जनसमूह, उनकी वेशभूषा, भूमिका एवं क्रियाकलाप का वर्णन करें। इस चित्र से क्रांतिकारी उत्सव की कैसी छवि बनती है?

4 क्या महिलाओं के लिए भी क्रांति हुई?

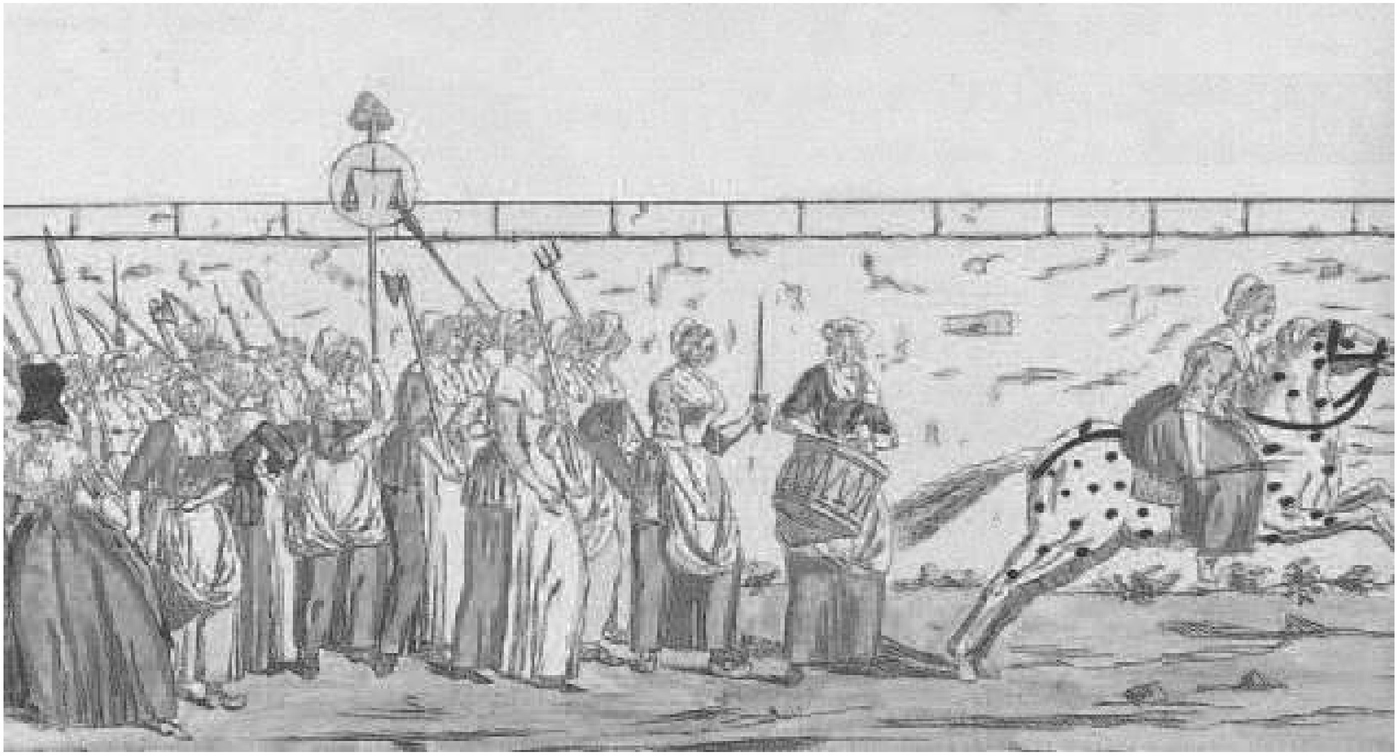

चित्र 12 – वर्साय की ओर कूच करती पेरिस की औरतें.
यह चित्र 5 अक्टूबर 1789 की घटनाओं के कई चित्रों में से एक है। उस दिन महिलाएँ पेरिस से वर्साय जाकर राजा को अपने साथ लेकर लौटी थीं।

महिलाएँ शुरू से ही फ़्रांसीसी समाज में इतने अहम परिवर्तन लाने वाली गतिविधियों में सक्रिय रूप से शामिल थीं। उन्हें उम्मीद थी कि उनकी भागीदारी क्रांतिकारी सरकार को उनका जीवन सुधारने हेतु ठोस कदम उठाने के लिए प्रेरित करेगी। तीसरे एस्टेट की अधिकांश महिलाएँ जीविका निर्वाह के लिए काम करती थीं। वे सिलाई-बुनाई, कपड़ों की धुलाई करती थीं, बाज़ारों में फल-फूल-सब्ज़ियाँ बेचती थीं अथवा संपन्न घरों में घरेलू काम करती थीं। बहुत सारी महिलाएँ वेश्यावृत्ति करती थीं। अधिकांश महिलाओं के पास पढ़ाई-लिखाई तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के मौके नहीं थे। केवल कुलीनों की लड़कियाँ अथवा तीसरे एस्टेट के धनी परिवारों की लड़कियाँ ही कॉन्वेंट में पढ़ पाती थीं, इसके बाद उनकी शादी कर दी जाती थी। कामकाजी महिलाओं को अपने परिवार का पालन-पोषण भी करना पड़ता था—जैसे खाना पकाना, पानी लाना, लाइन लगा कर पावरोटी लाना और बच्चों की देख-रेख आदि करना। उनकी मज़दूरी पुरुषों की तुलना में कम थी।

महिलाओं ने अपने हितों की हिमायत करने और उन पर चर्चा करने के लिए खुद के राजनीतिक क्लब शुरू किए और अखबार निकाले। फ़्रांस के विभिन्न नगरों में महिलाओं के लगभग 60 क्लब अस्तित्व में आए। उनमें

क्रियाकलाप

चित्र 12 में अंकित औरतों, उनकी क्रियाओं, उनके हाव-भाव एवं उनके हाथ की वस्तुओं का विवरण दें। गौर से देखें कि क्या वे सभी एक ही सामाजिक वर्ग की लगती हैं? चित्रकार ने इस आकृति में किन प्रतीकों को शामिल किया है? इन प्रतीकों के क्या मायने हैं? क्या महिलाओं को देखकर लगता है कि वे सार्वजनिक रूप से वही कर रही हैं जिसकी उनसे उम्मीद की जाती थी? आप क्या सोचते हैं : चित्रकार महिलाओं के साथ है या उनके विरोध में खड़ा है? कक्षा में अपनी राय पर विचार-विमर्श कीजिए।

'द सोसाइटी ऑफ़ रेवलूशनरी एंड रिपब्लिकन विमेन' सबसे मशहूर क्लब था। उनकी एक प्रमुख माँग यह थी कि महिलाओं को पुरुषों के समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। महिलाएँ इस बात से निराश हुईं कि 1791 के संविधान में उन्हें निष्क्रिय नागरिक का दर्जा दिया गया था। महिलाओं ने मताधिकार, असेंबली के लिए चुने जाने तथा राजनीतिक पदों की माँग रखी। उनका मानना था कि तभी नई सरकार में उनके हितों का प्रतिनिधित्व हो पाएगा।

प्रारंभिक वर्षों में क्रांतिकारी सरकार ने महिलाओं के जीवन में सुधार लाने वाले कुछ कानून लागू किए। सरकारी विद्यालयों की स्थापना के साथ ही सभी लड़कियों के लिए स्कूली शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया। अब पिता उन्हें उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ शादी के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे। शादी को स्वैच्छिक अनुबंध माना गया और नागरिक कानूनों के तहत उनका पंजीकरण किया जाने लगा। तलाक को कानूनी रूप दे दिया गया और मर्द-औरत दोनों को ही इसकी अर्ज़ी देने का अधिकार दिया गया। अब महिलाएँ व्यावसायिक प्रशिक्षण ले सकती थीं, कलाकार बन सकती थीं और छोटे-मोटे व्यवसाय चला सकती थीं।

फिर भी, राजनीतिक अधिकारों के लिए महिलाओं का संघर्ष जारी रहा। आतंक राज के दौरान सरकार ने महिला क्लबों को बंद करने और उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाने वाला कानून लागू किया। कई जानी-मानी महिलाओं को गिरफ़्तार कर लिया गया और उनमें से कुछ को फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

मताधिकार और समान वेतन के लिए महिलाओं का आंदोलन अगली सदी में भी अनेक देशों में चलता रहा। मताधिकार का संघर्ष उन्नीसवीं सदी के अंत एवं बीसवीं सदी के प्रारंभ तक अंतर्राष्ट्रीय मताधिकार आंदोलन के ज़रिए जारी रहा। क्रांतिकारी आंदोलन के दौरान फ़्रांसीसी महिलाओं की राजनीतिक सरगर्मियों को प्रेरक स्मृति के रूप में ज़िंदा रखा गया। अंततः सन् 1946 में फ़्रांस की महिलाओं ने मताधिकार हासिल कर लिया।

स्रोत च

क्रांतिकारी महिला ओलम्प दे गूज़ (1748-1793) का जीवन

ओलम्प दे गूज़ क्रांतिकालीन फ़्रांस की राजनीतिक रूप से सक्रिय महिलाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण थीं। उन्होंने संविधान तथा 'पुरुष एवं नागरिक अधिकार घोषणापत्र' का विरोध किया क्योंकि उसमें महिलाओं को मानव मात्र के मूलभूत अधिकारों से वंचित रखा गया था। इसलिए उन्होंने सन् 1791 में 'महिला एवं नागरिक अधिकार घोषणापत्र' तैयार किया जिसे महारानी और नैशनल असेंबली के सदस्यों के पास यह माँग करते हुए भेजा कि इस पर कार्रवाई की जाए। सन् 1793 में ओलम्प दे गूज़ ने महिला क्लबों को ज़बर्दस्ती बंद कर देने के लिए जैकोबिन सरकार की आलोचना की। उन पर नैशनल कन्वेंशन द्वारा देशद्रोह का मुकदमा चलाया गया। इसके तुरंत बाद उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया।

स्रोत छ

ओलम्प दे गूज़ के *घोषणापत्र* में उल्लिखित कुछ मूलभूत अधिकार

1. औरत जन्मना स्वतंत्र है और अधिकारों में पुरुष के समान है।
2. सभी राजनीतिक संगठनों का लक्ष्य पुरुष एवं महिला के नैसर्गिक अधिकारों को संरक्षित करना है। ये अधिकार हैं – स्वतंत्रता, संपत्ति, सुरक्षा और सबसे बढ़कर शोषण के प्रतिरोध का अधिकार।
3. समग्र संप्रभुता का स्रोत राष्ट्र में निहित है जो पुरुषों एवं महिलाओं के संघ के सिवाय कुछ नहीं है।
4. कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। सभी महिला एवं पुरुष नागरिकों का या तो व्यक्तिगत रूप से या अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से विधि-निर्माण में दखल होना चाहिए। यह सभी के लिए समान होना चाहिए। सभी महिला एवं पुरुष नागरिक अपनी योग्यता एवं प्रतिभा के बल पर समान रूप से एवं बिना किसी भेदभाव के हर तरह के सम्मान व सार्वजनिक पद के हकदार हैं।
5. कोई भी महिला अपवाद नहीं है। वह विधिसम्मत प्रक्रिया द्वारा अपराधी ठहरायी जा सकती है, गिरफ्तार और नज़रबंद की जा सकती है। पुरुषों की तरह महिलाएँ भी इस कठोर कानून का पालन करें।

क्रियाकलाप

ओलम्प दे गूज़ द्वारा तैयार किए गए घोषणापत्र (स्रोत छ) तथा 'पुरुष एवं नागरिक अधिकार घोषणापत्र' (स्रोत ग) की तुलना करें।

चित्र 13 - बेकरी की दुकान पर कतार में महिलाएँ.

क्रियाकलाप

कल्पना करें कि आप चित्र 13 की कोई महिला हैं और शोमेत (स्रोत ज) के तर्कों का जवाब दें।

स्रोत ज

सन् 1793 में जैकोबिन राजनीतिज्ञ शोमेत ने इन आधारों पर महिला क्लबों को बंद करने के निर्णय को उचित ठहराया :

'क्या प्रकृति ने घरेलू कार्य पुरुषों को सौंपा है?
क्या प्रकृति ने बच्चों को दूध पिलाने के लिए हमें स्तन दिए हैं?
नहीं।
प्रकृति ने पुरुष से कहा :
पुरुष बनो। शिकार, कृषि, राजनीतिक कर्त्तव्य ... यह तुम्हारा साम्राज्य है।
प्रकृति ने महिला से कहा :
स्त्री बनो ... गृहस्थी के काम, मातृत्व के सुखद दायित्व – यही तुम्हारे कार्य हैं।
पुरुष बनने की इच्छा रखने वाली महिलाएँ निर्लज्ज हैं। क्या ज़िम्मेदारियों का उचित बँटवारा हो नहीं चुका है?'

5 दास-प्रथा का उन्मूलन

फ़्रांसीसी उपनिवेशों में दास-प्रथा का उन्मूलन जैकोबिन शासन के क्रांतिकारी सामाजिक सुधारों में से एक था। कैरिबिआई उपनिवेश—मार्टिनिक, गॉडेलोप और सैन डोमिंगों—तम्बाकू, नील, चीनी एवं कॉफ़ी जैसी वस्तुओं के महत्त्वपूर्ण आपूर्तिकर्ता थे। अपरिचित एवं दूर देश जाने और काम करने के प्रति यूरोपियों की अनिच्छा का मतलब था—बागानों में श्रम की कमी। इस कमी को यूरोप, अफ़्रीका एवं अमेरिका के बीच त्रिकोणीय दास-व्यापार द्वारा पूरा किया गया। दास-व्यापार सत्रहवीं शताब्दी में शुरू हुआ। फ़्रांसीसी सौदागर बोर्दे या नान्ते बन्दरगाह से अफ़्रीका तट पर जहाज़ ले जाते थे, जहाँ वे स्थानीय सरदारों से दास खरीदते थे। दासों को दाग कर एवं हथकड़ियाँ डाल कर अटलांटिक महासागर के पार कैरिबिआई देशों तक तीन माह की लंबी समुद्री-यात्रा के लिए जहाज़ों में ठूँस दिया जाता था। वहाँ उन्हें बागान-मालिकों को बेच दिया जाता था। दास-श्रम के बल पर यूरोपीय बाज़ारों में चीनी, कॉफ़ी एवं नील की बढ़ती माँग को पूरा करना संभव हुआ। बोर्दे और नान्ते जैसे बंदरगाह फलते-फूलते दास-व्यापार के कारण ही समृद्ध नगर बन गए।

अठारहवीं सदी में फ़्रांस में दास-प्रथा की ज्यादा निंदा नहीं हुई। नैशनल असेंबली में लंबी बहस हुई कि व्यक्ति के मूलभूत अधिकार उपनिवेशों में रहने वाली प्रजा सहित समस्त फ़्रांसीसी प्रजा को प्रदान किए जाएँ या नहीं। परन्तु दास-व्यापार पर निर्भर व्यापारियों के विरोध के भय से नैशनल असेंबली में कोई कानून पारित नहीं किया गया। लेकिन अंततः सन् 1794 के कन्वेंशन ने फ़्रांसीसी उपनिवेशों में सभी दासों की मुक्ति का कानून पारित कर दिया। पर यह कानून एक छोटी-सी अवधि तक ही लागू रहा। दस वर्ष बाद नेपोलियन ने दास-प्रथा पुनः शुरू कर दी। बागान-मालिकों को अपने आर्थिक हित साधने के लिए अफ़्रीकी **नीग्रो** लोगों को गुलाम बनाने की स्वतंत्रता मिल गयी। फ़्रांसीसी उपनिवेशों से अंतिम रूप से दास-प्रथा का उन्मूलन 1848 में किया गया।

चित्र 14 – दासमुक्ति.
सन् 1794 के इस चित्र में दासों की मुक्ति का विवरण है। शीर्ष पर तिरंगे बैनर का नारा है – 'मनुष्य के अधिकार'। नीचे अभिलेख कहता है – 'गुलामों की मुक्ति'। एक फ़्रांसीसी महिला अफ़्रीकी एवं अमेरिकी-इंडियन दासों को यूरोपीय कपड़े देकर उन्हें 'सभ्य' बनाने की चेष्टा कर रही है।

नए शब्द

नीग्रो : अफ़्रीका में सहारा रेगिस्तान के दक्षिण में रहने वाले स्थानीय लोग। यह अपमानजनक शब्द है, जिसका अब प्रायः इस्तेमाल नहीं किया जाता।

6 क्रांति और रोज़ाना की ज़िंदगी

क्या राजनीति लोगों का पहनावा, उनकी बोलचाल अथवा उनके द्वारा पढ़ी जानेवाली पुस्तकों को बदल सकती है? सन् 1789 से बाद के वर्षों में फ़्रांस के पुरुषों, महिलाओं एवं बच्चों के जीवन में ऐसे अनेक परिवर्तन आए। क्रांतिकारी सरकारों ने कानून बना कर स्वतंत्रता एवं समानता के आदर्शों को रोज़ाना की ज़िंदगी में उतारने का प्रयास किया।

बास्तील के विध्वंस के बाद सन् 1789 की गर्मियों में जो सबसे महत्त्वपूर्ण कानून अस्तित्व में आया, वह था – सेंसरशिप की समाप्ति। प्राचीन राजतंत्र के अंतर्गत तमाम लिखित सामग्री और सांस्कृतिक गतिविधियों—किताब, अखबार, नाटक—को राजा के सेंसर अधिकारियों द्वारा पास किए जाने के बाद ही प्रकाशित या मंचित किया जा सकता था। परंतु अब अधिकारों के घोषणापत्र ने भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को नैसर्गिक अधिकार घोषित कर दिया। परिणामस्वरूप फ़्रांस के शहरों में अखबारों, पर्चों, पुस्तकों एवं छपी हुई तस्वीरों की बाढ़ आ गई जहाँ से वह तेज़ी से गाँव-देहात तक जा पहुँची। उनमें फ़्रांस में घट रही घटनाओं एवं परिवर्तनों का ब्यौरा और उन पर टिप्पणी होती थी। प्रेस की स्वतंत्रता का मतलब यह था कि किसी भी घटना पर परस्पर विरोधी विचार भी व्यक्त किए जा सकते थे। प्रिंट माध्यम का उपयोग करके एक पक्ष ने दूसरे पक्ष को अपने दृष्टिकोण से सहमत कराने की कोशिश की। नाटक, संगीत और उत्सवी जुलूसों में असंख्य लोग जाने लगे। स्वतंत्रता और न्याय के बारे में राजनीतिज्ञों व दार्शनिकों के पांडित्यपूर्ण लेखन को समझने और उससे जुड़ने का यह लोकप्रिय तरीका था क्योंकि किताबों को पढ़ना तो मुट्ठी भर शिक्षितों के लिए ही संभव था।

क्रियाकलाप

इस चित्र का अपने शब्दों में वर्णन करें। चित्रकार ने लोभ, समानता, न्याय, राज्य द्वारा चर्च की सम्पत्ति का अधिग्रहण आदि विचारों को संप्रेषित करने के लिए किन प्रतीकों का सहारा लिया है?

चित्र 15 – देशभक्त कसरती दाब-मशीन, जिसका इस्तेमाल मोटापा घटाने के लिए किया जा सकता था .
अज्ञात चित्रकार द्वारा बनाया गया 1790 का यह चित्र न्याय के विचार को व्यवहार में बदलना चाहता है।

चित्र 16 – मरा जनता को संबोधित करते हुए। लुई लियोपोल्ड बॉइली रचित चित्र.
इस अध्याय से मरा के बारे में आपको क्या याद है? उसके इर्द-गिर्द मौजूद दृश्य का वर्णन कीजिए तथा उसकी लोकप्रियता के बारे में समझाइए। किसी सैलॉन में आने वाले विभिन्न वर्ग के लोगों पर इस पेंटिंग की क्या प्रतिक्रिया होती होगी?

सारांश

1804 में नेपोलियन बोनापार्ट ने खुद को फ़्रांस का सम्राट घोषित कर दिया। उसने पड़ोस के यूरोपीय देशों की विजय यात्रा शुरू की। पुराने राजवंशों को हटा कर उसने नए साम्राज्य बनाए और उनकी बागडोर अपने खानदान के लोगों के हाथ में दे दी। नेपोलियन खुद को यूरोप के आधुनिकीकरण का अग्रदूत मानता था। उसने निजी संपत्ति की सुरक्षा के कानून बनाए और दशमलव पद्धति पर आधारित नाप-तौल की एक समान प्रणाली चलायी। शुरू-शुरू में बहुत सारे लोगों को नेपालियन मुक्तिदाता लगता था और उससे जनता को स्वतंत्रता दिलाने की उम्मीद थी। पर जल्दी ही उसकी सेनाओं को लोग हमलावर मानने लगे। आखिरकार 1815 में वॉटरलू में उसकी हार हुई। यूरोप के बाकी हिस्सों में मुक्ति और आधुनिक कानूनों को फैलाने वाले उसके क्रांतिकारी उपायों का असर उसकी मृत्यु के काफ़ी समय बाद सामने आया।

चित्र 17 – आल्प्स पार करता नेपोलियन। डेविड द्वारा बनाया गया चित्र.

स्वतंत्रता और जनवादी अधिकारों के विचार फ़्रांसीसी क्रांति की सबसे महत्त्वपूर्ण विरासत थे। ये विचार उन्नीसवीं सदी में फ़्रांस से निकल कर बाकी यूरोप में फैले और इनके कारण वहाँ सामंती व्यवस्था का नाश हुआ। औपनिवेशिक समाजों ने संप्रभु राष्ट्र-राज्य की स्थापना के अपने आंदोलनों में दासता से मुक्ति के विचार को नयी परिभाषा दी। टीपू सुल्तान और राजा राममोहन रॉय क्रांतिकारी फ़्रांस में उपजे विचारों से प्रेरणा लेने वाले दो ठोस उदाहरण थे।

बॉक्स 2

राजा राममोहन रॉय उस समय यूरोप में फैल रहे नए विचारों से प्रभावित होने वालों में से एक थे। फ़्रांसीसी क्रांति और बाद में जुलाई क्रांति ने उनकी कल्पना को नई धार दी।

'फ़्रांस में 1830 में हुई जुलाई क्रांति के बारे में जानने के बाद वह और किसी चीज़ के बारे में बात ही नहीं करते थे। हालाँकि एक दुर्घटना के कारण वे उन दिनों लंगड़ा कर चलते थे लेकिन इंग्लैंड जाते हुए केपटाऊन में वह ज़िद करने लगे कि उन्हें क्रांतिकारी तिरंगे झंडे वाले युद्धपोत दिखाए जाएँ।'

सुशोभन सरकार, *नोट्स ऑन द बंगाल रेनेसाँ,* 1946।

क्रियाकलाप

1. इस अध्याय में आपने जिन क्रांतिकारी व्यक्तियों के बारे में पढ़ा है उनमें से किसी एक के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठा करें। उस व्यक्ति की संक्षिप्त जीवनी लिखें।
2. फ़्रांसीसी क्रांति के दौरान ऐसे अखबारों का जन्म हुआ जिनमें हर दिन और हर हफ़्ते की घटनाओं का ब्यौरा दिया जाता था। किसी एक घटना के बारे में जानकारियाँ और तस्वीरें इकट्ठा करें तथा अखबार के लिए एक लेख लिखें। आप चाहें तो मिराब्यो, ओलम्प दे गूज़ या रोबेस्प्येर के साथ काल्पनिक साक्षात्कार भी कर सकते हैं। दो या तीन का समूह बना लें। हर समूह फ़्रांसीसी क्रांति पर एक दीवार पत्रिका बना कर बोर्ड पर लटकाए।

क्रियाकलाप

प्रश्न

?

1. फ़्रांस में क्रांति की शुरुआत किन परिस्थितियों में हुई?
2. फ़्रांसीसी समाज के किन तबकों को क्रांति का फ़ायदा मिला? कौन-से समूह सत्ता छोड़ने के लिए मजबूर हो गए? क्रांति के नतीजों से समाज के किन समूहों को निराशा हुई होगी?
3. उन्नीसवीं और बीसवीं सदी की दुनिया के लिए फ़्रांसीसी क्रांति कौन-सी विरासत छोड़ गई?
4. उन जनवादी अधिकारों की सूची बनाएँ जो आज हमें मिले हुए हैं और जिनका उद्गम फ़्रांसीसी क्रांति में है।
5. क्या आप इस तर्क से सहमत हैं कि सार्वभौमिक अधिकारों के संदेश में नाना अंतर्विरोध थे?
6. नेपोलियन के उदय को कैसे समझा जा सकता है?

यूरोप में समाजवाद एवं रूसी क्रांति

1 सामाजिक परिवर्तन का युग

पिछले अध्याय में आपने फ़्रांसीसी क्रांति के बाद यूरोप में फैलते जा रहे स्वतंत्रता और समानता के शक्तिशाली विचारों के बारे में पढ़ा। फ़्रांसीसी क्रांति ने सामाजिक संरचना के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन की संभावनाओं का सूत्रपात कर दिया था। जैसा कि आप पढ़ चुके हैं, अठारहवीं सदी से पहले फ़्रांस का समाज मोटे तौर पर एस्टेट्स और श्रेणियों में बँटा हुआ था। समाज की आर्थिक और सामाजिक सत्ता पर कुलीन वर्ग और चर्च का नियंत्रण था। लेकिन क्रांति के बाद इस संरचना को बदलना संभव दिखाई देने लगा। यूरोप और एशिया सहित दुनिया के बहुत सारे हिस्सों में व्यक्तिगत अधिकारों के स्वरूप और सामाजिक सत्ता पर किसका नियंत्रण हो – इस पर चर्चा छिड़ गई। भारत में भी राजा राममोहन रॉय और डेरोज़ियो ने फ़्रांसीसी क्रांति के महत्त्व का उल्लेख किया। और भी बहुत सारे लोग क्रांति पश्चात यूरोप की स्थितियों के बारे में चल रही बहस में कूद पड़े। आगे चलकर उपनिवेशों में घटी घटनाओं ने भी इन विचारों को एक नया रूप प्रदान करने में योगदान दिया।

मगर यूरोप में भी सभी लोग आमूल समाज परिवर्तन के पक्ष में नहीं थे। इस सवाल पर सबकी अलग-अलग राय थी। बहुत सारे लोग बदलाव के लिए तो तैयार थे लेकिन वह चाहते थे कि यह बदलाव धीरे-धीरे हो। एक खेमा मानता था कि समाज का आमूल पुनर्गठन ज़रूरी है। कुछ 'रुढ़िवादी' (Conservatives) थे तो कुछ 'उदारवादी' (Liberals) या 'आमूल परिवर्तनवादी' (Radical, रैडिकल) समाधानों के पक्ष में थे। उस समय के संदर्भ में इन शब्दों का क्या मतलब था? राजनीति की इन धाराओं में क्या फ़र्क थे और कौन-कौन सी बातें थीं जो समान थीं? यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि इन शब्दों का अर्थ हर काल और परिवेश में एक ही नहीं होता।

इस अध्याय में हम उन्नीसवीं शताब्दी की कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परंपराओं का अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि उन्होंने परिवर्तन के संदर्भ में क्या असर डाला। इसके बाद हम एक ऐसी ऐतिहासिक घटना पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे जिसमें समाज के रैडिकल पुनर्गठन का एक गंभीर प्रयास किया गया। रूस में हुई क्रांति के फलस्वरूप समाजवाद बीसवीं सदी का स्वरूप तय करने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली विचारों की श्रृंखला का हिस्सा बन गया।

1.1 उदारवादी, रैडिकल और रुढ़िवादी

समाज परिवर्तन के समर्थकों में एक समूह उदारवादियों का था। उदारवादी ऐसा राष्ट्र चाहते थे जिसमें सभी धर्मों को बराबर का सम्मान और जगह मिले। शायद

आप जानते होंगे कि उस समय यूरोप के देशों में प्राय: किसी एक धर्म को ही ज़्यादा महत्व दिया जाता था (ब्रिटेन की सरकार चर्च ऑफ़ इंग्लैंड का समर्थन करती थी, ऑस्ट्रिया और स्पेन, कैथलिक चर्च के समर्थक थे)। उदारवादी समूह वंश-आधारित शासकों की अनियंत्रित सत्ता के भी विरोधी थे। वे सरकार के समक्ष व्यक्ति मात्र के अधिकारों की रक्षा के पक्षधर थे। उनका कहना था कि सरकार को किसी के अधिकारों का हनन करने या उन्हें छीनने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। यह समूह प्रतिनिधित्व पर आधारित एक ऐसी निर्वाचित सरकार के पक्ष में था जो शासकों और अफ़सरों के प्रभाव से मुक्त और सुप्रशिक्षित न्यायपालिका द्वारा स्थापित किए गए कानूनों के अनुसार शासन-कार्य चलाए। पर यह समूह 'लोकतंत्रवादी' (Democrat) नहीं था। ये लोग सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार यानी सभी नागरिकों को वोट का अधिकार देने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि वोट का अधिकार केवल संपत्तिधारियों को ही मिलना चाहिए।

इसके विपरीत रैडिकल समूह के लोग ऐसी सरकार के पक्ष में थे जो देश की आबादी के बहुमत के समर्थन पर आधारित हो। इनमें से बहुत सारे लोग महिला **मताधिकार आंदोलन** के भी समर्थक थे। उदारवादियों के विपरीत ये लोग बड़े ज़मींदारों और संपन्न उद्योगपतियों को प्राप्त किसी भी तरह के विशेषाधिकारों के खिलाफ़ थे। वे निजी संपत्ति के विरोधी नहीं थे लेकिन केवल कुछ लोगों के पास संपत्ति के संकेंद्रण का विरोध ज़रूर करते थे।

रुढ़िवादी तबका रैडिकल और उदारवादी, दोनों के खिलाफ़ था। मगर फ़्रांसीसी क्रांति के बाद तो रुढ़िवादी भी बदलाव की ज़रूरत को स्वीकार करने लगे थे। पुराने समय में, यानी अठारहवीं शताब्दी में रुढ़िवादी आमतौर पर परिवर्तन के विचारों का विरोध करते थे। लेकिन उन्नीसवीं सदी तक आते-आते वे भी मानने लगे थे कि कुछ परिवर्तन आवश्यक हो गया है परंतु वह चाहते थे कि अतीत का सम्मान किया जाए अर्थात् अतीत को पूरी तरह ठुकराया न जाए और बदलाव की प्रक्रिया धीमी हो।

फ़्रांसीसी क्रांति के बाद पैदा हुई राजनीतिक उथल-पुथल के दौरान सामाजिक परिवर्तन पर केंद्रित इन विविध विचारों के बीच काफ़ी टकराव हुए। उन्नीसवीं सदी में क्रांति और राष्ट्रीय कायांतरण की विभिन्न कोशिशों ने इन सभी राजनीतिक धाराओं की सीमाओं और संभावनाओं को स्पष्ट कर दिया।

1.2 औद्योगिक समाज और सामाजिक परिवर्तन

ये राजनीतिक रुझान एक नए युग का द्योतक थे। यह दौर गहन सामाजिक एवं आर्थिक बदलावों का था। यह ऐसा समय था जब नए शहर बस रहे थे, नए-नए औद्योगिक क्षेत्र विकसित हो रहे थे, रेलवे का काफी विस्तार हो चुका था और औद्योगिक क्रांति संपन्न हो चुकी थी।

औद्योगीकरण ने औरतों-आदमियों और बच्चों, सबको कारखानों में ला दिया। काम के घंटे यानी पाली बहुत लंबी होती थी और मज़दूरी बहुत कम थी। बेरोज़गारी आम समस्या थी। औद्योगिक वस्तुओं की माँग में गिरावट आ

नए शब्द

मताधिकार आंदोलन : वोट डालने का अधिकार पाने के लिए चलाया गया आंदोलन।

चित्र 1 - उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में लंदन के गरीबों की दशा उसी समय के एक व्यक्ति की दृष्टि से.
स्रोत : हेनरी मेह्यू, लंदन लेबर ऐन्ड लंदन पुअर, 1861

जाने पर तो बेरोज़गारी और बढ़ जाती थी। शहर तेज़ी से बसते और फैलते जा रहे थे इसलिए आवास और साफ़-सफ़ाई का काम भी मुश्किल होता जा रहा था। उदारवादी और रैडिकल, दोनों ही इन समस्याओं का हल खोजने की कोशिश कर रहे थे।

लगभग सभी उद्योग व्यक्तिगत स्वामित्व में थे। बहुत सारे रैडिकल और उदारवादियों के पास भी काफी संपत्ति थी और उनके यहाँ बहुत सारे लोग नौकरी करते थे। उन्होंने व्यापार या औद्योगिक व्यवसायों के ज़रिए धन-दौलत इकट्ठा की थी इसलिए वह चाहते थे कि इस तरह के प्रयासों को ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ावा दिया जाए। उन्हें लगता था कि अगर मज़दूर स्वस्थ हों और नागरिक पढ़े-लिखे हों, तो इस व्यवस्था का भरपूर लाभ लिया जा सकता है। ये लोग जन्मजात मिलने वाले विशेषाधिकारों के विरुद्ध थे। व्यक्तिगत प्रयास, श्रम और उद्यमशीलता में उनका गहरा विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि यदि हरेक को व्यक्तिगत स्वतंत्रता दी जाए, गरीबों को रोज़गार मिले, और जिनके पास पूँजी है उन्हें बिना रोक-टोक काम करने का मौका दिया जाए तो समाज तरक्की कर सकता है। इसी कारण उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में समाज परिवर्तन के इच्छुक बहुत सारे कामकाजी स्त्री-पुरुष उदारवादी और रैडिकल समूहों व पार्टियों के इर्द-गिर्द गोलबंद हो गए थे।

यूरोप में 1815 में जिस तरह की सरकारें बनीं उनसे छुटकारा पाने के लिए कुछ राष्ट्रवादी, उदारवादी और रैडिकल आंदोलनकारी क्रांति के पक्ष में थे। फ़्रांस, इटली, जर्मनी और रूस में ऐसे लोग क्रांतिकारी हो गए और राजाओं के तख्तापलट का प्रयास करने लगे। राष्ट्रवादी कार्यकर्ता क्रांति के ज़रिए ऐसे 'राष्ट्रों' की स्थापना करना चाहते थे जिनमें सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हों। 1815 के बाद इटली के राष्ट्रवादी गिसेप्पे मेज़िनी ने यही लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अपने समर्थकों के साथ मिलकर राजा के खिलाफ़ साज़िश रची थी। भारत सहित दुनिया भर के राष्ट्रवादी उसकी रचनाओं को पढ़ते थे।

1.3 यूरोप में समाजवाद का आना

समाज के पुनर्गठन की संभवत: सबसे दूरगामी दृष्टि प्रदान करने वाली विचारधारा समाजवाद ही थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यूरोप में समाजवाद एक जाना-पहचाना विचार था। उसकी तरफ़ बहुत सारे लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा था।

समाजवादी निजी संपत्ति के विरोधी थे। यानी, वे संपत्ति पर निजी स्वामित्व को सही नहीं मानते थे। उनका कहना था कि संपत्ति के निजी स्वामित्व की व्यवस्था ही सारी समस्याओं की जड़ है। वे ऐसा क्यों मानते थे? उनका तर्क था कि बहुत सारे लोगों के पास संपत्ति तो है जिससे दूसरों को रोज़गार भी मिलता है लेकिन समस्या यह है कि संपत्तिधारी व्यक्ति को सिर्फ़ अपने फ़ायदे से ही मतलब रहता है; वह उनके बारे में नहीं सोचता जो उसकी संपत्ति को उत्पादनशील बनाते हैं। इसलिए, अगर संपत्ति पर किसी एक व्यक्ति के बजाय पूरे समाज का नियंत्रण हो तो साझा सामाजिक हितों पर ज़्यादा अच्छी तरह ध्यान दिया जा सकता है। समाजवादी इस तरह का बदलाव चाहते थे और इसके लिए उन्होंने बड़े पैमाने पर अभियान चलाया।

कोई समाज संपत्ति के बिना कैसे चल सकता है? समाजवादी समाज का आधार क्या होगा?

समाजवादियों के पास भविष्य की एक बिल्कुल भिन्न दृष्टि थी। कुछ समाजवादियों को कोऑपरेटिव यानी सामूहिक उद्यम के विचार में दिलचस्पी थी। इंग्लैंड के जाने-माने उद्योगपति रॉबर्ट ओवेन (1771-1858) ने इंडियाना (अमेरिका) में नया समन्वय (New Harmony) के नाम से एक नये तरह के समुदाय की रचना का प्रयास किया। कुछ समाजवादी मानते थे कि केवल व्यक्तिगत पहलकदमी से बहुत बड़े सामूहिक खेत नहीं बनाए जा सकते। वह चाहते थे कि सरकार अपनी तरफ़ से सामूहिक खेती को बढ़ावा दे। उदाहरण के लिए, फ़्रांस में लुई ब्लांक (1813-1882) चाहते थे कि सरकार पूँजीवादी उद्यमों की जगह सामूहिक उद्यमों को बढ़ावा दे। कोऑपरेटिव ऐसे लोगों के समूह थे जो मिल कर चीज़ें बनाते थे और मुनाफ़े को प्रत्येक सदस्य द्वारा किए गए काम के हिसाब से आपस में बाँट लेते थे।

क्रियाकलाप

मान लीजिए कि निजी संपत्ति को खत्म करने और उसकी जगह सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था लागू करने के सवाल पर आपके इलाके में एक बैठक बुलाई गई है। निम्नलिखित व्यक्तियों के रूप में उस बैठक में आप जो भाषण देंगे वह लिखें :

- एक गरीब खेतिहर मज़दूर
- एक मंझौला भूस्वामी
- एक गृहस्वामी

क्रियाकलाप

निजी संपत्ति के बारे में पूँजीवादी और समाजवादी विचारधारा के बीच दो अंतर बताएँ।

कार्ल मार्क्स (1818–1882) और फ़्रेडरिक एंगेल्स (1820–1895) ने इस दिशा में कई नए तर्क पेश किए। मार्क्स का विचार था कि औद्योगिक समाज 'पूँजीवादी' समाज है। फ़ैक्ट्रियों में लगी पूँजी पर पूँजीपतियों का स्वामित्व है और पूँजीपतियों का मुनाफ़ा मज़दूरों की मेहनत से पैदा होता है। मार्क्स का निष्कर्ष था कि जब तक निजी पूँजीपति इसी तरह मुनाफ़े का संचय करते जाएँगे तब तक मज़दूरों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। अपनी स्थिति में सुधार लाने के लिए मज़दूरों को पूँजीवाद व निजी संपत्ति पर आधारित शासन को उखाड़ फेंकना होगा। मार्क्स का विश्वास था कि खुद को पूँजीवादी शोषण से मुक्त कराने के लिए मज़दूरों को एक अत्यंत भिन्न किस्म का समाज बनाना होगा जिसमें सारी संपत्ति पर पूरे समाज का यानी सामाजिक नियंत्रण और स्वामित्व रहेगा। उन्होंने भविष्य के इस समाज को साम्यवादी (कम्युनिस्ट) समाज का नाम दिया। मार्क्स को विश्वास था कि पूँजीपतियों के साथ होने वाले संघर्ष में जीत अंततः मज़दूरों की ही होगी। उनकी राय में कम्युनिस्ट समाज ही भविष्य का समाज होगा।

1.4 समाजवाद के लिए समर्थन

1870 का दशक आते-आते समाजवादी विचार पूरे यूरोप में फैल चुके थे। अपने प्रयासों में समन्वय लाने के लिए समाजवादियों ने द्वितीय इंटरनैशनल के नाम से एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था भी बना ली थी।

इंग्लैंड और जर्मनी के मज़दूरों ने अपनी जीवन और कार्यस्थितियों में सुधार लाने के लिए संगठन बनाना शुरू कर दिया था। संकट के समय अपने सदस्यों को मदद पहुँचाने के लिए इन संगठनों ने कोष स्थापित किए और काम के घंटों में कमी तथा मताधिकार के लिए आवाज़ उठाना शुरू कर दिया। जर्मनी में सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी (एसपीडी) के साथ इन संगठनों के काफी गहरे रिश्ते थे और संसदीय चुनावों में वे पार्टी की मदद भी करते थे। 1905 तक ब्रिटेन के समाजवादियों और ट्रेड यूनियन आंदोलनकारियों ने लेबर पार्टी के नाम से अपनी एक अलग पार्टी बना ली थी। फ़्रांस में भी सोशलिस्ट पार्टी के नाम से ऐसी ही एक पार्टी का गठन किया गया। लेकिन 1914 तक यूरोप में समाजवादी कहीं भी सरकार बनाने में कामयाब नहीं हो पाए। संसदीय राजनीति में उनके प्रतिनिधि बड़ी संख्या में जीतते रहे, उन्होंने कानून बनवाने में भी अहम भूमिका निभायी, मगर सरकारों में रुढ़िवादियों, उदारवादियों और रैडिकलों का ही दबदबा बना रहा।

__चित्र 2__ – यह पेरिस कम्यून, 1871 का एक चित्र है। इस चित्र में मार्च और मई 1871 के बीच हुए जनविद्रोह को दर्शाया गया है। यह ऐसा दौर था जब पेरिस की नगर परिषद् (कम्यून) पर मज़दूरों, आम लोगों, पेशेवरों, और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को लेकर बनाई गई 'जन सरकार' ने कब्ज़ा कर लिया था। यह उथल-पुथल फ़्राँसीसी सरकार की नीतियों के प्रति बढ़ते असंतोष के कारण पैदा हुई थी। यद्यपि 'पेरिस कम्यून' को अंततः सरकारी टुकड़ियों ने कुचल डाला लेकिन दुनिया भर के समाजवादियों ने समाजवादी क्रांति की पूर्वपीठिका के रूप में इसका जमकर जश्न मनाया। पेरिस कम्यून को दो और चीज़ों की वजह से आज भी याद रखा जाता है : एक, मज़दूरों के लाल झंडे का उदय इसी घटना से हुआ था – कम्युनार्डों (क्रांतिकारियों) ने अपने लिए यही झंडा चुना था; दो, 'मार्सेयेस' के लिए, जो इस घटना के बाद पेरिस कम्यून और मुक्ति संघर्ष का प्रतीक बन गया। उल्लेखनीय है कि इस गीत को मूलतः 1792 में युद्ध गीत के रूप में लिखा गया था। (सौजन्य : लंदन न्यूज़, 1871)

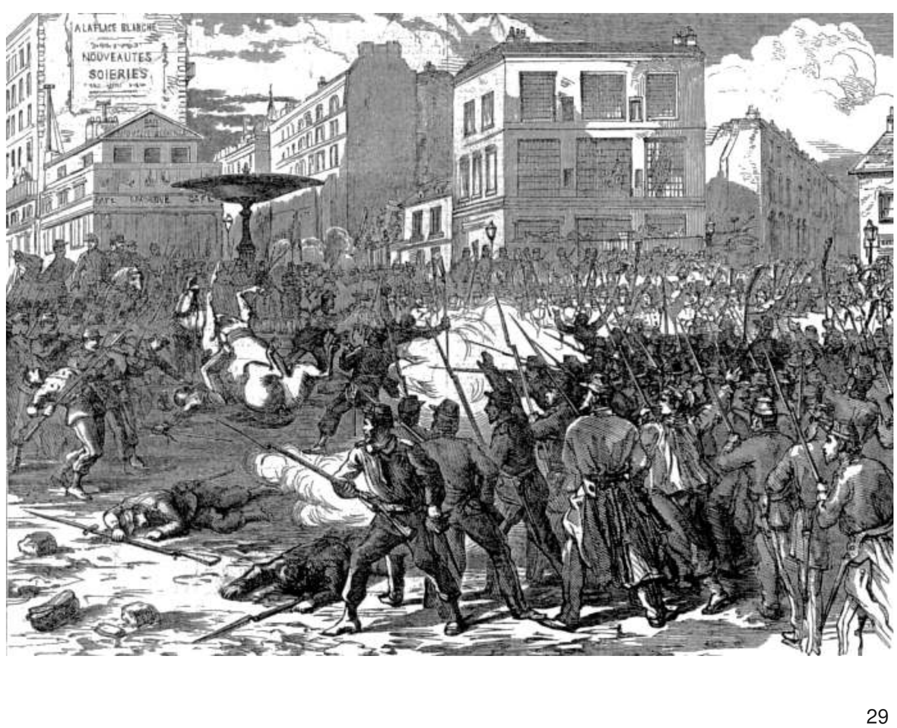

2 रूसी क्रांति

चित्र 3 - सेंट पीटर्सबर्ग स्थित विंटर पैलेस के व्हाइट हॉल में ज़ार निकोलस II, 1900.
अर्नेस्ट लिपगार्ट (1847-1932) द्वारा चित्रित।

यूरोप के सबसे पिछड़े औद्योगिक देशों में से एक, रूस में यह समीकरण उलट गया। 1917 की अक्तूबर क्रांति के ज़रिए रूस की सत्ता पर समाजवादियों ने कब्ज़ा कर लिया। फरवरी 1917 में राजशाही के पतन और अक्तूबर की घटनाओं को ही अक्तूबर क्रांति कहा जाता है।

ऐसा कैसे हुआ? क्रांति के समय रूस के सामाजिक और राजनीतिक हालात कैसे थे? इन सवालों का जवाब ढूँढ़ने के लिए, आइए, क्रांति से कुछ साल पहले की स्थितियों पर नज़र डालें।

2.1 रूसी साम्राज्य, 1914

1914 में रूस और उसके पूरे साम्राज्य पर ज़ार निकोलस II का शासन था। मास्को के आसपास पड़ने वाले भूक्षेत्र के अलावा आज का फ़िनलैंड, लातविया, लिथुआनिया, एस्तोनिया तथा पोलैंड, यूक्रेन व बेलारूस के कुछ हिस्से रूसी साम्राज्य के अंग थे। यह साम्राज्य प्रशांत महासागर तक फैला हुआ था और आज के मध्य एशियाई राज्यों के साथ-साथ जॉर्जिया, आर्मेनिया व अज़रबैज़ान भी इसी साम्राज्य के अंतर्गत आते थे। रूस में ग्रीक ऑर्थोडॉक्स चर्च से उपजी शाखा रूसी ऑर्थोडॉक्स क्रिश्चियैनिटी को मानने वाले बहुमत

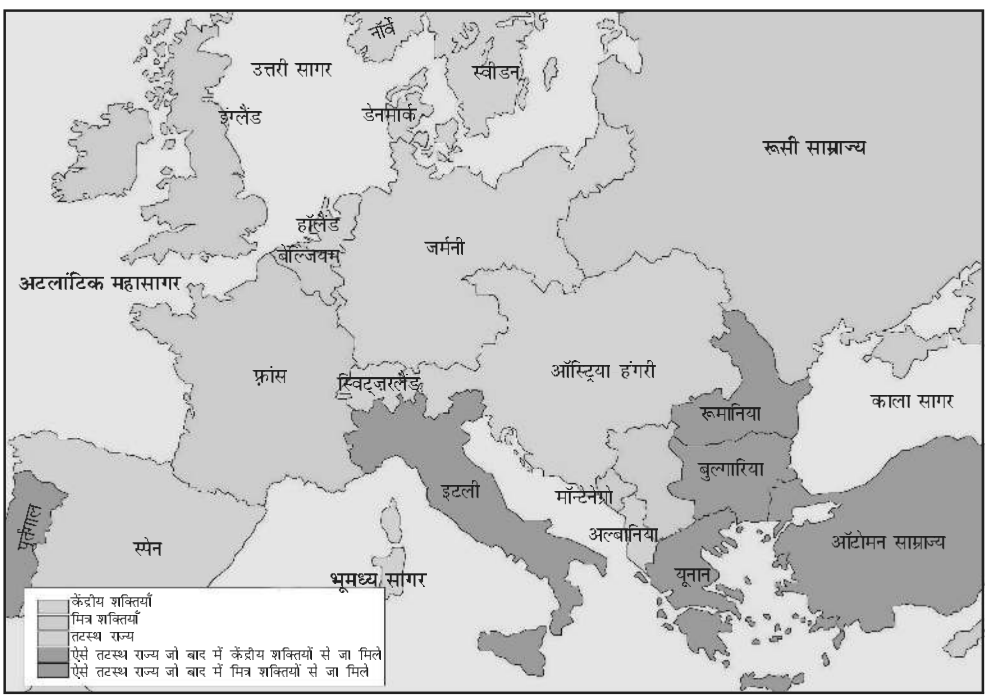

चित्र 4 - 1914 का यूरोप.
मानचित्र में रूसी साम्राज्य और पहले महायुद्ध में शामिल यूरोपीय देशों को दर्शाया गया है।

में थे। लेकिन इस साम्राज्य के तहत रहने वालों में कैथलिक, प्रोटेस्टेंट, मुस्लिम और बौद्ध भी शामिल थे।

2.2 अर्थव्यवस्था और समाज

बीसवीं सदी की शुरुआत में रूस की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा खेती-बाड़ी से जुड़ा हुआ था। रूसी साम्राज्य की लगभग 85 प्रतिशत जनता आजीविका के लिए खेती पर ही निर्भर थी। यूरोप के किसी भी देश में खेती पर आश्रित जनता का प्रतिशत इतना नहीं था। उदाहरण के तौर पर, फ़्रांस और जर्मनी में खेती पर निर्भर आबादी 40-50 प्रतिशत से ज़्यादा नहीं थी। रूसी साम्राज्य के किसान अपनी ज़रूरतों के साथ-साथ बाज़ार के लिए भी पैदावार करते थे। रूस अनाज का एक बड़ा निर्यातक था।

चित्र 5 - युद्ध से पहले सेंट पीटर्सबर्ग में बेरोज़गार किसान.
बहुत सारे लोग धर्मार्थ लंगरों में खाना खाते थे और खस्ताहाल मकानों में रहते थे।

उद्योग बहुत कम थे। सेंट पीटर्सबर्ग और मास्को प्रमुख औद्योगिक इलाके थे। हालाँकि ज़्यादातर उत्पादन कारीगर ही करते थे लेकिन कारीगरों की वर्कशॉपों के साथ-साथ बड़े-बड़े कल-कारखाने भी मौजूद थे। बहुत सारे कारखाने 1890 के दशक में चालू हुए थे जब रूस के रेल नेटवर्क को फैलाया जा रहा था। उसी समय रूसी उद्योगों में विदेशी निवेश भी तेजी से बढ़ा था। इन कारकों के चलते कुछ ही सालों में रूस के कोयला उत्पादन में दोगुना और स्टील उत्पादन में चार गुना वृद्धि हुई थी। सन् 1900 तक कुछ इलाकों में तो कारीगरों और कारखाना मज़दूरों की संख्या लगभग बराबर हो चुकी थी।

ज़्यादातर कारखाने उद्योगपतियों की निजी संपत्ति थे। मज़दूरों को न्यूनतम वेतन मिलता रहे और काम की पाली के घंटे निश्चित हों - इस बात का ध्यान रखने के लिए सरकारी विभाग बड़ी फ़ैक्ट्रियों पर नज़र रखते थे। लेकिन फ़ैक्ट्री इंस्पेक्टर भी नियमों के उल्लंघन को रोक पाने में नाकामयाब थे। कारीगरों की इकाइयों और वर्कशॉपों में काम की पाली प्रायः 15 घंटे तक खिंच जाती थी जबकि कारखानों में मज़दूर आमतौर पर 10-12 घंटे की पालियों में काम करते थे। मज़दूरों के रहने के लिए भी कमरों से लेकर डॉर्मिटरी तक तरह-तरह की व्यवस्था मौजूद थी।

चित्र 6 - क्रांति-पूर्व रूस में एक डॉर्मिटरी में बने बंकर में सोते मज़दूर.
वे पालियों में बारी-बारी से सोते थे और परिवार को साथ नहीं रख सकते थे।

सामाजिक स्तर पर मज़दूर बँटे हुए थे। कुछ मज़दूर अपने मूल गाँवों के साथ अभी भी गहरे संबंध बनाए हुए थे। बहुत सारे मज़दूर स्थायी रूप से शहरों में ही बस चुके थे। उनके बीच योग्यता और दक्षता के स्तर पर भी काफी फ़र्क था। सेंट पीटर्सबर्ग के एक धातु मज़दूर ने कहा था : 'धातुकर्मी मज़दूरों में खुद को साहब मानते थे। उनके काम में ज़्यादा प्रशिक्षण और निपुणता की ज़रूरत जो रहती थी...।' 1914 में फ़ैक्ट्री मज़दूरों में औरतों की संख्या 31 प्रतिशत थी लेकिन उन्हें पुरुष मज़दूरों के मुकाबले कम वेतन मिलता था (मर्दों की तनख्वाह के मुकाबले आधे से तीन-चौथाई तक)। मज़दूरों के बीच मौजूद फ़ासला उनके पहनावे और व्यवहार में भी साफ़ दिखाई देता था। यद्यपि कुछ मज़दूरों ने बेरोज़गारी या आर्थिक संकट के समय एक-दूसरे की मदद करने के लिए संगठन बना लिए थे लेकिन ऐसे संगठन बहुत कम थे।

इन विभेदों के बावजूद, जब किसी को नौकरी से निकाल दिया जाता था या उन्हें मालिकों से कोई शिकायत होती थी तो मज़दूर एकजुट होकर हड़ताल भी कर देते थे। 1896-1897 के बीच कपड़ा उद्योग में और 1902 में धातु उद्योग में ऐसी हड़तालें काफ़ी बड़ी संख्या में आयोजित की गईं।

देहात की ज़्यादातर ज़मीन पर किसान खेती करते थे। लेकिन विशाल संपत्तियों पर सामंतों, राजशाही और ऑर्थोडॉक्स चर्च का कब्ज़ा था। मज़दूरों की तरह किसान भी बँटे हुए थे। किसान बहुत धार्मिक स्वभाव के थे। इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ दिया जाए तो वे सामंतों और नवाबों का बिल्कुल सम्मान नहीं करते थे। नवाबों और सामंतों को जो सत्ता और हैसियत मिली हुई थी वह लोकप्रियता की वजह से नहीं बल्कि ज़ार के प्रति उनकी निष्ठा और सेवाओं के बदले में मिली थी। यहाँ की स्थिति फ़्रांस जैसी नहीं थी। मिसाल के तौर पर, फ़्रांसीसी क्रांति के दौरान ब्रिटनी के किसान न केवल नवाबों का सम्मान करते थे बल्कि उन्होंने नवाबों को बचाने के लिए बाकायदा लड़ाइयाँ भी लड़ीं। इसके विपरीत, रूस के किसान चाहते थे कि नवाबों की ज़मीन छीनकर किसानों के बीच बाँट दी जाए। बहुधा वह लगान भी नहीं चुकाते थे। कई जगह तो ज़मींदारों की हत्या भी की जा चुकी थी। 1902 में दक्षिणी रूस में ऐसी घटनाएँ बड़े पैमाने पर घटीं। 1905 में तो पूरे रूस में ही ऐसी घटनाएँ घटने लगीं।

रूसी किसान यूरोप के बाकी किसानों के मुकाबले एक और लिहाज़ से भी भिन्न थे। यहाँ के किसान समय-समय पर सारी ज़मीन को अपने कम्यून (*मीर*) को सौंप देते थे और फिर कम्यून ही प्रत्येक परिवार की ज़रूरत के हिसाब से किसानों को ज़मीन बाँटता था।

स्रोत क

उस समय के समाजवादी कार्यकर्ता अलेक्ज़ेंडर श्ल्याप्निकोव के वक्तव्य से पता चलता है कि बैठकें कैसे आयोजित की जाती थीं :

'एक-एक कारखाने और दुकान में जा-जाकर प्रचार किया जाता था। अध्ययन चक्र भी चलाए जाते थे...। संबंधित (अधिकृत मुद्दों के) मामलों पर कानूनी बैठकें भी बुलाई जाती थीं, लेकिन इस गतिविधि को मज़दूर वर्ग की मुक्ति के व्यापक संघर्ष में बड़ी निपुणता से पिरो दिया जाता था। गैरकानूनी बैठकें ... ज़रूरत के वक्त फ़ौरन आयोजित कर ली जाती थीं लेकिन लंच के दौरान, शाम को, फाटक के बाहर, यार्ड में या कई मंज़िला इमारतों की सीढ़ियों में व्यवस्थित ढंग से बैठकें आयोजित की जाती थीं। सबसे जागरूक मज़दूर दरवाज़े के पास ''प्लग'' का काम संभालते थे और मुहाने पर पूरी भीड़ इकट्ठा हो जाती थी। वहाँ सबके सामने एक आंदोलनकारी खड़ा होता था। मालिक टेलिफ़ोन पर पुलिस को इस बारे में जानकारी देते थे लेकिन जब तक पुलिस पहुँचती थी तब तक भाषण पूरे हो चुके होते थे और ज़रूरी फ़ैसले ले लिए जाते थे...।'

अलेक्ज़ेंडर श्ल्याप्निकोव, *ऑन दि ईव ऑफ 1917. रेमिनिसेंसेज़ फ़्रॉम द रेवलूशनरी अंडरग्राउंड।*

2.3 रूस में समाजवाद

1914 से पहले रूस में सभी राजनीतिक पार्टियाँ गैरकानूनी थीं। मार्क्स के विचारों को मानने वाले समाजवादियों ने 1898 में रशियन सोशल डेमोक्रैटिक वर्कर्स पार्टी (रूसी सामाजिक लोकतांत्रिक श्रमिक पार्टी) का गठन किया था। सरकारी आतंक के कारण इस पार्टी को गैरकानूनी संगठन के रूप में काम करना पड़ता था। इस पार्टी का एक अखबार निकलता था, उसने मज़दूरों को संगठित किया था और हड़ताल आदि कार्यक्रम आयोजित किए थे।

कुछ रूसी समाजवादियों को लगता था कि रूसी किसान जिस तरह समय-समय पर ज़मीन बाँटते हैं उससे पता चलता है कि वह स्वाभाविक रूप से समाजवादी भावना वाले लोग हैं। इसी आधार पर उनका मानना था कि रूस में मज़दूर नहीं बल्कि किसान ही क्रांति की मुख्य शक्ति बनेंगे। वे क्रांति का नेतृत्व करेंगे और रूस बाकी देशों के मुकाबले ज़्यादा जल्दी समाजवादी देश बन जाएगा। उन्नीसवीं सदी के आखिर में रूस के ग्रामीण इलाकों में समाजवादी काफी सक्रिय थे। सन् 1900 में उन्होंने सोशलिस्ट रेवलूशनरी पार्टी (समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी) का गठन कर लिया। इस पार्टी ने किसानों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया और माँग की कि सामंतों के कब्ज़े वाली ज़मीन फौरन किसानों को सौंपी जाए। किसानों के सवाल पर

सामाजिक लोकतंत्रवादी (Social Democrats) खेमा समाजवादी क्रांतिकारियों से सहमत नहीं था। लेनिन का मानना था कि किसानों में एकजुटता नहीं है; वे बँटे हुए हैं। कुछ किसान गरीब थे तो कुछ अमीर, कुछ मज़दूरी करते थे तो कुछ पूँजीपति थे जो नौकरों से खेती करवाते थे। इन आपसी 'विभेदों' के चलते वे सभी समाजवादी आंदोलन का हिस्सा नहीं हो सकते थे।

सांगठनिक रणनीति के सवाल पर पार्टी में गहरे मतभेद थे। व्लादिमीर लेनिन (बोल्शेविक खेमे के मुखिया) सोचते थे कि ज़ार (राजा) शासित रूस जैसे दमनकारी समाज में पार्टी अत्यंत अनुशासित होनी चाहिए और अपने सदस्यों की संख्या व स्तर पर उसका पूरा नियंत्रण होना चाहिए। दूसरा खेमा (मेन्शेविक) मानता था कि पार्टी में सभी को सदस्यता दी जानी चाहिए।

2.4 उथल-पुथल का समय : 1905 की क्रांति

रूस एक **निरंकुश राजशाही** था। अन्य यूरोपीय शासकों के विपरीत बीसवीं सदी की शुरुआत में भी ज़ार राष्ट्रीय संसद के अधीन नहीं था। उदारवादियों ने इस स्थिति को खत्म करने के लिए बड़े पैमाने पर मुहिम चलाई। 1905 की क्रांति के दौरान उन्होंने संविधान की रचना के लिए सोशल डेमोक्रेट और समाजवादी क्रांतिकारियों को साथ लेकर किसानों और मज़दूरों के बीच काफी काम किया। रूसी साम्राज्य के तहत उन्हें राष्ट्रवादियों (जैसे पोलैंड में) और इस्लाम के आधुनिकीकरण के समर्थक ***जदीदियों*** (मुस्लिम-बहुल इलाकों में) का भी समर्थन मिला।

रूसी मज़दूरों के लिए 1904 का साल बहुत बुरा रहा। ज़रूरी चीज़ों की कीमतें इतनी तेजी से बढ़ीं कि **वास्तविक वेतन** में 20 प्रतिशत तक की गिरावट आ गई। उसी समय मज़दूर संगठनों की सदस्यता में भी तेजी से वृद्धि हुई। जब 1904 में ही गठित की गई असेंबली ऑफ़ रशियन वर्कर्स (रूसी श्रमिक सभा) के चार सदस्यों को प्युतिलोव आयरन वर्क्स में उनकी नौकरी से हटा दिया गया तो मज़दूरों ने आंदोलन छेड़ने का एलान कर दिया। अगले कुछ दिनों के भीतर सेंट पीटर्सबर्ग के 110,000 से ज़्यादा मज़दूर काम के घंटे घटाकर आठ घंटे किए जाने, वेतन में वृद्धि और कार्यस्थितियों में सुधार की माँग करते हुए हड़ताल पर चले गए।

इसी दौरान जब पादरी गैपॉन के नेतृत्व में मज़दूरों का एक जुलूस विंटर पैलेस (ज़ार का महल) के सामने पहुँचा तो पुलिस और कोसैक्स ने मज़दूरों पर हमला बोल दिया। इस घटना में 100 से ज़्यादा मज़दूर मारे गए और लगभग 300 घायल हुए। इतिहास में इस घटना को *खूनी रविवार* के नाम से याद किया जाता है। 1905 की क्रांति की शुरुआत इसी घटना से हुई थी। सारे देश में हड़तालें होने लगीं। जब नागरिक स्वतंत्रता के अभाव का विरोध करते हुए विद्यार्थी अपनी कक्षाओं का बहिष्कार करने लगे तो विश्वविद्यालय भी बंद कर दिए गए। वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियरों और अन्य मध्यवर्गीय कामगारों ने संविधान सभा के गठन की माँग करते हुए यूनियन ऑफ़ यूनियंस की स्थापना कर दी।

क्रियाकलाप

रूस में 1905 में क्रांतिकारी उथल-पुथल क्यों पैदा हुई थी? क्रांतिकारियों की क्या माँगें थीं?

नए शब्द

निरंकुश राजशाही: राजा का बिना रोकटोक शासन।
जदीदी – रूसी साम्राज्य में सक्रिय मुस्लिम सुधारवादी।
वास्तविक वेतन : यह इस बात का पैमाना है कि किसी व्यक्ति के वेतन से वास्तव में कितनी चीज़ें खरीदी जा सकती हैं।

1905 की क्रांति के दौरान ज़ार ने एक निर्वाचित परामर्शदाता संसद या ड्यूमा के गठन पर अपनी सहमति दे दी। क्रांति के समय कुछ दिन तक फ़ैक्ट्री मज़दूरों की बहुत सारी ट्रेड यूनियनें और फ़ैक्ट्री कमेटियाँ भी अस्तित्व में रहीं। 1905 के बाद ऐसी ज़्यादातर कमेटियाँ और यूनियनें अनधिकृत रूप से काम करने लगीं क्योंकि उन्हें गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था। राजनीतिक गतिविधियों पर भारी पाबंदियाँ लगा दी गईं। ज़ार ने पहली ड्यूमा को मात्र 75 दिन के भीतर और पुनर्निर्वाचित दूसरी ड्यूमा को 3 महीने के भीतर बर्खास्त कर दिया। वह किसी तरह की जवाबदेही या अपनी सत्ता पर किसी तरह का अंकुश नहीं चाहता था। उसने मतदान कानूनों में फेरबदल करके तीसरी ड्यूमा में रुढ़िवादी राजनेताओं को भर डाला। उदारवादियों और क्रांतिकारियों को बाहर रखा गया।

2.5 पहला विश्वयुद्ध और रूसी साम्राज्य

1914 में दो यूरोपीय गठबंधनों के बीच युद्ध छिड़ गया। एक खेमे में जर्मनी, ऑस्ट्रिया और तुर्की (केंद्रीय शक्तियाँ) थे तो दूसरे खेमे में फ़्रांस, ब्रिटेन व रूस (बाद में इटली और रूमानिया भी इस खेमे में शमिल हो गए) थे। इन सभी देशों के पास विशाल वैश्विक साम्राज्य थे इसलिए यूरोप के साथ-साथ यह युद्ध यूरोप के बाहर भी फैल गया था। इसी युद्ध को पहला विश्वयुद्ध कहा जाता है।

इस युद्ध को शुरू-शुरू में रूसियों का काफ़ी समर्थन मिला। जनता ने ज़ार का साथ दिया। लेकिन जैसे-जैसे युद्ध लंबा खिंचता गया, ज़ार ने ड्यूमा में मौजूद मुख्य पार्टियों से सलाह लेना छोड़ दिया। उसके प्रति जनसमर्थन कम होने लगा। जर्मनी-विरोधी भावनाएँ दिनोंदिन बलवती होने लगीं। जर्मनी-विरोधी भावनाओं के कारण ही लोगों ने सेंट पीटर्सबर्ग का नाम बदल कर पेत्रोग्राद रख दिया क्योंकि सेंट पीटर्सबर्ग जर्मन नाम था। ज़ारीना (ज़ार की पत्नी-महारानी) अलेक्सांद्रा के जर्मन मूल का होने और उसके घटिया सलाहकारों, खास तौर से रासपुतिन नामक एक संन्यासी ने राजशाही को और अलोकप्रिय बना दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के 'पूर्वी मोर्चे' पर चल रही लड़ाई 'पश्चिमी मोर्चे' की लड़ाई से भिन्न थी। पश्चिम में सैनिक पूर्वी फ़्रांस की सीमा पर बनी खाइयों से लड़ाई लड़ रहे थे जबकि पूर्वी मोर्चे पर सेना ने काफ़ी बड़ा फ़ासला तय कर लिया था। इस मोर्चे पर बहुत सारे सैनिक मौत के मुँह में जा चुके थे। सेना की पराजय ने रूसियों का मनोबल तोड़ दिया। 1914 से 1916 के बीच जर्मनी और ऑस्ट्रिया में रूसी सेनाओं को भारी पराजय झेलनी पड़ी। 1917 तक 70 लाख लोग मारे जा चुके थे। पीछे हटती रूसी सेनाओं ने रास्ते में पड़ने वाली फ़सलों और इमारतों को भी नष्ट कर डाला ताकि दुश्मन की सेना वहाँ टिक ही न सके। फ़सलों और इमारतों के विनाश से रूस में 30 लाख से ज़्यादा लोग शरणार्थी हो गए। इन हालात ने सरकार और ज़ार, दोनों को अलोकप्रिय बना दिया। सिपाही भी युद्ध से तंग आ चुके थे। अब वे लड़ना नहीं चाहते थे।

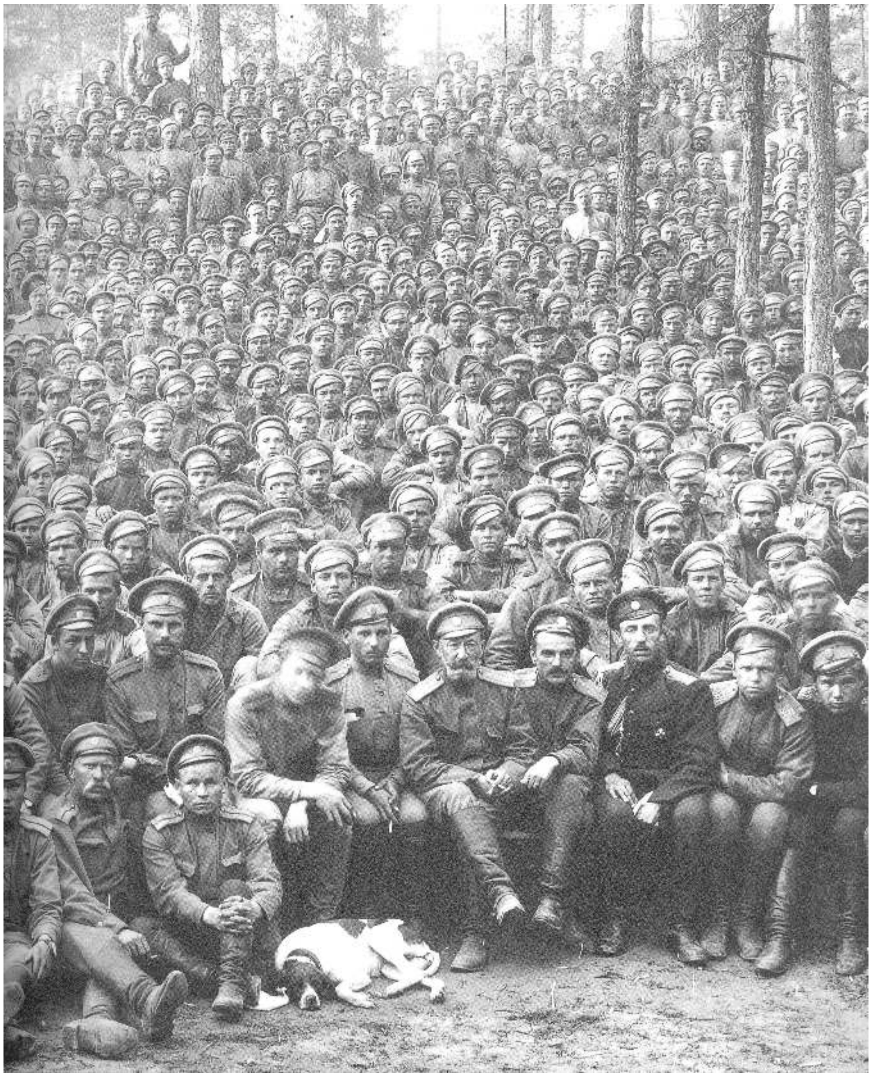

चित्र 7 – पहले विश्वयुद्ध के दौरान रूसी सिपाही. *शाही रूसी सेना को 'रूसी स्टीमरोलर' कहा जाता था। यह दुनिया की सबसे बड़ी सशस्त्र सेना थी। जब इस सेना ने अपनी निष्ठा बदल कर क्रांतिकारियों को समर्थन देना शुरू कर दिया तो ज़ार की सत्ता भी ढह गई।*

युद्ध से उद्योगों पर भी बुरा असर पड़ा। रूस के अपने उद्योग तो वैसे भी बहुत कम थे, अब तो बाहर से मिलने वाली आपूर्ति भी बंद हो गई क्योंकि बाल्टिक समुद्र में जिस रास्ते से विदेशी औद्योगिक सामान आते थे उस पर जर्मनी का कब्ज़ा हो चुका था। यूरोप के बाकी देशों के मुकाबले रूस के औद्योगिक उपकरण ज़्यादा तेजी से बेकार होने लगे। 1916 तक रेलवे लाइनें टूटने लगीं। अच्छी सेहत वाले मर्दों को युद्ध में झोंक दिया गया। देश भर में मज़दूरों की कमी पड़ने लगी और ज़रूरी सामान बनाने वाली छोटी-छोटी वर्कशॉप्स ठप्प होने लगीं। ज़्यादातर अनाज सैनिकों का पेट भरने के लिए मोर्चे पर भेजा जाने लगा। शहरों में रहने वालों के लिए रोटी और आटे की किल्लत पैदा हो गई। 1916 की सर्दियों में रोटी की दुकानों पर अकसर दंगे होने लगे।

क्रियाकलाप

1916 के दिन हैं। आप ज़ार की सेना में जनरल हैं और पूर्वी मोर्चे पर तैनात हैं। आप मास्को सरकार के लिए एक रिपोर्ट लिख रहे हैं। अपनी रिपोर्ट में सुझाव दीजिए कि स्थिति को सुधारने के लिए आपकी राय में क्या किया जाना चाहिए।

3 पेत्रोग्राद में फरवरी क्रांति

सन् 1917 की सर्दियों में राजधानी पेत्रोग्राद की हालत बहुत खराब थी। ऐसा लगता था मानो जनता में मौजूद भिन्नताओं को ध्यान में रखकर ही शहर की बनावट तय की गई थी। मज़दूरों के क्वार्टर और कारखाने नेवा नदी के दाएँ तट पर थे। बाएँ किनारे पर फैशनेबल इलाके, विंटर पैलेस और सरकारी इमारतें थीं। जिस महल में ड्यूमा की बैठक होती थी वह भी इसी तरफ़ था। फरवरी में मज़दूरों के इलाके में खाद्य पदार्थों की भारी कमी पैदा हो गई। उस साल ठंड भी कुछ ज़्यादा पड़ी थी। भीषण कोहरा और बर्फ़बारी हुई थी। संसदीय प्रतिनिधि चाहते थे कि निर्वाचित सरकार बची रहे इसलिए वह ज़ार द्वारा ड्यूमा को भंग करने के लिए की जा रही कोशिशों का विरोध कर रहे थे।

22 फरवरी को दाएँ तट पर स्थित एक फ़ैक्ट्री में **तालाबंदी** घोषित कर दी गई। अगले दिन इस फ़ैक्ट्री के मज़दूरों के समर्थन में पचास फ़ैक्ट्रियों के मज़दूरों ने भी हड़ताल का एलान कर दिया। बहुत सारे कारखानों में हड़ताल का नेतृत्व औरतें कर रही थीं। इसी दिन को बाद में अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस का नाम दिया गया। आंदोलनकारी जनता बस्ती पार करके राजधानी के बीचोंबीच-नेव्स्की प्रोस्पेक्ट-तक आ गई। इस समय तक कोई राजनीतिक पार्टी आंदोलन को सक्रिय रूप से संगठित और संचालित नहीं कर रही थी। जब फ़ैशनेबल रिहायशी इलाकों और सरकारी इमारतों को मज़दूरों ने घेर लिया तो सरकार ने कर्फ़्यू लगा दिया। शाम तक प्रदर्शनकारी तितर-बितर हो गए लेकिन 24 और 25 तारीख को वह फिर इकट्ठा होने लगे। सरकार ने उन पर नज़र रखने के लिए घुड़सवार सैनिकों और पुलिस को तैनात कर दिया।

रविवार, 25 फरवरी को सरकार ने ड्यूमा को बर्खास्त कर दिया। सरकार के इस फ़ैसले के खिलाफ़ राजनीतिज्ञ बयान देने लगे। 26 तारीख को प्रदर्शनकारी बहुत बड़ी संख्या में बाएँ तट के इलाके में इकट्ठा हो गए। 27 को उन्होंने पुलिस मुख्यालयों पर हमला करके उन्हें तहस-नहस कर दिया। रोटी, तनख्वाह, काम के घंटों में कमी और लोकतांत्रिक अधिकारों के पक्ष में नारे लगाते असंख्य लोग सड़कों पर जमा हो गए। सरकार ने स्थिति पर नियंत्रण कायम करने के लिए एक बार फिर घुड़सवार सैनिकों को तैनात कर दिया। लेकिन घुड़सवार सैनिकों की टुकड़ियों ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने

नए शब्द

तालाबंदी: फ़ैक्ट्री को स्थायी रूप से बंद करने के लिए मालिकों द्वारा मुख्य फाटक पर ताला डाल देना।

क्रियाकलाप

बॉक्स 2 देखें और वर्तमान कैलेंडर के हिसाब से अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस की तिथि का पता लगाएँ।

चित्र 8 - ड्यूमा में पेत्रोग्राद सोवियत की बैठक, फरवरी 1917 .

से इनकार कर दिया। गुस्साए सिपाहियों ने एक रेजीमेंट की बैरक में अपने ही एक अफ़सर पर गोली चला दी। तीन दूसरी रेज़ीमेंटों ने भी बगावत कर दी और हड़ताली मज़दूरों के साथ आ मिले। उस शाम को सिपाही और मज़दूर एक **सोवियत** या 'परिषद्' का गठन करने के लिए उसी इमारत में जमा हुए जहाँ अब तक ड्यूमा की बैठक हुआ करती थी। यहीं से पेत्रोग्राद सोवियत का जन्म हुआ।

अगले दिन एक प्रतिनिधिमंडल ज़ार से मिलने गया। सैनिक कमांडरों ने उसे सलाह दी कि वह राजगद्दी छोड़ दे। उसने कमांडरों की बात मान ली और 2 मार्च को गद्दी छोड़ दी। सोवियत और ड्यूमा के नेताओं ने देश का शासन चलाने के लिए एक अंतरिम सरकार बना ली। तय किया गया कि रूस के भविष्य के बारे में फ़ैसला लेने की ज़िम्मेदारी संविधान सभा को सौंप दी जाए और उसका चुनाव सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाए। फरवरी 1917 में राजशाही को गद्दी से हटाने वाली क्रांति का झंडा पेत्रोग्राद की जनता के हाथों में था।

नए शब्द

सोवियत: रूस के स्थानीय स्वशासी संगठन।

बॉक्स 1

फरवरी क्रांति में महिलाएँ

'महिला कामगार, अकसर ... अपने पुरुष सहकर्मियों को प्रेरित करती रहती थीं ...। लॉरेंज़ टेलीफ़ोन फ़ैक्ट्री में, ... मार्फ़ा वासीलेवा ने लगभग अकेले ही एक सफल हड़ताल को अंजाम दिया था। उसी दिन सुबह को महिला दिवस समारोह के मौके पर महिला कामगारों ने पुरुष कामगारों को लाल पट्टियाँ बाँधी थीं। ... इसके बाद, मिलिंग मशीन ऑपरेटर का काम करने वाली मार्फ़ा वासीलेवा ने काम रोक दिया और आनन-फानन हड़ताल का आह्वान कर डाला। काम पर मौजूद मज़दूर उसके समर्थन को पहले ही तैयार थे। ... फ़ोरमैन ने इस बारे में प्रबंधकों को सूचित कर दिया और उसके लिए पावरोटी भिजवायी। उसने पावरोटी तो ले ली लेकिन काम पर लौटने से इनकार कर दिया। जब प्रशासक ने उससे पूछा कि वह काम क्यों नहीं करना चाहती तो उसने पलट कर जवाब दिया कि "जब बाकी सारे भूखे हों तो मैं अकेले पेट भरने की नहीं सोच सकती।" मार्फ़ा के समर्थन में फ़ैक्ट्री के दूसरे विभाग में काम करने वाली महिलाएँ भी इकट्ठी हो गईं और धीरे-धीरे बाकी सारी औरतों ने भी काम रोक दिया। जल्दी ही पुरुषों ने भी औज़ार ज़मीन पर डाल दिए और पूरा हुजूम सड़क पर निकल आया।'

स्रोत: चॉई चैटर्जी, *सेलिब्रेटिंग विमेन* (2002)।

3.1 फरवरी के बाद

अंतरिम सरकार में सैनिक अधिकारी, भूस्वामी और उद्योगपति प्रभावशाली थे। उनमें उदारवादी और समाजवादी जल्दी से जल्दी निर्वाचित सरकार का गठन चाहते थे। जन सभा करने और संगठन बनाने पर लगी पाबंदी हटा ली गई। हालाँकि निर्वाचन का तरीका सब जगह एक जैसा नहीं था लेकिन पेत्रोग्राद सोवियत की तर्ज़ पर सब जगह 'सोवियतें' बना ली गईं।

अप्रैल 1917 में बोल्शेविकों के निर्वासित नेता व्लादिमीर लेनिन रूस लौट आए। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक 1914 से ही युद्ध का विरोध कर रहे थे। उनका कहना था कि अब सोवियतों को सत्ता अपने हाथों में ले लेनी चाहिए। लेनिन ने बयान दिया कि युद्ध समाप्त किया जाए, सारी ज़मीन किसानों के हवाले की जाए और बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जाए। इन

क्रियाकलाप

स्रोत क और बॉक्स 1 को एक बार फिर देखें।

- मज़दूरों की मनोदशा में आए पाँच परिवर्तन बताएँ।
- खुद को इन दोनों परिस्थितियों की प्रत्यक्षदर्शी महिला के रूप में देखिए और लिखिए कि पहले वाली स्थिति से दूसरी स्थिति के बीच क्या बदलाव आया है।

तीन माँगों को लेनिन की 'अप्रैल थीसिस' के नाम से जाना जाता है। उन्होंने ये भी सुझाव दिया कि अब अपने रैडिकल उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिए बोल्शेविक पार्टी का नाम कम्युनिस्ट पार्टी रख दिया जाए। बोल्शेविक पार्टी के ज़्यादातर लोगों को अप्रैल थीसिस के बारे में सुनकर काफ़ी हैरानी हुई। उन्हें लगता था कि अभी समाजवादी क्रांति के लिए सही वक्त नहीं आया है इसलिए फ़िलहाल अंतरिम सरकार को ही समर्थन दिया जाना चाहिए। लेकिन अगले कुछ महीनों की घटनाओं ने उनकी सोच बदल दी।

गर्मियों में मज़दूर आंदोलन और फैल गया। औद्योगिक इलाकों में फ़ैक्ट्री कमेटियाँ बनाई गईं। इन कमेटियों के माध्यम से मज़दूर फ़ैक्ट्री चलाने के मालिकों के तौर–तरीकों पर सवाल खड़ा करने लगे। ट्रेड यूनियनों की तादाद बढ़ने लगी। सेना में सिपाहियों की समितियाँ बनने लगीं। जून में लगभग 500 सोवियतों ने अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में अपने प्रतिनिधि भेजे। जैसे–जैसे अंतरिम सरकार की ताकत कमज़ोर होने लगी और बोल्शेविकों का प्रभाव बढ़ने लगा, सरकार असंतोष को दबाने के लिए सख्त कदम उठाने लगी। सरकार ने फ़ैक्ट्रियाँ चलाने की मज़दूरों द्वारा की जा रही कोशिशों को रोकना और मज़दूरों के नेताओं को गिरफ़्तार करना शुरू कर दिया। जुलाई 1917 में बोल्शेविकों द्वारा आयोजित किए गए विशाल प्रदर्शनों का भारी दमन किया गया। बहुत सारे बोल्शेविक नेताओं को छिपना या भागना पड़ा।

गांवों में किसान और उनके समाजवादी क्रांतिकारी नेता भूमि पुनर्वितरण के लिए दबाव डालने लगे थे। इस काम के लिए भूमि समितियाँ बना दी गई थीं। सामाजिक क्रांतिकारियों से प्रेरणा और प्रोत्साहन लेते हुए जुलाई से सितंबर के बीच किसानों ने बहुत सारी ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया।

चित्र 9 - अप्रैल 1917 में मज़दूरों को संबोधित करते लेनिन की एक बोल्शेविक छवि .

चित्र 10 - जुलाई के दिन .
17 जुलाई 1917 को बोल्शेविक समर्थक प्रदर्शनकारियों पर सेना द्वारा गोलीबारी का दृश्य।

3.2 अक्तूबर 1917 की क्रांति

जैसे-जैसे अंतरिम सरकार और बोल्शेविकों के बीच टकराव बढ़ता गया, लेनिन को अंतरिम सरकार द्वारा तानाशाही थोप देने की आशंका दिखाई देने लगी। सितंबर में उन्होंने सरकार के खिलाफ विद्रोह के बारे में चर्चा शुरू कर दी। सेना और फ़ैक्ट्री सोवियतों में मौजूद बोल्शेविकों को इकट्ठा किया गया।

16 अक्तूबर 1917 को लेनिन ने पेत्रोग्राद सोवियत और बोल्शेविक पार्टी को सत्ता पर कब्ज़ा करने के लिए राजी कर लिया। सत्ता पर कब्ज़े के लिए लियॉन ट्रॉट्स्की के नेतृत्व में सोवियत की ओर से एक सैनिक क्रांतिकारी समिति का गठन किया गया। इस बात का खुलासा नहीं किया गया कि योजना को किस दिन लागू किया जाएगा।

24 अक्तूबर को विद्रोह शुरू हो गया। संकट की आशंका को देखते हुए प्रधानमंत्री केरेंस्की सैनिक टुकड़ियों को इकट्ठा करने शहर से बाहर चले गए। तड़के ही सरकार के वफ़ादार सैनिकों ने दो बोल्शेविक अखबारों के दफ़्तरों पर घेरा डाल दिया। टेलीफ़ोन और टेलीग्राफ़ दफ़्तरों पर नियंत्रण प्राप्त करने और विंटर पैलेस की रक्षा करने के लिए सरकार समर्थक सैनिकों को रवाना कर दिया गया। पलक झपकते क्रांतिकारी समिति ने भी अपने समर्थकों को आदेश दे दिया कि सरकारी कार्यालयों पर कब्ज़ा कर लें और मंत्रियों को गिरफ़्तार कर लें। उसी दिन *ऑरोरा* नामक युद्धपोत ने विंटर पैलेस पर बमबारी शुरू कर दी। अन्य युद्धपोतों ने नेवा के रास्ते से आगे बढ़ते हुए विभिन्न सैनिक ठिकानों को अपने नियंत्रण में ले लिया। शाम ढलते-ढलते पूरा शहर क्रांतिकारी समिति के नियंत्रण में आ चुका था और मंत्रियों ने आत्मसमर्पण कर दिया था। पेत्रोग्राद में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की बैठक हुई जिसमें बहुमत ने बोल्शेविकों की कार्रवाई का समर्थन किया। अन्य शहरों में भी बगावतें होने लगीं। दोनों तरफ़ से जमकर गोलीबारी हुई, खास तौर से मास्को में, लेकिन दिसंबर तक मास्को-पेत्रोग्राद इलाके पर बोल्शेविकों का नियंत्रण स्थापित हो चुका था।

बॉक्स 2

रूसी क्रांति की तारीख

रूस में 1 फरवरी 1918 तक जूलियन कैलेंडर का अनुसरण किया जाता था। इसके बाद रूसी सरकार ने ग्रेगोरियन कैलेंडर अपना लिया जिसका अब सब जगह इस्तेमाल किया जाता है। ग्रेगोरियन कैलेंडर जूलियन कैलेंडर से 13 दिन आगे चलता है। इसका मतलब है कि हमारे कैलेंडर के हिसाब से 'फरवरी' क्रांति 12 मार्च को और 'अक्तूबर क्रांति' 7 नवंबर को संपन्न हुई थी।

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

1850-1880
रूस में समाजवाद पर बहस

1898
रशियन सोशल डेमोक्रैटिक वर्कर्स पार्टी की स्थापना।

1905
खूनी रविवार और 1905 की क्रांति।

1917
2 मार्च - ज़ार द्वारा पदत्याग।
24 अक्तूबर - पेत्रोग्राद में बोल्शेविक विद्रोह।

1918-20
गृहयुद्ध।

1919
कॉमिन्टर्न का गठन।

1929
सामूहिकीकरण की शुरुआत।

नए शब्द

कॉमिन्टर्न : कम्युनिस्ट पार्टियों की अंतर्राष्ट्रीय संस्था। यह शब्द, 'कम्युनिस्ट इंटरनैशनल' (**Com**munist **Intern**ational) का संक्षिप्त रूप है।

चित्र 11 - पेत्रोग्राद में लेनिन (बाएँ) और ट्रॉट्स्की (दाएँ) मज़दूरों के साथ.

4 अक्तूबर के बाद क्या बदला?

चित्र 12 - सोवियत टोपी (बुदियोनोव्का) पहने एक सिपाही .

बोल्शेविक निजी संपत्ति की व्यवस्था के पूरी तरह खिलाफ थे। ज़्यादातर उद्योगों और बैंकों का नवंबर 1917 में ही राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था। उनका स्वामित्व और प्रबंधन सरकार के नियंत्रण में आ चुका था। ज़मीन को सामाजिक संपत्ति घोषित कर दिया गया। किसानों को सामंतों की ज़मीनों पर कब्ज़ा करने की खुली छूट दे दी गई। शहरों में बोल्शेविकों ने मकान-मालिकों के लिए पर्याप्त हिस्सा छोड़कर उनके बड़े मकानों के छोटे-छोटे हिस्से कर दिए ताकि बेघरबार या ज़रूरतमंद लोगों को भी रहने की जगह दी जा सके। उन्होंने अभिजात्य वर्ग द्वारा पुरानी पदवियों के इस्तेमाल पर रोक लगा दी। परिवर्तन को स्पष्ट रूप से सामने लाने के लिए सेना और सरकारी अफ़सरों की वर्दियाँ बदल दी गईं। इसके लिए 1918 में एक परिधान प्रतियोगिता आयोजित की गई जिसमें सोवियत टोपी (*बुदियोनोव्का*) का चुनाव किया गया।

बोल्शेविक पार्टी का नाम बदल कर रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) रख दिया गया। नवंबर 1917 में बोल्शेविकों ने संविधान सभा के लिए चुनाव कराए लेकिन इन चुनावों में उन्हें बहुमत नहीं मिल पाया। जनवरी 1918 में असेंबली ने बोल्शेविकों के प्रस्तावों को खारिज कर दिया और लेनिन ने असेंबली बर्खास्त कर दी। उनका मत था कि अनिश्चित परिस्थितियों में चुनी गई असेंबली के मुकाबले अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस कहीं ज़्यादा लोकतांत्रिक संस्था है। मार्च 1918 में अन्य राजनीतिक सहयोगियों की असहमति के बावजूद बोल्शेविकों ने ब्रेस्ट लिटोव्स्क में जर्मनी से संधि कर ली। आने वाले सालों में बोल्शेविक पार्टी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के लिए होने वाले चुनावों में हिस्सा लेने वाली एकमात्र पार्टी रह गई। अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस को अब देश की संसद का दर्जा दे दिया गया था। रूस एक-दलीय राजनीतिक व्यवस्था वाला देश बन गया। ट्रेड यूनियनों पर पार्टी का नियंत्रण रहता था। गुप्तचर पुलिस (जिसे पहले चेका और बाद में ओजीपीयू तथा एनकेवीडी का नाम दिया गया) बोल्शेविकों की आलोचना करने वालों को दंडित करती थी। बहुत सारे युवा लेखक और कलाकार भी पार्टी की तरफ़ आकर्षित हुए क्योंकि वह समाजवाद और परिवर्तन के प्रति समर्पित थी। अक्तूबर 1917 के बाद ऐसे कलाकारों और लेखकों ने कला और वास्तुशिल्प के क्षेत्र में नए प्रयोग शुरू किए। लेकिन पार्टी द्वारा थोपी गई सेंसरशिप के कारण बहुत सारे लोगों का पार्टी से मोह भंग भी होने लगा था।

चित्र 13 - मास्को में मई दिवस का प्रदर्शन, 1918 .

बॉक्स 3

अक्तूबर क्रांति और रूसी ग्रामीण इलाके : दो दृष्टिकोण

'25 अक्तूबर 1905 को हुई क्रांतिकारी उथल-पुथल की खबर अगले ही दिन गाँव में पहुँच गई। लोगों ने खूब खुशियाँ मनायीं। किसानों के लिए इसका मतलब था मुफ़्त ज़मीन और युद्ध का खात्मा। ... जिस दिन खबर मिली उसी दिन जमींदार की हवेली लूट ली गई, उसके खेत कब्ज़े में ले लिए गए और उसके विशालकाय बाग के पेड़ काट कर सारी लकड़ी किसानों के बीच बाँट दी गई। उसकी सारी इमारतें तोड़ दी गईं और उसकी ज़मीन किसानों के बीच बाँट दी गई जो एक नई सोवियत ज़िंदगी जीने को तैयार थे।'

फ़ेदोर बेलोव, द *हिस्ट्री ऑफ ए सोवियत कलेक्टिव फ़ार्म।*

एक ज़मींदार परिवार के सदस्य ने अपने रिश्तेदार को भेजे खत में लिखा कि उसके परिवार की जागीर के साथ क्या हुआ: 'तख्तापलट, बिना किसी परेशानी के, खामोशी से और शांतिपूर्वक पूरा हो गया...। शुरुआती दिन बर्दाश्त के बाहर थे... मिखाइल मिखाइलोविच (जागीर का मालिक) शांत था...। लड़कियाँ भी...। इसमें कोई शक नहीं कि चेयरमैन का व्यवहार सही है, बल्कि वह बड़ी विनम्रता से बात करता है। हमारे पास दो गाय और दो घोड़े छोड़ दिए गए। नौकर बार-बार उन्हें यही कहते हैं कि हमारी फ़िक्र न करें। ''उन्हें जीने दो। उनकी सुरक्षा और संपत्ति का ज़िम्मा हमारे ऊपर है। हम उनसे मानवता भरा व्यवहार ही करेंगे...।''

...अफवाह है कि कई गाँवों में लोग कमेटियों को बाहर निकाल कर पूरी जागीर दोबारा मिखाइल मिखाइलोविच को सौंपना चाहते हैं। पता नहीं ऐसा होगा या नहीं, या यह हमारे लिए अच्छा भी रहेगा या नहीं। पर हमें इस बात का संतोष है कि हमारे लोगों में चेतना है...।'

सर्ज श्मेमान, *एकोज़ ऑफ ए नेटिव लैंड। टू सेंचुरीज़ ऑफ ए रशियन विलेज* (1997)।

4.1 गृह युद्ध

जब बोल्शेविकों ने ज़मीन के पुनर्वितरण का आदेश दिया तो रूसी सेना टूटने लगी। ज़्यादातर सिपाही किसान थे। वे भूमि पुनर्वितरण के लिए घर लौटना चाहते थे इसलिए सेना छोड़कर जाने लगे। गैर-बोल्शेविक समाजवादियों, उदारवादियों और राजशाही के समर्थकों ने बोल्शेविक विद्रोह की निंदा की। उनके नेता दक्षिणी रूस में इकट्ठा होकर बोल्शेविकों ('रेड्स') से लड़ने के लिए टुकड़ियाँ संगठित करने लगे। 1918 और 1919 में रूसी साम्राज्य के ज़्यादातर हिस्सों पर सामाजिक क्रांतिकारियों ('ग्रीन्स') और ज़ार-समर्थकों ('व्हाइट्स') का ही नियंत्रण रहा। उन्हें फ़्रांसीसी, अमेरिकी, ब्रिटिश और जापानी टुकड़ियों का भी समर्थन मिल रहा था। ये सभी शक्तियाँ रूस में समाजवाद को फलते-फूलते नहीं देखना चाहती थीं। इन टुकड़ियों और बोल्शेविकों के बीच चले गृह युद्ध के दौरान लूटमार, डकैती और भुखमरी जैसी समस्याएँ बड़े पैमाने पर फैल गईं।

'व्हाइट्स' में जो निजी संपत्ति के हिमायती थे उन्होंने ज़मीन पर कब्ज़ा करने वाले किसानों के खिलाफ़ काफ़ी सख्त रवैया अपनाया। उनकी इन

क्रियाकलाप

ग्रामीण इलाकों में हुई क्रांति के बारे में दोनों दृष्टिकोणों को पढ़िए। कल्पना कीजिए कि आप इन घटनाओं के साक्षी हैं। निम्नलिखित की नज़र से इन घटनाओं का ब्यौरा लिखिए :

- एस्टेट मालिक
- छोटा किसान
- पत्रकार

क्रियाकलाप

स्रोत ख को देखें और बताएँ कि रूसी क्रांति पर मध्य एशिया के लोगों की प्रतिक्रिया इतनी अलग-अलग क्यों थी?

हरकतों के कारण तो गैर-बोल्शेविकों के प्रति जनसमर्थन और भी तेजी से घटने लगा। जनवरी 1920 तक भूतपूर्व रूसी साम्राज्य के ज़्यादातर हिस्सों पर बोल्शेविकों का नियंत्रण कायम हो चुका था। उन्हें गैर-रूसी राष्ट्रवादियों और मुस्लिम *जदीदियों* की मदद से यह कामयाबी मिली थी। जहाँ रूसी उपनिवेशवादी ही बोल्शेविक विचारधारा के अनुयायी बन गए थे, वहाँ यह मदद काम नहीं आ सकी। मध्य एशिया स्थित खीवा में बोल्शेविक उपनिवेशकों ने समाजवाद की रक्षा के नाम पर स्थानीय राष्ट्रवादियों का बड़े पैमाने पर कत्लेआम किया। ऐसे हालात में बहुत सारे लोगों को यह समझ में नहीं आ रहा था कि बोल्शेविक सरकार क्या चाहती है।

आंशिक रूप से इसी समस्या से निपटने के लिए ज़्यादातर गैर-रूसी राष्ट्रीयताओं को सोवियत संघ (यूएसएसआर)-दिसंबर 1922 में रूसी साम्राज्य में से बोल्शेविकों द्वारा स्थापित किया गया राज्य-के अंतर्गत राजनीतिक **स्वायत्तता** दे दी गई। लेकिन, क्योंकि बोल्शेविकों ने स्थानीय सरकारों पर कई अलोकप्रिय और सख्त नीतियाँ - जैसे, **घुमंतूवाद** की रोकथाम की कड़ी कोशिशें - थोप दी थीं इसलिए विभिन्न राष्ट्रीयताओं का विश्वास जीतने के प्रयास आंशिक रूप से ही सफल हो पाए।

4.2 समाजवादी समाज का निर्माण

गृह युद्ध के दौरान बोल्शेविकों ने उद्योगों और बैंकों के राष्ट्रीयकरण को जारी रखा। उन्होंने किसानों को उस ज़मीन पर खेती की छूट दे दी जिसका समाजीकरण किया जा चुका था। ज़ब्त किए गए खेतों का इस्तेमाल बोल्शेविक यह दिखाने के लिए करते थे कि सामूहिकता क्या होती है।

शासन के लिए केंद्रीकृत नियोजन की व्यवस्था लागू की गई। अफ़सर इस बात का हिसाब लगाते थे कि अर्थव्यवस्था किस तरह काम कर सकती है। इस आधार पर वे पाँच साल के लिए लक्ष्य तय कर देते थे। इसी आधार पर उन्होंने पंचवर्षीय योजनाएँ बनानी शुरू कीं। पहली दो 'योजनाओं' (1927-1932 और 1933-1938) के दौरान औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने सभी तरह की कीमतें स्थिर कर दीं। केंद्रीकृत नियोजन से आर्थिक विकास को काफी गति मिली। औद्योगिक उत्पादन बढ़ने लगा (1929 से 1933 के बीच तेल, कोयले और स्टील के उत्पादन में 100 प्रतिशत वृद्धि हुई)। नए-नए औद्योगिक शहर अस्तित्व में आए।

मगर, तेज निर्माण कार्यों के दबाव में **कार्यस्थितियाँ** खराब होने लगीं। मैग्नीटोगोर्स्क शहर में एक स्टील संयंत्र का निर्माण कार्य तीन साल के भीतर पूरा कर लिया गया। इस दौरान मज़दूरों को बड़ी सख्त ज़िंदगी गुज़ारनी पड़ी जिसका नतीजा ये हुआ कि पहले ही साल में 550 बार काम रुका। रिहायशी क्वार्टरों में 'जाड़ों में शौचालय जाने के लिए 40 डिग्री कम तापमान पर लोग चौथी मंज़िल से उतर कर सड़क के पार दौड़कर जाते थे।'

एक विस्तारित शिक्षा व्यवस्था विकसित की गई और फ़ैक्ट्री कामगारों एवं किसानों को विश्वविद्यालयों में दाखिला दिलाने के लिए खास इंतजाम किए

स्रोत ख

अक्तूबर क्रांति के समय मध्य एशिया : दो दृष्टिकोण

एम. एन. रॉय भारतीय क्रांतिकारी, मैक्सिकन कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक और भारत, चीन व यूरोप में कॉमिन्टर्न के एक प्रमुख नेता थे। 1920 के दशक में जब रूस में गृह युद्ध चल रहा था उस समय वे मध्य एशिया में थे। उन्होंने लिखा :

'मुखिया एक भला-सा बुज़ुर्ग था...। उसका सहायक . .. एक नौजवान ... जो रूसी भाषा बोलता था। ... उसे क्रांति के बारे में पता था जिसमें ज़ार को राजगद्दी से हटा दिया गया था और उन जनरलों को भी खदेड़ दिया था जिन्होंने किर्गिज़ों की मातृभूमि पर कब्ज़ा किया था। इस प्रकार क्रांति का मतलब था कि अब किर्गीज़ (किर्गिस्तान) लोग एक बार फिर अपनी मातृभूमि के स्वामी बन गए थे। जन्मजात बोल्शेविक से लगने वाले युवक ने हुंकार लगाई "इंकलाब जिंदाबाद"। पूरा कबीला उसके साथ नारे लगाने लगा।'

एम. एन. रॉय, *मेमॉयर्स* (1964)।

'किर्गीज़ लोग पहली क्रांति (यानी फरवरी क्रांति) पर खुशी से झूम उठे और दूसरी क्रांति की खबर से वे अचंभे और दहशत में डूब गए। ... पहली क्रांति ने उन्हें ज़ार के दमनकारी शासन से आज़ाद कराया था और ये उम्मीद जगायी थी कि ... उन्हें स्वायत्तता मिल जाएगी। दूसरी क्रांति (अक्तूबर क्रांति) हिंसा, लूटपाट, करों के बोझ और तानाशाही सत्ता की स्थापना के साथ आयी। ... पहले एक बार ज़ार के नौकरशाहों के छोटे से गुट ने किर्गिज़ों का दमन किया था। अब वही लोग ... उसी व्यवस्था को आगे बढ़ा रहे हैं...।'

एक कज़ाक नेता (1919), अलेक्ज़ेंडर बेनिगसन एवं चांताल केलकेजे, *ले मॉवमेंत्स नेशनाँ शेज़ ले मुसुलमान्स दे रूसी,* (1960) में उद्धृत।

नए शब्द

स्वायत्तता: अपना शासन स्वयं चलाने का अधिकार।

घुमंतू: ऐसे लोग जो किसी एक जगह ठहर कर नहीं रहते बल्कि अपनी आजीविका की खोज में एक जगह से दूसरी जगह आते-जाते रहते हैं।

कार्यस्थितियाँ: काम के हालात।

चित्र 14 - कारखानों को समाजवाद के प्रतीक की तरह माना जाता था.
पोस्टर में लिखा है : 'चिमनियों से निकलता धुआँ ही सोवियत रूस की साँस है।'

चित्र 15 - तीस के दशक में सोवियत रूस के एक स्कूल में पढ़ते बच्चे.
बच्चे सोवियत अर्थव्यवस्था का अध्ययन कर रहे हैं।

चित्र 16 - पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान मैग्नीटोगोर्स्क का एक बच्चा.
यह बच्चा सोवियत रूस के लिए काम कर रहा है।

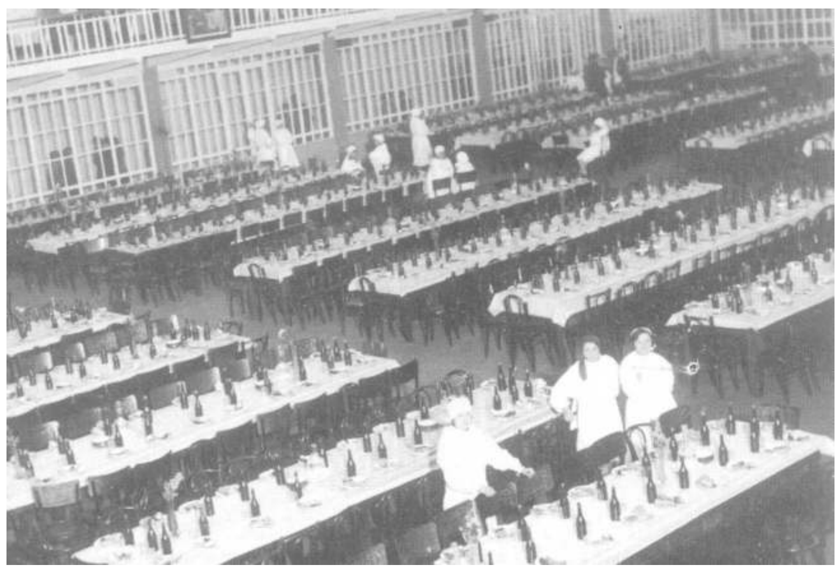

चित्र 17 - तीस के दशक में एक कारखाने का भोजन कक्ष.

बॉक्स 4

यूक्रेन के एक गांव में समाजवादी खेती

'दो (कब्ज़ा किए गए) खेतों को लेकर एक कम्यून बनाया गया। कम्यून में कुल तेरह परिवार और सत्तर लोग थे। ... खेतों से हासिल किए गए कृषि उपकरणों को ... कम्यून के हवाले कर दिया गया। ... सभी सदस्य सामूहिक भोजनालय में खाना खाते थे। ''सहकारी साम्यवाद'' के सिद्धांत के आधार पर आमदनी को सबके बीच बाँट लिया जाता था। सदस्यों के श्रम से होने वाली सारी आय और कम्यून के पास मौजूद सारे रिहायशी मकानों और सुविधाओं का कम्यून के सदस्य मिलकर इस्तेमाल करते थे।'

फ़ेदोर बेलोव, द *हिस्ट्री ऑफ ए सोवियत कलेक्टिव फ़ार्म* (1955)।

गए। महिला कामगारों के बच्चों के लिए फ़ैक्ट्रियों में बालवाड़ियाँ खोल दी गईं। सस्ती स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध करायी गई। मज़दूरों के लिए आदर्श रिहायशी मकान बनाए गए। लेकिन इन सारी कोशिशों के नतीजे सभी जगह एक जैसे नहीं रहे क्योंकि सरकारी संसाधन सीमित थे।

4.3 स्तालिनवाद और सामूहिकीकरण

नियोजित अर्थव्यवस्था का शुरुआती दौर खेती के सामूहिकीकरण से पैदा हुई तबाही से जुड़ा हुआ था। 1927-1928 के आसपास रूस के शहरों में अनाज का भारी संकट पैदा हो गया था। सरकार ने अनाज की कीमत तय कर दी थी। उससे ज़्यादा कीमत पर कोई अनाज नहीं बेच सकता था। लेकिन किसान उस कीमत पर सरकार को अनाज बेचने के लिए तैयार नहीं थे।

लेनिन के बाद पार्टी की कमान संभाल रहे स्तालिन ने स्थिति से निपटने के लिए कड़े कदम उठाए। उन्हें लगता था कि अमीर किसान और व्यापारी कीमत बढ़ने की उम्मीद में अनाज नहीं बेच रहे हैं। स्थिति पर काबू पाने के लिए सट्टेबाज़ी पर अंकुश लगाना और व्यापारियों के पास जमा अनाज को जब्त करना ज़रूरी था। 1928 में पार्टी के सदस्यों ने अनाज उत्पादक इलाकों का दौरा किया। उन्होंने किसानों से जबरन अनाज खरीदा और 'कुलकों' के ठिकानों पर छापे मारे। रूस में संपन्न किसानों को कुलक कहा जाता था। जब इसके बाद भी अनाज की कमी बनी रही तो खेतों के सामूहिकीकरण का फ़ैसला लिया गया। इस फैसले के पक्ष में एक तर्क यह दिया गया कि अनाज की कमी इसलिए है क्योंकि खेत बहुत छाटे-छोटे हैं। 1917 के बाद ज़मीन किसानों को सौंप दी गई थी। फलस्वरूप ज़्यादातर किसानों के पास छोटे खेत थे जिनका आधुनिकीकरण नहीं किया जा सकता था। आधुनिक खेत विकसित करने और उन पर मशीनों की सहायता से औद्योगिक खेती करने के लिए 'कुलकों का सफ़ाया' करना, किसानों से ज़मीन छीनना और राज्य नियंत्रित यानी सरकारी नियंत्रण वाले विशालकाय खेत बनाना ज़रूरी माना गया।

इसी के बाद स्तालिन का सामूहिकीकरण कार्यक्रम शुरू हुआ। 1929 से पार्टी ने सभी किसानों को सामूहिक खेतों (*कोलखोज*) में काम करने का आदेश जारी कर दिया। ज़्यादातर ज़मीन और साज़ो-सामान सामूहिक खेतों के स्वामित्व में सौंप दिए गए। सभी किसान सामूहिक खेतों पर काम करते थे और *कोलखोज़* के मुनाफ़े को सभी किसानों के बीच बाँट दिया जाता था। इस फ़ैसले से गुस्साए किसानों ने सरकार का विरोध किया और वे अपने जानवरों को खत्म करने लगे। 1929 से 1931 के बीच मवेशियों की संख्या में एक-तिहाई कमी आ गई। सामूहिकीकरण का विरोध करने वालों को सख्त सज़ा दी जाती थी। बहुत सारे लोगों को निर्वासन या देश-निकाला दे दिया गया। सामूहिकीकरण का विरोध करने वाले किसानों का कहना था कि वे न तो अमीर हैं और न ही समाजवाद के विरोधी हैं। वे बस विभिन्न कारणों से

स्रोत ग

1933 में सोवियत बचपन के स्वप्न और यथार्थ

प्रिय दादाजी कालीनिन ...
मेरा परिवार बड़ा है, चार बच्चे हैं। हमारे पिता अब नहीं हैं, वे मज़दूरों के लिए लड़ते हुए मारे गए थे... और मेरी माँ ... बीमार हैं। ... मैं बहुत पढ़ना चाहता हूँ, पर स्कूल नहीं जा सकता। मेरे पास पुराने जूते थे पर अब वह इतने फट चुके हैं कि कोई उनकी मरम्मत नहीं कर सकता। मेरी माँ बीमार हैं, हमारे पास न तो पैसा है और न ही रोटी; पर मैं पढ़ना बहुत चाहता हूँ। ...हमारे सामने पढ़ने, पढ़ने और बस पढ़ने की जिम्मेदारी है। व्लादिमीर इलीच लेनिन ने यही कहा है। पर मुझे स्कूल जाना छोड़ना पड़ेगा। हमारा कोई रिश्तेदार नहीं है, कोई भी हमारी मदद नहीं कर सकता, इसलिए मुझे फ़ैक्ट्री में काम करना पड़ेगा ताकि मेरा परिवार भूखों मरने से बच जाए। प्रिय दादाजी, मैं 13 साल का हूँ, पढ़ाई में अव्वल आता हूँ और मेरी कोई खराब रिपोर्ट नहीं है। मैं पाँचवीं कक्षा में पढ़ता हूँ...।

सोवियत राष्ट्रपति कालिनिन के नाम 13 वर्षीय एक मज़दूर बालक द्वारा 1933 में लिखा गया पत्र।

वी. सोकोलोव (सं.), *ऑब्शचेस्त्वो I व्लास्त, वी 1930-ये गोदी* (मास्को, 1997)।

चित्र 18 - सामूहिकीकरण के दौर का एक पोस्टर.
इसमें लिखा है : 'हम खेती में कमी लाने वाले कुलक पर वार करेंगे।'

सामूहिक खेतों पर काम नहीं करना चाहते थे। स्तालिन सरकार ने सीमित स्तर पर स्वतंत्र किसानी की व्यवस्था भी जारी रहने दी लेकिन ऐसे किसानों को कोई खास मदद नहीं दी जाती थी।

सामूहिकीकरण के बावजूद उत्पादन में नाटकीय वृद्धि नहीं हुई। बल्कि 1930–1933 की खराब फ़सल के बाद तो सोवियत इतिहास का सबसे बड़ा अकाल पड़ा जिसमें 40 लाख से ज़्यादा लोग मारे गए।

पार्टी में भी बहुत सारे लोग नियोजित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत औद्योगिक उत्पादन में पैदा हो रहे भ्रम और सामूहिकीकरण के परिणामों की आलोचना करने लगे थे। स्तालिन और उनके सहयोगियों ने ऐसे आलोचकों पर समाजवाद के खिलाफ़ साजिश रचने का आरोप लगाया। देश भर में बहुत सारे लोगों पर इसी तरह के आरोप लगाए गए और 1939 तक आते-आते 20 लाख से ज़्यादा लोगों को या तो जेलों में या श्रम शिविरों में भेज दिया गया था। ज़्यादातर लोगों ने ऐसा कोई अपराध नहीं किया था लेकिन उनकी सुनने वाला कोई नहीं था। बहुत सारे लोगों को यातनाएँ दे-देकर उनसे इस आशय के बयान लिखवा लिए गए कि उन्होंने समाजवाद के विरुद्ध साज़िश में हिस्सा लिया है और इसी आधार पर उन्हें मार दिया गया। इनमें कई प्रतिभावान पेशेवर लोग थे।

स्रोत घ

सामूहिकीकरण के विरोध और सरकार की प्रतिक्रिया का सरकारी विवरण

'इस साल फरवरी के दूसरे पखवाड़े से यूक्रेन के विभिन्न क्षेत्रों में ... किसानों ने बड़े पैमाने पर विद्रोह किए हैं। यह स्थिति सामूहिकीकरण के क्रियान्वयन के दौरान पार्टी के निचले कार्यकर्ताओं द्वारा पार्टी लाइन को ठीक से लागू न किए जाने और गर्मियों में होने वाली कटाई की तैयारियों का परिणाम है।

बहुत थोड़े से समय में उपरोक्त क्षेत्रों में चल रही गतिविधियाँ आसपास के इलाकों में भी फैल गई हैं। सबसे आक्रामक विद्रोह सीमावर्ती इलाकों में हुए हैं।

विद्रोही किसानों का ज़्यादा ज़ोर इस बात पर है कि सामूहिकीकरण के कारण उनसे छीन लिया गया अनाज, मवेशी और औज़ार ... उन्हें लौटा दिए जाएँ।

1 फरवरी से 15 मार्च के बीच 25,000 गिरफ़्तारियाँ हो चुकी हैं ... 656 को मृत्युदंड दिया गया है, 3,673 को श्रम शिविरों में बंद कर दिया गया है और 5,580 को देश निकाला दिया गया है ...।'

यूक्रेन राज्य पुलिस प्रशासन के प्रमुख के. एम. कार्लसन द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति को भेजी गई रिपोर्ट, 19 मार्च 1930.

वी. सोकोलोव (सं.), *ऑब्शचेस्त्वो I व्लास्त, वी 1930-ये गोदी।*

स्रोत च

यह एक ऐसे किसान द्वारा लिखा गया पत्र है जो सामूहिक खेत में काम नहीं करना चाहता।

उसने *क्रस्तियान्स्काया गज़ेटा* (कृषक समाचारपत्र) को यह खत लिखा था।

' ... मैं स्वाभाविक रूप से खेती करने वाला किसान हूँ। मेरा जन्म 1879 में हुआ था ... मेरे परिवार में 6 सदस्य हैं। मेरी पत्नी की पैदाइश 1871 की है। मेरा बेटा 16 साल का और दो बेटियाँ 19 साल की हैं। तीनों बच्चे स्कूल जाते हैं, मेरी बहन 71 साल की है। 1932 से मेरे ऊपर इतने भारी कर थोप दिए गए हैं कि उन्हें चुकाना असंभव है। 1935 में तो स्थानीय अफ़सरों ने कर और भी बढ़ा दिए ... मैं इतना कर नहीं चुका पाया और मेरी सारी संपत्ति कुर्क कर ली गई : मेरा घोड़ा, गाय, बछड़ा, भेड़, मेमने, सारे औज़ार, फ़र्नीचर और घर की मरम्मत के लिए रखी लकड़ी, सब कुछ कुर्क करके बेच डाला। 1936 में उन्होंने मेरी दो इमारतें बेच दीं ... कोलखोज़ ने ही उन्हें खरीद लिया। 1937 में मेरी दोनों झोपड़ियों में से भी एक बेच दी गई और दूसरी को ज़ब्त कर लिया गया ...।'

वी. सोकोलोव (सं.), *ऑब्शचेस्त्वो I व्लास्त, वी 1930-ये गोदी।*

चित्र 19 - विशाल सामूहिक फ़ार्मों में काम करने के लिए जुटी किसान औरतें.

5 रूसी क्रांति और सोवियत संघ का वैश्विक प्रभाव

बोल्शेविकों ने जिस तरह सत्ता पर कब्ज़ा किया था और जिस तरह उन्होंने शासन चलाया उसके बारे में यूरोप की समाजवादी पार्टियाँ बहुत सहमत नहीं थीं। लेकिन मेहनतकशों के राज्य की स्थापना की संभावना ने दुनिया भर के लोगों में एक नई उम्मीद जगा दी थी। बहुत सारे देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का गठन किया गया – जैसे, इंग्लैंड में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन की स्थापना की गई। बोल्शेविकों ने उपनिवेशों की जनता को भी उनके रास्ते का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित किया। सोवियत संघ के अलावा भी बहुत सारे देशों के प्रतिनिधियों ने कॉन्फ्रेंस ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ दि ईस्ट (1920) और बोल्शेविकों द्वारा बनाए गए कॉमिन्टर्न (बोल्शेविक समर्थक समाजवादी पार्टियों का अंतर्राष्ट्रीय महासंघ) में हिस्सा लिया था। कुछ विदेशियों को सोवियत संघ की कम्युनिस्ट युनिवर्सिटी ऑफ़ द वर्कर्स ऑफ़ दि ईस्ट में शिक्षा दी गई। जब दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हुआ तब तक सोवियत संघ की वजह से समाजवाद को एक वैश्विक पहचान और हैसियत मिल चुकी थी। लेकिन पचास के दशक तक देश के भीतर भी लोग यह समझने लगे थे कि सोवियत संघ की शासन शैली रूसी क्रांति के आदर्शों के अनुरूप नहीं है। विश्व समाजवादी आंदोलन में भी इस बात को मान लिया गया था कि सोवियत संघ में सब कुछ ठीक-ठाक नहीं चल रहा है। एक पिछड़ा हुआ देश महाशक्ति बन चुका था। उसके उद्योग और खेती विकसित हो चुके थे और गरीबों को भोजन मिल रहा था। लेकिन वहाँ के नागरिकों को कई तरह की आवश्यक स्वतंत्रता नहीं दी जा रही थी और विकास परियोजनाओं को दमनकारी नीतियों के बल पर लागू किया गया था। बीसवीं सदी के अंत तक एक समाजवादी देश के रूप में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सोवियत संघ की प्रतिष्ठा काफी कम रह गई थी हालाँकि वहाँ के लोग अभी भी समाजवाद के आदर्शों का सम्मान करते थे। लेकिन सभी देशों में समाजवाद के बारे में विविध प्रकार से व्यापक पुनर्विचार किया गया।

LENIN NUMBER

INDO-SOVIET JOURNAL

FORTNIGHTLY ORGAN OF THE BENGAL FRIENDS OF THE SOVIET UNION

Editor—HIREN MUKERJEE

2 No. 6 Two Annas

BALLAD OF LENIN

By Langston Hughes

***चित्र 20** - इंडो-सोवियत जर्नल का लेनिन **विशेषांक**.*
दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय कम्युनिस्टों ने सोवियत संघ के लिए जनमत निर्माण किया।

बॉक्स 5

रूसी क्रांति से प्रेरित होने वालों में बहुत सारे भारतीय भी थे। उनमें से कई ने कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। 1920 के दशक में भारत में भी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन कर लिया गया। इस पार्टी के सदस्य सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के संपर्क में रहते थे। कई महत्त्वपूर्ण भारतीय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक व्यक्तियों ने सोवियत प्रयोग में दिलचस्पी ली और वहाँ का दौरा किया। रूस जाने वाले भारतीयों में जवाहर लाल नेहरू और रवीन्द्रनाथ टैगोर भी थे जिन्होंने सोवियत समाजवाद के बारे में लिखा भी। भारतीय लेखन में सोवियत रूस की अलग-अलग छवियाँ दिखाई देती थीं। हिंदी में आर.एस. अवस्थी ने 1920-21 में *रशियन रेवल्यूशन, लेनिन, हिज़ लाइफ़ ऐन्ड हिज़ थॉट्स* और द *रेड रेवल्यूशन* नामक किताबें लिखीं। उनके अलावा एस. डी. विद्यालंकार ने द *रीबर्थ ऑफ रशिया* तथा द *सोवियत स्टेट ऑफ रशिया* नामक पुस्तकें लिखीं। इन विषयों पर बंगाली, मराठी, मलयालम, तमिल और तेलुगु में भी बहुत कुछ लिखा गया।

स्रोत छ

सोवियत रूस में एक भारतीय, 1920

'अपनी जिंदगी में पहली बार हम लोग यूरोपियों को एशियाइयों के साथ मुक्त भाव से मिलते-बतियाते देख रहे थे। जब हमने रूसियों को देश के बाकी लोगों के साथ सहज भाव से घुलते-मिलते देखा तो हमें यकीन हो गया कि हम सच्ची समानता की दुनिया में आ पहुँचे हैं।

हमें स्वतंत्रता सही मायनों में साकार होती दिखायी दे रही थी। **प्रतिक्रांतिकारियों** और साम्राज्यवादियों की हरकतों से पैदा हुई गरीबी के बावजूद लोग-बाग पहले से ज़्यादा खुश और संतुष्ट दिखायी दे रहे थे। क्रांति ने उनमें आत्मविश्वास और निडरता भर दी है। पचास अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के लोगों के बीच मानवता का असली भाईचारा यहीं साकार होने वाला है। जाति या धर्म की कोई सीमा उन्हें एक-दूसरे के साथ घुलने-मिलने से नहीं रोक रही थी। हर जीव को एक कुशल वक्ता बना दिया गया है। आप वहाँ मज़दूरों, किसानों और सिपाहियों, सभी को पेशेवर वक्ता की तरह बहस करते देख सकते हैं।'

शौकत उस्मानी, *हिस्टॉरिक ट्रिप्स ऑफ़ ए रेवल्यूशनरी।*

स्रोत ज

रूस से रबीन्द्रनाथ टैगोर, 1930

'मास्को बाकी यूरोपीय राजधानियों के मुकाबले कम साफ़-सुथरा दिखाई देता है। सड़क पर भागम-भाग में लगा कोई व्यक्ति बहुत स्मार्ट नहीं लगता। सारी जगह मज़दूरों की है। ... यहाँ आम जनता रईसों के साए में किसी तरह दबती दिखाई नहीं देती। जो लोग सदियों से नेपथ्य में छिपे हुए थे आज सामने आ खड़े हुए हैं। ... मैं अपने देश के किसानों और मज़दूरों के बारे में सोचने लगा। मेरे सामने जो कुछ था उसे देखकर लगता था कि यह अरेबियन नाइट्स के किसी जिन्न की करामात है। (यहाँ) महज़ एक दशक पहले ये भी हमारे लोगों जितने ही अनपढ़, लाचार और भूखे थे। ... ये देख कर मेरे जैसे अभागे हिंदुस्तानी से ज़्यादा अचंभा और भला किसको होगा कि इन लोगों ने इतने थोड़े से सालों में अज्ञानता और बेसहारेपन के पहाड़ को उतार फेंका है।'

नए शब्द

प्रतिक्रांतिकारी: क्रांति-विरोधी।

क्रियाकलाप

शौकत उस्मानी और रबीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा लिखे गए उद्धरणों की तुलना कीजिए। उन्हें स्रोत ग, घ और च के साथ मिला कर पढ़िए और बताइए कि -

- भारतीयों को सोवियत संघ में सबसे प्रभावशाली बात क्या दिखायी दी?
- ये लेखक किस चीज़ को नहीं देख पाए?

क्रियाकलाप

1. कल्पना कीजिए कि एक मज़दूर के तौर पर आपने 1905 की हड़ताल में हिस्सा लिया है और उसके लिए अदालत में आप पर मुकदमा चलाया जा रहा है। मुकदमे के दौरान अपने बचाव में आप क्या कहेंगे? अपना वक्तव्य तैयार कीजिए और कक्षा में वही भाषण दीजिए।
2. निम्नलिखित अखबारों के लिए 24 अक्तूबर 1917 के विद्रोह के बारे में शीर्षक सहित एक छोटी-सी खबर तैयार कीजिए :
   - फ़्रांस के एक रूढ़िवादी अखबार के लिए
   - ब्रिटेन के एक रैडिकल अखबार के लिए
   - रूस के एक बोल्शेविक अखबार के लिए
3. मान लीजिए कि सामूहिकीकरण हो चुका है और आप रूस के एक मँझोले गेहूँ उत्पादक किसान हैं। आप सामूहिकीकरण के बारे में अपनी आपत्तियाँ व्यक्त करते हुए स्तालिन को एक पत्र लिखना चाहते हैं। अपनी जीवन परिस्थितियों के बारे में आप क्या लिखेंगे? आपकी राय में ऐसे किसान का पत्र पाकर स्तालिन की क्या प्रतिक्रिया होती?

क्रियाकलाप

प्रश्न

?

1. रूस के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हालात 1905 से पहले कैसे थे?
2. 1917 से पहले रूस की कामकाजी आबादी यूरोप के बाकी देशों के मुकाबले किन-किन स्तरों पर भिन्न थी?
3. 1917 में ज़ार का शासन क्यों खत्म हो गया?
4. दो सूचियाँ बनाइए : एक सूची में फरवरी क्रांति की मुख्य घटनाओं और प्रभावों को लिखिए और दूसरी सूची में अक्तूबर क्रांति की प्रमुख घटनाओं और प्रभावों को दर्ज कीजिए।
5. बोल्शेविकों ने अक्तूबर क्रांति के फ़ौरन बाद कौन-कौन-से प्रमुख परिवर्तन किए?
6. निम्नलिखित के बारे में संक्षेप में लिखिए :
   - कुलक
   - ड्यूमा
   - 1900 से 1930 के बीच महिला कामगार
   - उदारवादी
   - स्तालिन का सामूहिकीकरण कार्यक्रम

नात्सीवाद और हिटलर का उदय

1945 के वसंत में हेलमुट नामक 11 वर्षीय जर्मन लड़का बिस्तर में लेटे कुछ सोच रहा था। तभी उसे अपने माता-पिता की दबी-दबी सी आवाज़ें सुनाई दीं। हेलमुट कान लगा कर उनकी बातचीत सुनने की कोशिश करने लगा। वे गंभीर स्वर में किसी मुद्दे पर बहस कर रहे थे। हेलमुट के पिता एक जाने-माने चिकित्सक थे। उस वक्त वे अपनी पत्नी से इस बारे में बात कर रहे थे कि क्या उन्हें पूरे परिवार को खत्म कर देना चाहिए या अकेले आत्महत्या कर लेनी चाहिए। उन्हें अपना भविष्य सुरक्षित दिखाई नहीं दे रहा था। वे घबराहट भरे स्वर में कह रहे थे, "अब **मित्र राष्ट्र** भी हमारे साथ वैसा ही बर्ताव करेंगे जैसा हमने अपाहिजों और यहूदियों के साथ किया था।" अगले दिन वे हेलमुट को लेकर बाग में घूमने गए। यह आखिरी मौका था जब हेलमुट अपने पिता के साथ बाग में गया। दोनों ने बच्चों के पुराने गीत गाए और खूब सारा वक्त खेलते-कूदते बिताया। कुछ समय बाद हेलमुट के पिता ने अपने दफ़्तर में खुद को गोली मार ली। हेलमुट की यादों में वह क्षण अभी भी ज़िंदा है जब उसके पिता की खून में सनी वर्दी को घर के अलाव में ही जला दिया गया था। हेलमुट ने जो कुछ सुना था और जो कुछ हुआ, उससे उसके दिलोदिमाग पर इतना गहरा सदमा पहुँचा कि अगले नौ साल तक वह घर में एक कौर भी नहीं खा पाया। उसे यही डर सताता रहा कि कहीं उसकी माँ उसे भी ज़हर न दे दे।

हेलमुट को शायद समझ में न आया हो लेकिन हकीकत यह है कि उसके पिता 'नात्सी' थे। वे एडॉल्फ़ हिटलर के कट्टर समर्थक थे। आप में से कई बच्चे नात्सियों और उनके नेता हिटलर के बारे में जानते होंगे। आपको शायद पता होगा कि हिटलर जर्मनी को दुनिया का सबसे ताकतवर देश बनाने को कटिबद्ध था। वह पूरे यूरोप को जीत लेना चाहता था। आपने यह भी सुना होगा कि उसने यहूदियों को मरवाया था। लेकिन नात्सीवाद सिर्फ़ इन इक्का-दुक्का घटनाओं का नाम नहीं है। यह दुनिया और राजनीति के बारे में एक संपूर्ण व्यवस्था, विचारों की एक पूरी संरचना का नाम है। आइए, समझने की कोशिश करें कि नात्सीवाद का मतलब क्या था। इस सिलसिले में सबसे पहले हम यह देखेंगे कि हेलमुट के पिता ने आत्महत्या क्यों की थी; वे किस चीज़ से डरे हुए थे।

मई 1945 में जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों के सामने समर्पण कर दिया। हिटलर को अंदाज़ा हो चुका था कि अब उसकी लड़ाई का क्या हश्र होने वाला है। इसलिए, हिटलर और उसके प्रचार मंत्री ग्योबल्स ने बर्लिन के एक बंकर में पूरे परिवार के साथ अप्रैल में ही आत्महत्या कर ली थी। युद्ध खत्म होने के बाद न्यूरेम्बर्ग में एक अंतर्राष्ट्रीय सैनिक अदालत स्थापित की गई। इस अदालत को शांति के विरुद्ध किए गए अपराधों, मानवता के खिलाफ़ किए गए अपराधों और युद्ध अपराधों के लिए नात्सी युद्धबंदियों पर मुकदमा चलाने

चित्र 1 – हिटलर (मध्य) और ग्योबल्स (बाएँ) सरकारी बैठक के बाद बाहर निकलते हुए, 1932.

नए शब्द

मित्र राष्ट्र : मित्र राष्ट्रों का नेतृत्व शुरू में ब्रिटेन और फ्रांस के हाथों में था। 1941 में सोवियत संघ और अमेरिका भी इस गठबंधन में शामिल हो गए। उन्होंने धुरी शक्तियों यानी जर्मनी, इटली और जापान का मिल कर सामना किया।

का ज़िम्मा सौंपा गया था। युद्ध के दौरान जर्मनी के व्यवहार, खासतौर से इंसानियत के खिलाफ़ किए गए उसके अपराधों की वजह से कई गंभीर नैतिक सवाल खड़े हुए और उसके कृत्यों की दुनिया भर में निंदा की गई। ये कृत्य क्या थे?

दूसरे विश्वयुद्ध के साए में जर्मनी ने जनसंहार शुरू कर दिया जिसके तहत यूरोप में रहने वाले कुछ खास नस्ल के लोगों को सामूहिक रूप से मारा जाने लगा। इस युद्ध में मारे गए लोगों में 60 लाख यहूदी, 2 लाख जिप्सी और 10 लाख पोलैंड के नागरिक थे। साथ ही मानसिक व शारीरिक रूप से अपंग घोषित किए गए 70,000 जर्मन नागरिक भी मार डाले गए। इनके अलावा न जाने कितने ही राजनीतिक विरोधियों को भी मौत की नींद सुला दिया गया। इतनी बड़ी तादाद में लोगों को मारने के लिए औषवित्स जैसे कत्लखाने बनाए गए जहाँ ज़हरीली गैस से हज़ारों लोगों को एक साथ मौत के घाट उतार दिया जाता था। न्यूरेम्बर्ग अदालत ने केवल 11 मुख्य नात्सियों को ही मौत की सज़ा दी। बाकी आरोपियों में से बहुतों को उम्र कैद की सज़ा सुनाई गई। सज़ा तो मिली लेकिन नात्सियों को जो सज़ा दी गई वह उनकी बर्बरता और उनके ज़ुल्मों के मुकाबले बहुत छोटी थी। असल में, मित्र राष्ट्र पराजित जर्मनी पर इस बार वैसा कठोर दंड नहीं थोपना चाहते थे जिस तरह का दंड पहले विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी पर थोपा गया था।

बहुत सारे लोगों का मानना था कि पहले विश्वयुद्ध के आखिर में जर्मनी के लोग जिस तरह के अनुभव से गुज़रे उसने भी नात्सी जर्मनी के उदय में योगदान दिया था।

यह अनुभव क्या था?

नात्सी शब्द जर्मन भाषा के शब्द 'नात्सियोणाल' के प्रारंभिक अक्षरों को लेकर बनाया गया है। 'नात्सियोणाल' शब्द हिटलर की पार्टी के नाम का पहला शब्द था इसलिए इस पार्टी के लोगों को नात्सी कहा जाता था।

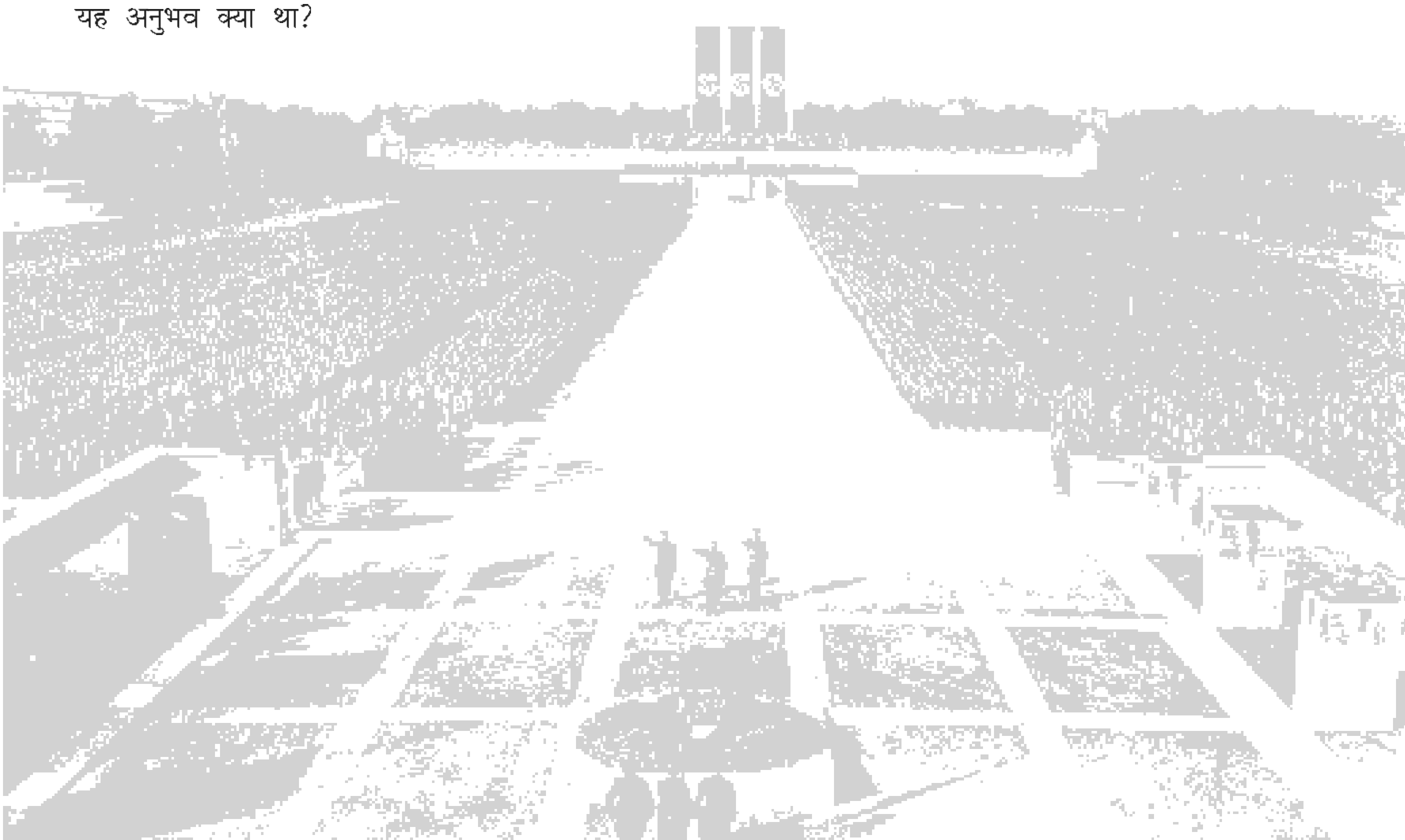

1 वाइमर गणराज्य का जन्म

बीसवीं शताब्दी के शुरुआती सालों में जर्मनी एक ताकतवर साम्राज्य था। उसने ऑस्ट्रियाई साम्राज्य के साथ मिलकर मित्र राष्ट्रों (इंग्लैंड, फ़्रांस और रूस) के खिलाफ़ पहला विश्वयुद्ध (1914-1918) लड़ा था। दुनिया की सभी बड़ी शक्तियाँ यह सोच कर इस युद्ध में कूद पड़ी थीं कि उन्हें जल्दी ही विजय मिल जाएगी। सभी को किसी-न-किसी फ़ायदे की उम्मीद थी। उन्हें अंदाज़ा नहीं था कि यह युद्ध इतना लंबा खिंच जाएगा और पूरे यूरोप को आर्थिक दृष्टि से निचोड़ कर रख देगा। फ़्रांस और बेल्जियम पर क़ब्ज़ा करके जर्मनी ने शुरुआत में सफलताएँ हासिल कीं लेकिन 1917 में जब अमेरिका भी मित्र राष्ट्रों में शामिल हो गया तो इस ख़ेमे को काफ़ी ताकत मिली और आखिरकार, नवंबर 1918 में उन्होंने केंद्रीय शक्तियों को हराने के बाद जर्मनी को भी घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया।

साम्राज्यवादी जर्मनी की पराजय और सम्राट के पदत्याग ने वहाँ की संसदीय पार्टियों को जर्मन राजनीतिक व्यवस्था को एक नए साँचे में ढालने का अच्छा मौका उपलब्ध कराया। इसी सिलसिले में वाइमर में एक राष्ट्रीय सभा की बैठक बुलाई गई और संघीय आधार पर एक लोकतांत्रिक संविधान पारित किया गया। नई व्यवस्था में जर्मन संसद यानी राइख़स्टाग के लिए जनप्रतिनिधियों का चुनाव किया जाने लगा। प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए औरतों सहित सभी वयस्क नागरिकों को समान और सार्वभौमिक मताधिकार प्रदान किया गया।

लेकिन यह नया गणराज्य खुद जर्मनी के ही बहुत सारे लोगों को रास नहीं आ रहा था। इसकी एक वजह तो यही थी कि पहले विश्वयुद्ध में जर्मनी

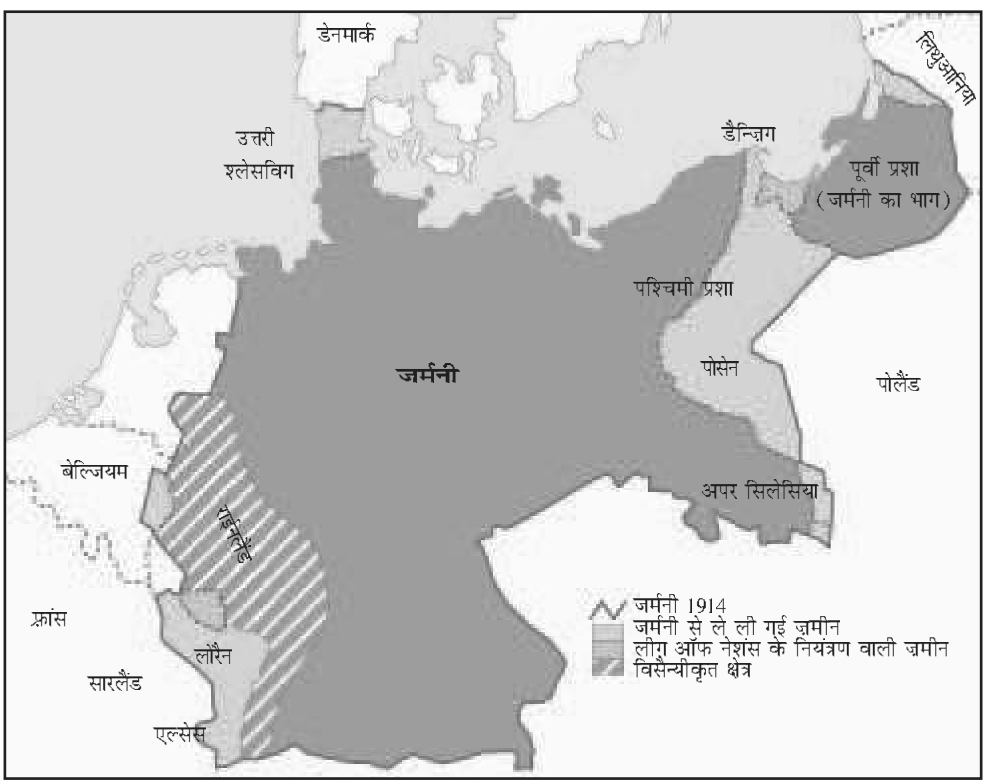

चित्र 2 - वर्साय की संधि के बाद जर्मनी. *इस नक्शे में आप उन इलाकों को देख सकते हैं जो संधि के बाद जर्मनी के हाथ से निकल गए थे।*

की पराजय के बाद विजयी देशों ने उस पर बहुत कठोर शर्तें थोप दी थीं। मित्र राष्ट्रों के साथ वर्साय (Versailles) में हुई शांति-संधि जर्मनी की जनता के लिए बहुत कठोर और अपमानजनक थी। इस संधि की वजह से जर्मनी को अपने सारे उपनिवेश, तकरीबन 10 प्रतिशत आबादी, 13 प्रतिशत भूभाग, 75 प्रतिशत लौह भंडार और 26 प्रतिशत कोयला भंडार फ़्रांस, पोलैंड, डेनमार्क और लिथुआनिया के हवाले करने पड़े। जर्मनी की रही-सही ताकत खत्म करने के लिए मित्र राष्ट्रों ने उसकी सेना भी भंग कर दी। युद्ध अपराधबोध अनुच्छेद (War Guilt Clause) के तहत युद्ध के कारण हुई सारी तबाही के लिए जर्मनी को ज़िम्मेदार ठहराया गया। इसके एवज़ में उस पर छः अरब पौंड का जुर्माना लगाया गया। खनिज संसाधनों वाले राईनलैंड पर भी बीस के दशक में ज़्यादातर मित्र राष्ट्रों का ही क़ब्ज़ा रहा। बहुत सारे जर्मनों ने न केवल इस हार के लिए बल्कि वर्साय में हुए इस अपमान के लिए भी वाइमर गणराज्य को ही ज़िम्मेदार ठहराया।

1.1 युद्ध का असर

इस युद्ध ने पूरे महाद्वीप को मनोवैज्ञानिक और आर्थिक, दोनों ही स्तरों पर तोड़ कर रख दिया। यूरोप कल तक कर्ज़ देने वालों का महाद्वीप कहलाता था जो युद्ध खत्म होते-होते कर्ज़दारों का महाद्वीप बन गया। विडंबना यह थी कि पुराने साम्राज्य द्वारा किए गए अपराधों का **हर्जाना** नवजात वाइमर गणराज्य से वसूल किया जा रहा था। इस गणराज्य को युद्ध में पराजय के अपराधबोध और राष्ट्रीय अपमान का बोझ तो ढोना ही पड़ा, हर्जाना चुकाने की वजह से आर्थिक स्तर पर भी वह अपंग हो चुका था। वाइमर गणराज्य के हिमायतियों में मुख्य रूप से समाजवादी, कैथलिक और डेमोक्रैट खेमे के लोग थे। रूढ़िवादी/पुरातनपंथी राष्ट्रवादी मिथकों की आड़ में उन्हें तरह-तरह के हमलों का निशाना बनाया जाने लगा। 'नवंबर के अपराधी' कहकर उनका खुलेआम मज़ाक उड़ाया गया। इस मनोदशा का तीस के दशक के शुरुआती राजनीतिक घटनाक्रम पर गहरा असर पड़ा।

पहले महायुद्ध ने यूरोपीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था पर अपनी गहरी छाप छोड़ दी थी। सिपाहियों को आम नागरिकों के मुकाबले ज़्यादा सम्मान दिया जाने लगा। राजनेता और प्रचारक इस बात पर ज़ोर देने लगे कि पुरुषों को आक्रामक, ताकतवर और मर्दाना गुणों वाला होना चाहिए। मीडिया में **खंदकों** की ज़िंदगी का महिमामंडन किया जा रहा था। लेकिन सच्चाई यह थी कि सिपाही इन खंदकों में बड़ी दयनीय ज़िंदगी जी रहे थे। वे लाशों को खाने वाले चूहों से घिरे रहते। वे ज़हरीली गैस और दुश्मनों की गोलाबारी का बहादुरी से सामना करते हुए भी अपने साथियों को पल-पल मरते देखते थे। सार्वजनिक जीवन में आक्रामक फ़ौजी प्रचार और राष्ट्रीय सम्मान व प्रतिष्ठा की चाह के सामने बाकी सारी चीज़ें गौण हो गईं जबकि हाल ही में सत्ता में आए रूढ़िवादी तानाशाहों को व्यापक जनसमर्थन मिलने लगा। उस वक्त लोकतंत्र एक नया और बहुत नाज़ुक विचार था जो दोनों महायुद्धों के बीच पूरे यूरोप में फैली अस्थिरता का सामना नहीं कर सकता था।

नए शब्द

हर्जाना : किसी गलती के बदले दण्ड के रूप में नुकसान की भरपाई करना।

खंदक : युद्ध के मोर्चे पर सैनिकों के छिपने के लिए खोदे गए गड्ढे।

1.2 राजनीतिक रैडिकलवाद (आमूल परिवर्तनवाद) और आर्थिक संकट

जिस समय वाइमर गणराज्य की स्थापना हुई उसी समय रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति की तर्ज़ पर जर्मनी में भी स्पार्टकिस्ट लीग अपने क्रांतिकारी

चित्र 3 – स्पार्टकिस्ट लीग नामक रैडिकल संगठन द्वारा आयोजित की गई रैली का दृश्य.
प्रशियन चेंबर ऑफ़ डेप्यूटीज़, बर्लिन के सामने आयोजित रैली। 1918-1919 के जाड़ों में बर्लिन की सड़कों पर आम लोगों का ही कब्ज़ा था। राजनीतिक प्रदर्शन रोज़ाना की घटना बन गया था।

विद्रोह की योजनाओं को अंजाम देने लगी। बहुत सारे शहरों में मज़दूरों और नाविकों की सोवियतें बनाई गईं। बर्लिन के राजनीतिक माहौल में सोवियत किस्म की शासन व्यवस्था की हिमायत के नारे गूँज रहे थे। इसीलिए समाजवादियों, डेमोक्रैट्स और कैथलिक गुटों ने वाइमर में इकट्ठा होकर इस प्रकार की शासन व्यवस्था के विरोध में एक लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना का फ़ैसला लिया। और आखिरकार वाइमर गणराज्य ने पुराने सैनिकों के फ़्री कोर नामक संगठन की मदद से इस विद्रोह को कुचल दिया। इस पूरे घटनाक्रम के बाद स्पार्टकिस्टों ने जर्मनी में कम्युनिस्ट पार्टी की नींव डाली। इसके बाद कम्युनिस्ट (साम्यवादी) और समाजवादी एक-दूसरे के कट्टर दुश्मन हो गए और हिटलर के खिलाफ़ कभी भी साझा मोर्चा नहीं खोल सके। क्रांतिकारी और उग्र राष्ट्रवादी, दोनों ही खेमे रैडिकल समाधानों के लिए आवाज़ें उठाने लगे।

राजनीतिक रैडिकलवादी विचारों को 1923 के आर्थिक संकट से और बल मिला। जर्मनी ने पहला विश्वयुद्ध मोटे तौर पर कर्ज़ लेकर लड़ा था। और युद्ध के बाद तो उसे स्वर्ण मुद्रा में हर्जाना भी भरना पड़ा। इस दोहरे बोझ से जर्मनी के स्वर्ण भंडार लगभग समाप्त होने की स्थिति में पहुँच गए थे। आखिरकार 1923 में जर्मनी ने कर्ज़ और हर्जाना चुकाने से इनकार कर दिया। इसके जवाब में फ्रांसीसियों ने जर्मनी के मुख्य औद्योगिक इलाके रूर पर कब्ज़ा कर लिया। यह जर्मनी के विशाल कोयला भंडारों वाला इलाका था। जर्मनी ने फ्रांस के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप में बड़े पैमाने पर कागज़ी

चित्र 4 *– वेतन भुगतान के लिए बर्लिन में टोकरियों और ठेलों में कागज़ के नोट लादे जा रहे हैं, 1923. जर्मन मार्क की कीमत इतनी कम रह गई थी कि मामूली भुगतान के लिए भी बहुत सारे नोटों की ज़रूरत पड़ती थी।*

मुद्रा छापना शुरू कर दिया। जर्मन सरकार ने इतने बड़े पैमाने पर मुद्रा छाप दी कि उसकी मुद्रा मार्क का मूल्य तेज़ी से गिरने लगा। अप्रैल में एक अमेरिकी डॉलर की कीमत 24,000 मार्क के बराबर थी जो जुलाई में 3,53,000 मार्क, अगस्त में 46,21,000 मार्क तथा दिसंबर में 9,88,60,000 मार्क हो गई। इस तरह एक डॉलर में खरबों मार्क मिलने लगे। जैसे-जैसे मार्क की कीमत गिरती गई, ज़रूरी चीज़ों की कीमतें आसमान छूने लगीं। रेखाचित्रों में जर्मन नागरिकों को पावरोटी खरीदने के लिए बैलगाड़ी में नोट भरकर ले जाते हुए दिखाया जाने लगा। जर्मन समाज दुनिया भर में हमदर्दी का पात्र बन कर रह गया। इस संकट को बाद में अति-मुद्रास्फीति का नाम दिया गया। जब कीमतें बेहिसाब बढ़ जाती हैं तो उस स्थिति को अति-मुद्रास्फीति का नाम दिया जाता है।

चित्र 5 – रात को सोने के लिए कतार में खड़े बेघर लोग, 1923.

जर्मनी को इस संकट से निकालने के लिए अमेरिकी सरकार ने हस्तक्षेप किया। इसके लिए अमेरिका ने डॉव्स योजना बनाई। इस योजना में जर्मनी के आर्थिक संकट को दूर करने के लिए हर्जाने की शर्तों को दोबारा तय किया गया।

1.3 मंदी के साल

सन् 1924 से 1928 तक जर्मनी में कुछ स्थिरता रही। लेकिन यह स्थिरता मानो रेत के ढेर पर खड़ी थी। जर्मन निवेश और औद्योगिक गतिविधियों में सुधार मुख्यत: अमेरिका से लिए गए अल्पकालिक कर्जों पर आश्रित था। जब 1929 में **वॉल स्ट्रीट एक्सचेंज** (शेयर बाज़ार) धराशायी हो गया तो जर्मनी को मिल रही यह मदद भी रातों-रात बंद हो गई। कीमतों में गिरावट की आशंका को देखते हुए लोग धड़ाधड़ अपने शेयर बेचने लगे। 24 अक्तूबर को केवल एक दिन में 1.3 करोड़ शेयर बेच दिए गए। यह आर्थिक महामंदी की शुरुआत थी। 1929 से 1932 तक के अगले तीन सालों में अमेरिका की राष्ट्रीय आय केवल आधी रह गई। फ़ैक्ट्रियाँ बंद हो गई थीं, निर्यात गिरता जा रहा था, किसानों की हालत खराब थी और सट्टेबाज बाज़ार से पैसा खींचते जा रहे थे। अमेरिकी अर्थव्यवस्था में आई इस मंदी का असर दुनिया भर में महसूस किया गया।

चित्र 6 – लाइन पर सोते लोग। महामंदी के दिनों में बेरोज़गारों को न तो वेतन की उम्मीद रहती थी न ही ठौर-ठिकाने की। जाड़ों में जब उन्हें सिर छिपाने की जगह चाहिए होती थी तो इसके लिए भी उन्हें पैसा देना पड़ता था।

इस मंदी का सबसे बुरा प्रभाव जर्मन अर्थव्यवस्था पर पड़ा। 1932 में जर्मनी का औद्योगिक उत्पादन 1929 के मुकाबले केवल 40 प्रतिशत रह गया था। मज़दूर या तो बेरोज़गार होते जा रहे थे या उनके वेतन काफ़ी गिर चुके थे। बेरोज़गारों की संख्या 60 लाख तक जा पहुँची। जर्मनी की सड़कों पर ऐसे लोग बड़ी तादाद में दिखाई देने लगे जो-'मैं कोई भी काम करने को तैयार हूँ'-लिखी तख़्ती गले में लटकाये खड़े रहते थे। बेरोज़गार नौजवान या तो ताश खेलते पाए जाते थे, नुक्कड़ों पर झुंड लगाए रहते थे या फिर रोज़गार दफ़्तरों के बाहर लंबी-लंबी कतार में खड़े पाए जाते थे। जैसे-जैसे रोज़गार

नए शब्द

वॉल स्ट्रीट एक्सचेंज : अमेरिका में स्थित दुनिया का सबसे बड़ा शेयर बाज़ार।

खत्म हो रहे थे, युवा वर्ग आपराधिक गतिविधियों में लिप्त होता जा रहा था। चारों तरफ़ गहरी हताशा का माहौल था।

आर्थिक संकट ने लोगों में गहरी बेचैनी और डर पैदा कर दिया था। जैसे–जैसे मुद्रा का अवमूल्यन होता जा रहा था; मध्यवर्ग, खासतौर से वेतनभोगी कर्मचारी और पेंशनधारियों की बचत भी सिकुड़ती जा रही थी। कारोबार ठप्प हो जाने से छोटे-मोटे व्यवसायी, स्वरोज़गार में लगे लोग और खुदरा व्यापारियों की हालत भी खराब होती जा रही थी। समाज के इन तबकों को **सर्वहाराकरण** का भय सता रहा था। उन्हें डर था कि अगर यही ढर्रा रहा तो वे भी एक दिन मज़दूर बनकर रह जाएँगे या हो सकता है कि उनके पास कोई रोज़गार ही न रह जाए। अब सिर्फ़ संगठित मज़दूर ही थे जिनकी हिम्मत टूटी नहीं थी। लेकिन बेरोज़गारों की बढ़ती फ़ौज उनकी मोल-भाव क्षमता को भी चोट पहुँचा रही थी। बड़े व्यवसाय संकट में थे। किसानों का एक बहुत बड़ा वर्ग कृषि उत्पादों की कीमतों में बेहिसाब गिरावट की वजह से परेशान था। युवाओं को अपना भविष्य अंधकारमय दिखाई दे रहा था। अपने बच्चों का पेट भर पाने में असफल औरतों के दिल भी डूब रहे थे।

राजनीतिक स्तर पर वाइमर गणराज्य एक नाजुक दौर से गुज़र रहा था। वाइमर संविधान में कुछ ऐसी कमियाँ थीं जिनकी वजह से गणराज्य कभी भी अस्थिरता और तानाशाही का शिकार बन सकता था। इनमें से एक कमी आनुपातिक प्रतिनिधित्व से संबंधित थी। इस प्रावधान की वजह से किसी एक पार्टी को बहुमत मिलना लगभग नामुमकिन बन गया था। हर बार गठबंधन सरकार सत्ता में आ रही थी। दूसरी समस्या अनुच्छेद 48 की वजह से थी जिसमें राष्ट्रपति को आपातकाल लागू करने, नागरिक अधिकार रद्द करने और अध्यादेशों के ज़रिए शासन चलाने का अधिकार दिया गया था। अपने छोटे से जीवन काल में वाइमर गणराज्य का शासन 20 मंत्रिमंडलों के हाथों में रहा और उनकी औसत अवधि 239 दिन से ज़्यादा नहीं रही। इस दौरान अनुच्छेद 48 का भी जमकर इस्तेमाल किया गया। पर इन सारे नुस्खों के बावजूद संकट दूर नहीं हो पाया। लोकतांत्रिक संसदीय व्यवस्था में लोगों का विश्वास खत्म होने लगा क्योंकि वह उनके लिए कोई समाधान नहीं खोज पा रही थी।

नए शब्द

सर्वहाराकरण : गरीब होते-होते मज़दूर वर्ग की आर्थिक स्थिति में पहुँच जाना।

2 हिटलर का उदय

अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज में गहराते जा रहे इस संकट ने हिटलर के सत्ता में पहुँचने का रास्ता साफ़ कर दिया। 1889 में ऑस्ट्रिया में जन्मे हिटलर की युवावस्था बेहद गरीबी में गुज़री थी। रोज़ी-रोटी का कोई ज़रिया न होने के कारण पहले विश्वयुद्ध की शुरुआत में उसने भी अपना नाम फ़ौजी भर्ती के लिए लिखवा दिया था। भर्ती के बाद उसने अग्रिम मोर्चे पर संदेशवाहक का काम किया, कॉर्पोरल बना और बहादुरी के लिए उसने कुछ तमगे भी हासिल किए। जर्मन सेना की पराजय ने तो उसे हिला दिया था, लेकिन वर्साय की संधि ने तो उसे आग-बबूला ही कर दिया। 1919 में उसने जर्मन वर्कर्स पार्टी नामक एक छोटे-से समूह की सदस्यता ले ली। धीरे-धीरे उसने इस संगठन पर अपना नियंत्रण कायम कर लिया और उसे नैशनल सोशलिस्ट पार्टी का नया नाम दिया। इसी पार्टी को बाद में नात्सी पार्टी के नाम से जाना गया।

1923 में ही हिटलर ने बवेरिया पर कब्ज़ा करने, बर्लिन पर चढ़ाई करने और सत्ता पर कब्ज़ा करने की योजना बना ली थी। इन दुस्साहसिक योजनाओं में वह असफल रहा। उसे गिरफ़्तार कर लिया गया। उस पर देशद्रोह का मुकदमा भी चला लेकिन कुछ समय बाद उसे रिहा कर दिया गया। नात्सी राजनीतिक खेमा 1930 के दशक के शुरुआती सालों तक जनता को बड़े पैमाने पर अपनी तरफ़ आकर्षित नहीं कर पाया। लेकिन महामंदी के दौरान नात्सीवाद ने एक जन आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, 1929 के बाद बैंक दिवालिया हो चुके थे, काम-धंधे बंद होते जा रहे थे, मज़दूर बेरोज़गार हो रहे थे और मध्यवर्ग को लाचारी और भुखमरी का डर सता रहा था। नात्सी **प्रोपेगैंडा** में लोगों को एक बेहतर भविष्य की उम्मीद दिखाई देती थी। 1929 में नात्सी पार्टी को जर्मन संसद–राइख़स्टाग– के

चित्र 7 – न्यूरेम्बर्ग पार्टी कांग्रेस में हिटलर का स्वागत, 1938.

नए शब्द

प्रोपेगैंडा : जनमत को प्रभावित करने के लिए किया जाने वाला एक खास तरह का प्रचार (पोस्टरों, फ़िल्मों और भाषणों आदि के माध्यम से)।

चित्र 8 – न्यूरेम्बर्ग रैली, 1936.
इस तरह की रैलियाँ हर साल आयोजित की जाती थीं। नात्सी सत्ता का प्रदर्शन इन रैलियों का एक महत्त्वपूर्ण आयाम होता था। विभिन्न संगठन हिटलर के सामने से परेड करते हुए निकलते थे, उसके प्रति निष्ठा की शपथ लेते थे और उसके भाषण सुनते थे।

लिए हुए चुनावों में महज़ 2.6 फ़ीसदी वोट मिले थे। 1932 तक आते-आते यह देश की सबसे बड़ी पार्टी बन चुकी थी और उसे 37 फ़ीसदी वोट मिले।

हिटलर ज़बर्दस्त वक्ता था। उसका जोश और उसके शब्द लोगों को हिलाकर रख देते थे। वह अपने भाषणों में एक शक्तिशाली राष्ट्र की स्थापना, वर्साय संधि में हुई नाइंसाफ़ी के प्रतिशोध और जर्मन समाज को खोई हुई प्रतिष्ठा वापस दिलाने का आश्वासन देता था। उसका वादा था कि वह बेरोज़गारों को रोज़गार और नौजवानों को एक सुरक्षित भविष्य देगा। उसने आश्वासन दिया कि वह देश को विदेशी प्रभाव से मुक्त कराएगा और तमाम विदेशी 'साज़िशों' का मुँहतोड़ जवाब देगा।

चित्र 9 – हिटलर द्वारा एसए और एसएस कतारों के सामने भाषण.
यहाँ लंबी और सीधी कतारों को देखिए। इस तरह के चित्रों के माध्यम से नात्सी सत्ता की भव्यता और ताकत को दर्शाने की कोशिश की जाती थी।

हिटलर ने राजनीति की एक नई शैली रची थी। वह लोगों को गोलबंद करने के लिए आडंबर और प्रदर्शन की अहमियत समझता था। हिटलर के प्रति भारी समर्थन दर्शाने और लोगों में परस्पर एकता का भाव पैदा करने के लिए नात्सियों ने बड़ी-बड़ी रैलियाँ और जनसभाएँ आयोजित कीं। स्वस्तिक

छपे लाल झंडे, नात्सी सैल्यूट और भाषणों के बाद खास अंदाज़ में तालियों की गड़गड़ाहट–ये सारी चीज़ें शक्ति प्रदर्शन का हिस्सा थीं।

नात्सियों ने अपने धूआँधार प्रचार के ज़रिए हिटलर को एक मसीहा, एक रक्षक, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में पेश किया, जिसने मानो जनता को तबाही से उबारने के लिए ही अवतार लिया था। एक ऐसे समाज को यह छवि बेहद आकर्षक दिखाई देती थी जिसकी प्रतिष्ठा और गर्व का अहसास चकनाचूर हो चुका था और जो एक भीषण आर्थिक एवं राजनीतिक संकट से गुज़र रहा था।

2.1 लोकतंत्र का ध्वंस

30 जनवरी 1933 को राष्ट्रपति हिंडनबर्ग ने हिटलर को चांसलर का पद-भार संभालने का न्यौता दिया। यह मंत्रिमंडल में सबसे शक्तिशाली पद था। तब तक नात्सी पार्टी रूढ़िवादियों को भी अपने उद्देश्यों से जोड़ चुकी थी। सत्ता हासिल करने के बाद हिटलर ने लोकतांत्रिक शासन की संरचना और संस्थानों को भंग करना शुरू कर दिया। फरवरी माह में जर्मन संसद भवन में हुए रहस्यमय अग्निकांड से उसका रास्ता और आसान हो गया। 28 फरवरी 1933 को जारी किए गए अग्नि अध्यादेश (फ़ायर डिक्री) के ज़रिए अभिव्यक्ति, प्रेस एवं सभा करने की आज़ादी जैसे नागरिक अधिकारों को अनिश्चितकाल के लिए निलंबित कर दिया गया। वाइमर संविधान में इन अधिकारों को काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसके बाद हिटलर ने अपने कट्टर शत्रु–कम्युनिस्टों–पर निशाना साधा। ज़्यादातर कम्युनिस्टों को रातों-रात **कंसन्ट्रेशन कैंपों** में बंद कर दिया गया। कम्युनिस्टों का बर्बर दमन किया गया। लगभग पाँच लाख की आबादी वाले ड्युस्सलडॉर्फ़ शहर में गिरफ़्तार किए गए लोगों की बची-खुची 6,808 फ़ाइलों में से 1,440 सिर्फ़ कम्युनिस्टों की थीं। नात्सियों ने सिर्फ़ कम्युनिस्टों का ही सफ़ाया नहीं किया। नात्सी शासन ने कुल 52 किस्म के लोगों को अपने दमन का निशाना बनाया था।

3 मार्च 1933 को प्रसिद्ध विशेषाधिकार अधिनियम (इनेबलिंग ऐक्ट) पारित किया गया। इस कानून के ज़रिए जर्मनी में बाकायदा तानाशाही स्थापित कर दी गई। इस कानून ने हिटलर को संसद को हाशिए पर धकेलने और केवल अध्यादेशों के ज़रिए शासन चलाने का निरंकुश अधिकार प्रदान कर दिया। नात्सी पार्टी और उससे जुड़े संगठनों के अलावा सभी राजनीतिक पार्टियों और ट्रेड यूनियनों पर पाबंदी लगा दी गई। अर्थव्यवस्था, मीडिया, सेना और न्यायपालिका पर राज्य का पूरा नियंत्रण स्थापित हो गया।

पूरे समाज को नात्सियों के हिसाब से नियंत्रित और व्यवस्थित करने के लिए विशेष निगरानी और सुरक्षा दस्ते गठित किए गए। पहले से मौजूद हरी वर्दीधारी पुलिस और स्टॉर्म ट्रूपर्स (एसए) के अलावा गेस्तापो (गुप्तचर राज्य पुलिस), एसएस (अपराध नियंत्रण पुलिस) और सुरक्षा सेवा (एसडी) का भी गठन किया गया। इन नवगठित दस्तों को बेहिसाब असंवैधानिक अधिकार दिए गए और इन्हीं की वजह से नात्सी राज्य को एक खूंखार आपराधिक राज्य की छवि प्राप्त हुई। गेस्तापो के यंत्रणा गृहों में किसी को भी बंद किया

नए शब्द

कंसन्ट्रेशन कैंप : ऐसे स्थान जहाँ बिना किसी कानूनी प्रक्रिया के लोगों को कैद रखा जाता था। ये कंसन्ट्रेशन कैंप बिजली का करंट दौड़ते कँटीले तारों से घिरे रहते थे।

जा सकता था। ये नए दस्ते किसी को भी यातना गृहों में भेज सकते थे, किसी को भी बिना कानूनी कार्रवाई के देश निकाला दिया जा सकता था या गिरफ़्तार किया जा सकता था। दंड की आशंका से मुक्त पुलिस बलों ने निरंकुश और निरपेक्ष शासन का अधिकार प्राप्त कर लिया था।

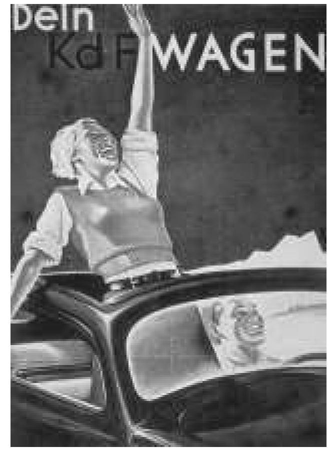

चित्र 10 – पोस्टर से घोषणा : 'आपकी फ़ॉक्सवागन'.
इन पोस्टरों के ज़रिए यह एहसास कराने की कोशिश की जाती थी कि अब आम मज़दूर भी कार खरीद सकता है।

2.2 पुनर्निर्माण

हिटलर ने अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने की ज़िम्मेदारी अर्थशास्त्री ह्यालमार शाख़्त को सौंपी। शाख़्त ने सबसे पहले सरकारी पैसे से चलाए जाने वाले रोज़गार संवर्धन कार्यक्रम के ज़रिए सौ फ़ीसदी उत्पादन और सौ फ़ीसदी रोज़गार उपलब्ध कराने का लक्ष्य तय किया। मशहूर जर्मन सुपर हाइवे और जनता की कार–फ़ॉक्सवैगन–इस परियोजना की देन थी।

विदेश नीति के मोर्चे पर भी हिटलर को फ़ौरन कामयाबियाँ मिलीं। 1933 में उसने 'लीग ऑफ़ नेशंस' से पल्ला झाड़ लिया। 1936 में राईनलैंड पर दोबारा क़ब्ज़ा किया और *एक जन, एक साम्राज्य, एक नेता* के नारे की आड़ में 1938 में ऑस्ट्रिया को जर्मनी में मिला लिया। इसके बाद उसने चेकोस्लोवाकिया के क़ब्ज़े वाले जर्मनभाषी सुडेंटनलैंड प्रांत पर कब्ज़ा किया और फिर पूरे चेकोस्लोवाकिया को हड़प लिया। इस दौरान उसे इंग्लैंड का भी खामोश समर्थन मिल रहा था क्योंकि इंग्लैंड की नज़र में वर्साय की संधि के नाम पर जर्मनी के साथ बड़ी नाइंसाफ़ी हुई थी। घरेलू और विदेशी मोर्चे पर जल्दी–जल्दी मिली इन कामयाबियों से ऐसा लगा कि देश की नियति अब पलटने वाली है।

चित्र 11 – नात्सी सत्ता का विस्तार : यूरोप 1942.

लेकिन हिटलर यहीं नहीं रुका। शाख़्त ने हिटलर को सलाह दी थी कि सेना और हथियारों पर ज़्यादा पैसा खर्च न किया जाए क्योंकि सरकारी बजट अभी भी घाटे में ही चल रहा था। लेकिन नात्सी जर्मनी में एहतियात पसंद लोगों के लिए कोई जगह नहीं थी। शाख़्त को उनके पद से हटा दिया गया। हिटलर ने आर्थिक संकट से निकलने के लिए युद्ध का विकल्प चुना। वह राष्ट्रीय सीमाओं का विस्तार करते हुए ज़्यादा से ज़्यादा संसाधन इकट्ठा करना चाहता था। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सितंबर 1939 में उसने पोलैंड पर हमला कर दिया। इसकी वजह से फ्रांस और इंग्लैंड के साथ भी उसका युद्ध शुरू हो गया। सितंबर 1940 में जर्मनी ने इटली और जापान के साथ एक त्रिपक्षीय संधि पर हस्ताक्षर किए। इस संधि से अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में हिटलर का दावा और मज़बूत हो गया। यूरोप के ज़्यादातर देशों में नात्सी जर्मनी का समर्थन करने वाली कठपुतली सरकारें बिठा दी गईं। 1940 के अंत में हिटलर अपनी ताकत के शिखर पर था।

अब हिटलर ने अपना सारा ध्यान पूर्वी यूरोप को जीतने के दीर्घकालिक सपने पर केंद्रित कर दिया। वह जर्मन जनता के लिए संसाधन और रहने की जगह (Living Space) का इंतज़ाम करना चाहता था। जून 1941 में उसने सोवियत संघ पर हमला किया। यह हिटलर की एक ऐतिहासिक बेवकूफ़ी थी। इस आक्रमण से जर्मन पश्चिमी मोर्चा ब्रिटिश वायुसैनिकों के बमबारी की चपेट में आ गया जबकि पूर्वी मोर्चे पर सोवियत सेनाएँ जर्मनों को नाकों चने चबवा रही थीं। सोवियत लाल सेना ने स्तालिनग्राद में जर्मन सेना को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। सोवियत लाल सैनिकों ने पीछे हटते जर्मन सिपाहियों का आखिर तक पीछा किया और अंत में वे बर्लिन के बीचोंबीच जा पहुँचे। इस घटनाक्रम ने अगली आधी सदी के लिए समूचे पूर्वी यूरोप पर सोवियत वर्चस्व स्थापित कर दिया।

अमेरिका इस युद्ध में फँसने से लगातार बचता रहा। अमेरिका पहले विश्वयुद्ध की वजह से पैदा हुई आर्थिक समस्याओं को दोबारा नहीं झेलना चाहता था। लेकिन वह लंबे समय तक युद्ध से दूर भी नहीं रह सकता था। पूरब में जापान की ताकत फैलती जा रही थी। उसने फ्रेंच-इंडो-चाइना पर कब्ज़ा कर लिया था और प्रशांत महासागर में अमेरिकी नौसैनिक ठिकानों पर हमले की पूरी योजना बना ली थी। जब जापान ने हिटलर को समर्थन दिया और पर्ल हार्बर पर अमेरिकी ठिकानों को बमबारी का निशाना बनाया तो अमेरिका भी दूसरे विश्वयुद्ध में कूद पड़ा। यह युद्ध मई 1945 में हिटलर की पराजय और जापान के हिरोशिमा शहर पर अमेरिकी परमाणु बम गिराने के साथ खत्म हुआ।

दूसरे विश्वयुद्ध के इस संक्षिप्त ब्यौरे के बाद अब हम एक बार फिर हेलमुट और उसके पिता की कहानी पर वापस लौटते हैं। यह युद्ध के दौरान नात्सी जुल्मों की कहानी है।

The Hindustan Times

HITLER REPORTED DEAD

Iron Rule In Germany

चित्र 12 – भारतीय समाचारपत्रों में जर्मनी के हालात पर नज़र.

3 नात्सियों का विश्व दृष्टिकोण

नात्सियों ने जो अपराध किए वे खास तरह की मूल्य-मान्यताओं, एक खास तरह के व्यवहार से संबंधित थे।

नात्सी विचारधारा हिटलर के विश्व दृष्टिकोण का पर्यायवाची थी। इस विश्व दृष्टिकोण में सभी समाजों को बराबरी का हक नहीं था, वे नस्ली आधार पर या तो बेहतर थे या कमतर थे। इस नज़रिये में **ब्लॉन्ड**, नीली आँखों वाले, **नॉर्डिक जर्मन आर्य** सबसे ऊपरी और यहूदी सबसे निचली पायदान पर आते थे। यहूदियों को नस्ल विरोधी, यानी आर्यों का कट्टर शत्रु माना जाता था। बाकी तमाम समाजों को उनके बाहरी रंग-रूप के हिसाब से जर्मन आर्यों और यहूदियों के बीच में रखा गया था। हिटलर की नस्ली सोच चार्ल्स डार्विन और हर्बर्ट स्पेंसर जैसे विचारकों के सिद्धांतों पर आधारित थी। डार्विन प्रकृति विज्ञानी थे जिन्होंने विकास और प्राकृतिक चयन की अवधारणा के ज़रिए पौधों और पशुओं की उत्पत्ति की व्याख्या का प्रयास किया था। बाद में हर्बर्ट स्पेंसर ने 'अति जीविता का सिद्धांत' (सरवाइवल ऑफ़ द फ़िटेस्ट) - जो सबसे योग्य है, वही ज़िंदा बचेगा – यह विचार दिया। इस विचार का मतलब यह था कि जो प्रजातियाँ बदलती हुई वातावरणीय परिस्थितियों के अनुसार खुद को ढाल सकती हैं वही पृथ्वी पर ज़िंदा रहती हैं। यहाँ हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि डार्विन ने चयन के सिद्धांत को एक विशुद्ध प्राकृतिक प्रक्रिया कहा था और उसमें इंसानी हस्तक्षेप की वकालत कभी नहीं की। लेकिन नस्लवादी विचारकों और राजनेताओं ने पराजित समाजों पर अपने साम्राज्यवादी शासन को सही ठहराने के लिए डार्विन के विचारों का सहारा लिया। नात्सियों की दलील बहुत सरल थी : जो नस्ल सबसे ताकतवर है वह ज़िंदा रहेगी; कमज़ोर नस्लें खत्म हो जाएँगी। आर्य नस्ल सर्वश्रेष्ठ है। उसे अपनी शुद्धता बनाए रखनी है, ताकत हासिल करनी है और दुनिया पर वर्चस्व कायम करना है।

हिटलर की विचारधारा का दूसरा पहलू *लेबेन्स्राउम* या जीवन-परिधि की भू-राजनीतिक अवधारणा से संबंधित था। वह मानता था कि अपने लोगों को बसाने के लिए ज़्यादा से ज़्यादा इलाकों पर कब्ज़ा करना ज़रूरी है। इससे मातृ देश का क्षेत्रफल भी बढ़ेगा और नए इलाकों में जाकर बसने वालों को अपने जन्मस्थान के साथ गहरे संबंध बनाए रखने में मुश्किल भी पेश नहीं आएगी। हिटलर की नज़र में इस तरह जर्मन राष्ट्र के लिए संसाधन और बेहिसाब शक्ति इकट्ठा की जा सकती थी।

पूरब में हिटलर जर्मन सीमाओं को और फैलाना चाहता था ताकि सारे जर्मनों को भौगोलिक दृष्टि से एक ही जगह इकट्ठा किया जा सके। पोलैंड इस धारणा की पहली प्रयोगशाला बना।

3.1 नस्लवादी राज्य की स्थापना

सत्ता में पहुँचते ही नात्सियों ने 'शुद्ध' जर्मनों के विशिष्ट नस्ली समुदाय की स्थापना के सपने को लागू करना शुरू कर दिया। सबसे पहले उन्होंने विस्तारित जर्मन

स्रोत क

'यह पृथ्वी न तो किसी को हिस्से में मिली है और न तोहफ़े में। नियति ने यह उन्हें सौंपी हैं जिनके हृदय में इसको जीत लेने का, इसको बचाए रखने का साहस है और जिनके पास इस पर हल चलाने की उद्यमशीलता है...। इस दुनिया का सबसे बुनियादी अधिकार है जीवन का अधिकार बशर्ते किसी के पास उसे हासिल करने की ताकत हो। इस अधिकार के आधार पर एक ऊर्जावान राष्ट्र अपने भूभाग को अपनी जनसंख्या के हिसाब से फैलाने के रास्ते ढूँढ़ लेगा।'

हिटलर, सीक्रेट बुक, सं., टेलफ़ोर्ड टेलर।

क्रियाकलाप

स्रोत क और ख को पढ़ें –

- इनसे हिटलर के साम्राज्यवादी मंसूबों के बारे में आपको क्या पता चलता है?
- आपकी राय में इन विचारों पर महात्मा गांधी हिटलर से क्या कहते?

नए शब्द

नॉर्डिक जर्मन आर्य : आर्य बताए जाने वालों की एक शाखा। ये लोग उत्तरी यूरोपीय देशों में रहते थे और जर्मन या मिलते-जुलते मूल के लोग थे।

ब्लॉन्ड: नीली आँखों और सुनहरे बालों वाले।

साम्राज्य में मौजूद उन समाजों या नस्लों को खत्म करना शुरू किया जिन्हें वे 'अवांछित' मानते थे। नात्सी 'शुद्ध और स्वस्थ नॉर्डिक आर्यों' का समाज बनाना चाहते थे। उनकी नज़र में केवल ऐसे लोग ही 'वांछित' थे। केवल ये ही लोग थे जिन्हें तरक्की और वंश-विस्तार के योग्य माना जा सकता था। बाकी सब 'अवांछित' थे। इसका मतलब यह निकला कि ऐसे जर्मनों को भी ज़िंदा रहने का कोई हक नहीं है जिन्हें नात्सी अशुद्ध या असामान्य मानते थे। यूथनेज़िया (दया मृत्यु) कार्यक्रम के तहत बाकी नात्सी अफ़सरों के साथ-साथ हेलमुट के पिता ने भी असंख्य ऐसे जर्मनों को मौत के घाट उतारा था जिन्हें वह मानसिक या शारीरिक रूप से अयोग्य मानते थे।

चित्र 13 - पुलिस के पहरे में औषवित्स भेजे जा रहे जिप्सी, 1943-1944.

केवल यहूदी ही नहीं थे जिन्हें 'अवांछितों' की श्रेणी में रखा गया था। इनके अलावा भी कई नस्लें थीं जो इसी नियति के लिए अभिशप्त थीं। जर्मनी में रहने वाले **जिप्सियों** और अश्वेतों की पहले तो जर्मन नागरिकता छीन ली गई और बाद में उन्हें मार दिया गया। रूसी और पोलिश मूल के लोगों को भी मनुष्य से कमतर माना गया। जब जर्मनी ने पोलैंड और रूस के कुछ हिस्सों पर कब्ज़ा कर लिया तो स्थानीय लोगों को भयानक परिस्थितियों में गुलामों की तरह काम पर झोंक दिया गया। उन्हें इंसानी बर्ताव के लायक नहीं माना जाता था। उनमें से बहुत सारे बेहिसाब काम के बोझ और भूख से ही मर गए।

स्रोत ख

'पृथ्वी को लगातार राज्यों के बीच बाँटा जा रहा है और उनमें से कई तो महाद्वीप जितने बड़े हैं। ऐसे युग में हम किसी ऐसी विश्व शक्ति की बात नहीं सोच सकते जिसका राजनीतिक मातृ-देश केवल पाँच सौ वर्ग किलोमीटर जैसे वाहियात से क्षेत्रफल में सिमटा हुआ हो।'

हिटलर, मेन काम्फ़, *पृ. 644 ।*

नात्सी जर्मनी में सबसे बुरा हाल यहूदियों का हुआ। यहूदियों के प्रति नात्सियों की दुश्मनी का एक आधार यहूदियों के प्रति ईसाई धर्म में मौजूद परंपरागत घृणा भी थी। ईसाइयों का आरोप था कि ईसा मसीह को यहूदियों ने ही मारा था। ईसाइयों की नज़र में यहूदी आदतन हत्यारे और **सूदखोर** थे। मध्यकाल तक यहूदियों को ज़मीन का मालिक बनने की मनाही थी। ये लोग मुख्य रूप से व्यापार और धन उधार देने का धंधा करके अपना गुज़ारा चलाते थे। वे बाकी समाज से अलग बस्तियों में रहते थे जिन्हें **घेटो (Ghettoes)** यानी दड़बा कहा जाता था। नस्ल-संहार के ज़रिए ईसाई बार-बार उनका सफ़ाया करते रहते थे। उनके खिलाफ़ जब-तब संगठित हिंसा की जाती थी और उन्हें उनकी बस्तियों से खदेड़ दिया जाता था। लेकिन ईसाइयत ने उन्हें बचने का एक रास्ता फिर भी दिया हुआ था। यह धर्म परिवर्तन का रास्ता था। आधुनिक काल में बहुत सारे यहूदियों ने ईसाई धर्म अपना लिया और जानते-बूझते हुए जर्मन संस्कृति में ढल गए। लेकिन यहूदियों के प्रति हिटलर की घृणा तो नस्ल के छद्म वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित थी। इस नफ़रत में 'यहूदी समस्या' का हल धर्मांतरण से नहीं निकल सकता था। हिटलर की 'दृष्टि' में इस समस्या का सिर्फ़ एक ही हल था – यहूदियों को पूरी तरह खत्म कर दिया जाए।

नए शब्द

जिप्सी : 'जिप्सी' के नाम से श्रेणीबद्ध किए गए समूहों की अपनी सामुदायिक पहचान थी। सिन्ती और रोमा ऐसे ही दो समुदाय थे।

सूदखोर : बहुत ज़्यादा ब्याज वसूल करने वाले महाजन; इस शब्द का प्राय: गाली के रूप प्रयोग किया जाता है।

घेटो: किसी समुदाय को औरों से अलग-थलग करके रखना।

सन् 1933 से 1938 तक नात्सियों ने यहूदियों को तरह-तरह से आतंकित किया, उन्हें दरिद्र कर आजीविका के साधनों से हीन कर दिया और उन्हें शेष समाज से अलग-थलग कर डाला। यहूदी देश छोड़कर जाने लगे। 1939-45 के दूसरे दौर में यहूदियों को कुछ खास इलाकों में इकट्ठा करने और अंतत: पोलैंड में बनाए गए गैस चेंबरों में ले जाकर मार देने की रणनीति अपनाई गई।

3.2 नस्ली कल्पनालोक (यूटोपिया)

युद्ध के साए में नात्सी अपने कातिलाना, नस्लवादी कल्पनालोक या आदर्श विश्व के निर्माण में लग गए। जनसंहार और युद्ध एक ही सिक्के के दो पहलू बन गए। पराजित पोलैंड को पूरी तरह तहस-नहस कर दिया गया। उत्तर-पश्चिमी पोलैंड का ज़्यादातर हिस्सा जर्मनी में मिला लिया गया। पोलैंड के लोगों को अपने घर और माल-असबाब छोड़कर भागने के लिए मजबूर किया गया ताकि जर्मनी के कब्ज़े वाले यूरोप में रहने वाले जर्मनों को वहाँ लाकर बसाया जा सके। इसके बाद पोलैंडवासियों को मवेशियों की तरह खदेड़ कर जनरल गवर्नमेंट नामक दूसरे हिस्से में पहुँचा दिया गया। जर्मन साम्राज्य में मौजूद तमाम अवांछित तत्त्वों को जनरल गवर्नमेंट नामक इसी इलाके में लाकर रखा जाता था। पोलैंड के बुद्धिजीवियों को बड़े पैमाने पर मौत के घाट उतारा गया। यह पूरे पोलैंड के समाज को बौद्धिक और आध्यात्मिक स्तर पर गुलाम बना लेने की चाल थी। आर्य जैसे लगने वाले पोलैंड के बच्चों को उनके माँ-बाप से छीन कर जाँच के लिए 'नस्ल विशेषज्ञों' के पास पहुँचा दिया गया। अगर वे नस्ली जाँच में कामयाब हो जाते तो उन्हें जर्मन परिवारों में पाला जाता और अगर ऐसा नहीं होता तो उन्हें अनाथाश्रमों में डाल दिया जाता जहाँ उनमें से ज़्यादातर मर जाते थे। जनरल गवर्नमेंट में कुछ विशालतम घेटो और गैस चेंबर भी थे इसलिए यहाँ यहूदियों को बड़े पैमाने पर मारा जाता था।

क्रियाकलाप

अगले दो पन्नों को देखिए और इनके बारे में संक्षेप में लिखिए :

- आपके लिए नागरिकता का क्या मतलब है? अध्याय 1 एवं 3 को देखें और 200 शब्दों में बताएँ कि फ्रांसीसी क्रांति और नात्सीवाद ने नागरिकता को किस तरह परिभाषित किया?
- नात्सी जर्मनी में 'अवांछितों' के लिए न्यूरेम्बर्ग कानूनों का क्या मतलब था? उन्हें इस बात का अहसास कराने के लिए कि वह 'अवांछित' हैं अन्य कौन-कौन से कानूनी कदम उठाए गए?

चित्र 14 - यहूदियों को गैस चेंबरों तक ले जाने वाली एक मालवाहक गाड़ी.

मौत का सिलसिला

पहला चरण : बहिष्कार : 1933-39

हमारे बीच तुम्हें नागरिकों की तरह रहने का कोई हक नहीं।

न्यूरेम्बर्ग नागरिकता अधिकार, सितंबर 1935 :

1. जर्मन या उससे संबंधित रक्त वाले व्यक्ति ही जर्मन नागरिक होंगे और उन्हें जर्मन साम्राज्य का संरक्षण मिलेगा।
2. यहूदियों और जर्मनों के बीच विवाह पर पाबंदी।
3. यहूदियों और जर्मनों के बीच विवाहेतर संबंधों को अपराध घोषित कर दिया गया।
4. यहूदियों द्वारा राष्ट्रीय ध्वज फहराने पर पाबंदी लगा दी गई।

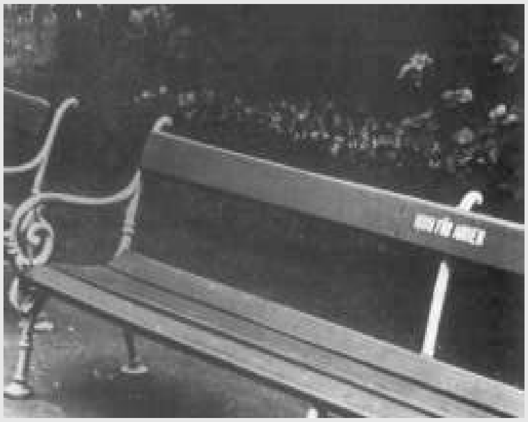

*चित्र 16 – पार्क में रखी बेंच : **केवल आर्यों के लिए.***

अन्य कानूनी उपाय :

- यहूदी व्यवसायों का बहिष्कार।
- सरकारी सेवाओं से निकाला जाना।
- यहूदियों की संपत्ति की ज़ब्ती और बिक्री।

इसके अलावा नवंबर 1938 के एक जनसंहार में यहूदियों की संपत्तियों को तहस-नहस किया गया, लूटा गया, उनके घरों पर हमले हुए, **यहूदी प्रार्थनाघर** (Synagogues) जला दिए गए और उन्हें गिरफ़्तार किया गया। इस घटना को 'नाइट ऑफ़ ब्रोकन ग्लास' के नाम से याद किया जाता है।

चित्र 15 – इस संकेतपट्ट में एलान किया जा रहा है कि उत्तरी समुद्र स्नान क्षेत्र यहूदियों से मुक्त है.

चित्र 17 – मेरे पास बेचने के लिए बस यही है.
घेटो के लोगों के पास जीने का कोई रास्ता नहीं बचा था।

दूसरा चरण : दड़बाबंदी (Ghettoisation):1940-44

तुम्हें हमारे बीच रहने का कोई हक नहीं।

सितंबर 1941 से सभी यहूदियों को हुक्म दिया गया कि वह डेविड का पीला सितारा अपनी छाती पर लगा कर रखेंगे। उनके पासपोर्ट, तमाम कानूनी दस्तावेजों और घरों के बाहर भी यह पहचान चिह्न छाप दिया गया। जर्मनी में उन्हें यहूदी मकानों में और पूर्वी क्षेत्र के लोदज़ एवं वॉरसा जैसी घेटो बस्तियों में कष्टपूर्ण और दरिद्रता की स्थिति में रखा जाता था। ये बेहद पिछड़े और निर्धन इलाके थे। घेटो में दाखिल होने से पहले यहूदियों को अपनी सारी संपत्ति छोड़ देने के लिए मजबूर किया गया। कुछ ही समय में घेटो बस्तियों में वंचना, भुखमरी, गंदगी और बीमारियों का साम्राज्य व्याप्त हो गया।

तीसरा चरण : सर्वनाश : 1941 के बाद

तुम्हें जीने का अधिकार नहीं।

चित्र 18 – भागने की कोशिश में मौत। यातना गृह के चारों तरफ लगी तारों में करंट दौड़ता रहता था.

चित्र 19 – गैस चेंबर के बाहर कपड़ों के ढेर.

समूचे यूरोप के यहूदी मकानों, यातना गृहों और घेटो बस्तियों में रहने वाले यहूदियों को मालगाड़ियों में भर–भर कर मौत के कारखानों में लाया जाने लगा। पोलैंड तथा अन्य पूर्वी इलाकों में, मुख्य रूप से बेलज़ेक, औषवित्स, सोबीबोर, त्रेबलिंका, चेल्म्नो, तथा मायदानेक में उन्हें गैस चेंबरों में झोंक दिया गया। औद्योगिक और वैज्ञानिक तकनीकों के सहारे बहुत सारे लोगों को पलक झपकते मौत के घाट उतार दिया गया।

चित्र 20 – एक यातना गृह.

चित्र 21 – एक यातना गृह। कैमरा मौत के मैदानों को भी खूबसूरत बना सकता है.

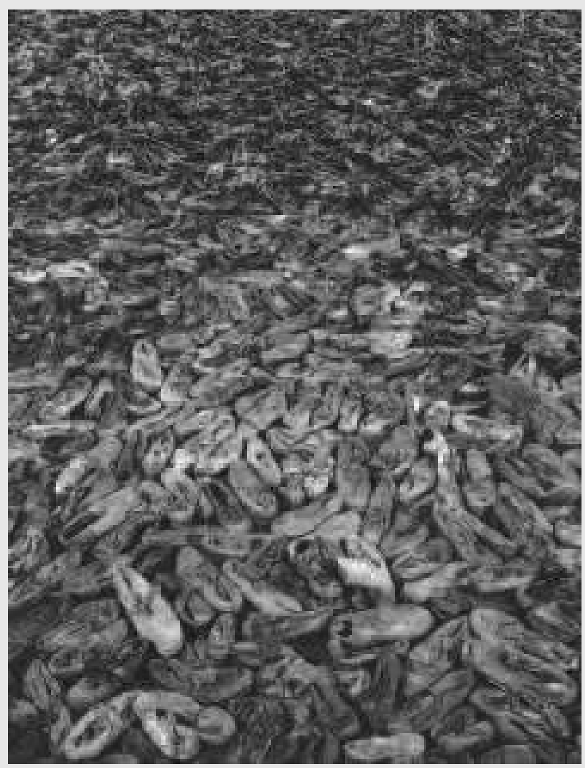

चित्र 22 – 'अंतिम समाधान' से पहले कैदियों से छीने गए जूते.

4 नात्सी जर्मनी में युवाओं की स्थिति

युवाओं में हिटलर की दिलचस्पी जुनून की हद तक पहुँच चुकी थी। उसका मानना था कि एक शक्तिशाली नात्सी समाज की स्थापना के लिए बच्चों को नात्सी विचारधारा की घुट्टी पिलाना बहुत ज़रूरी है। इसके लिए स्कूल के भीतर और बाहर, दोनों जगह बच्चों पर पूरा नियंत्रण आवश्यक था।

नात्सीवाद के दौरान स्कूलों में क्या हो रहा था? तमाम स्कूलों में सफ़ाए और शुद्धीकरण की मुहिम चलाई गई। यहूदी या 'राजनीतिक रूप से अविश्वसनीय' दिखाई देने वाले शिक्षकों को पहले नौकरी से हटाया गया और बाद में मौत के घाट उतार दिया गया। बच्चों को अलग-अलग बिठाया जाने लगा। जर्मन और यहूदी बच्चे एक साथ न तो बैठ सकते थे और न खेल-कूद सकते थे। बाद में 'अवांछित बच्चों' को यानी यहूदियों, जिप्सियों के बच्चों और विकलांग बच्चों को स्कूलों से निकाल दिया गया। चालीस के दशक में तो उन्हें भी गैस चेंबरों में झोंक दिया गया।

'अच्छे जर्मन' बच्चों को नात्सी शिक्षा प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता था। यह विचारधारात्मक प्रशिक्षण की एक लंबी प्रक्रिया थी। स्कूली पाठ्यपुस्तकों को नए सिरे से लिखा गया। नस्ल के बारे में प्रचारित नात्सी विचारों को सही ठहराने के लिए नस्ल विज्ञान के नाम से एक नया विषय पाठ्यक्रम में शामिल किया गया। और तो और, गणित की कक्षाओं में भी यहूदियों की एक खास छवि गढ़ने की कोशिश की जाती थी। बच्चों को सिखाया गया कि वे वफ़ादार व आज्ञाकारी बनें, यहूदियों से नफ़रत और हिटलर की पूजा करें। खेल-कूद के ज़रिए भी बच्चों में हिंसा और आक्रामकता की भावना पैदा की जाती थी। हिटलर का मानना था कि मुक्केबाज़ी का प्रशिक्षण बच्चों को फ़ौलादी दिल वाला, ताकतवर और मर्दाना बना सकता है।

जर्मन बच्चों और युवाओं को 'राष्ट्रीय समाजवाद की भावना' से लैस करने की ज़िम्मेदारी युवा संगठनों को सौंपी गई। 10 साल की उम्र के बच्चों को **युंगफ़ोक** में दाखिल करा दिया जाता था। 14 साल की उम्र में सभी लड़कों को नात्सियों के युवा संगठन-हिटलर यूथ-की सदस्यता लेनी पड़ती थी। इस संगठन में वे युद्ध की उपासना, आक्रामकता व हिंसा, लोकतंत्र की निंदा और यहूदियों, कम्युनिस्टों, जिप्सियों व अन्य 'अवांछितों' से घृणा का सबक सीखते थे। गहन विचारधारात्मक और शारीरिक प्रशिक्षण के बाद लगभग 18 साल की उम्र में वे लेबर सर्विस (श्रम सेवा) में शामिल हो जाते थे। इसके बाद उन्हें सेना में काम करना पड़ता था और किसी नात्सी संगठन की सदस्यता लेनी पड़ती थी।

नए शब्द

युंगफ़ोक : 14 साल से कम उम्र वाले बच्चों के लिए नात्सी युवा संगठन।

चित्र 23 – यहूदी-विरोधी विषयों की पढ़ाई को दर्शाता कक्षा का चित्र.
अर्न्स्ट हीमर (न्यूरेम्बर्ग : डेअर श्टुर्मर, 1938) द्वारा रचित डेअर गिफ़्टपिल्ज़ (विषैला मशरूम) *से, पृष्ठ 7. चित्र का शीर्षक इस प्रकार है : 'यहूदी नाक सिरे पर मुड़ी हुई है। यह अंग्रेज़ी के अंक 6 जैसी दिखती है।'*

चित्र 24 – बाकी बच्चों की हँसी-ठिठोली के बीच यहूदी शिक्षक और यहूदी विद्यार्थियों को स्कूल से निकाला जा रहा है.
एल्वीरा बाऊअर (न्यूरेम्बर्ग : डेअर श्टुर्मर, 1936) रचित ट्राऊ कीनेम जुड आऊफ़ ग्रुनर हीद : ईन बिल्दरबुश फ़ुर ग्रॉस उंद कियोम (ग्रीन हीथ में किसी यहूदी पर यकीन न करो : छोटे-बड़ों के लिए एक चित्र पुस्तक) *से।*

क्रियाकलाप

अगर आप ऐसी किसी कक्षा में होते तो यहूदियों के प्रति आप का रवैया कैसा होता?

क्या आपने कभी सोचा है कि आपके जान-पहचान वाले अन्य समुदायों के बारे में क्या सोचते हैं? उन्होंने इस तरह की छवियाँ कहाँ से हासिल की हैं?

स्रोत ग

छह से दस साल तक की उम्र के सभी लड़कों को नात्सी विचारधारा का शुरुआती प्रशिक्षण दिया जाता था। प्रशिक्षण पूरा होने पर उन्हें हिटलर के प्रति निष्ठा की यह शपथ लेनी पड़ती थी :

'हमारे फ़्यूहरर का प्रतिनिधित्व करने वाले इस रक्तध्वज की उपस्थिति में मैं शपथ लेता हूँ कि मेरी सारी ऊर्जा और मेरी सारी शक्ति हमारे देश के रक्षक एडॉल्फ़ हिटलर को समर्पित है। मैं उनके लिए अपना जीवन देने को इच्छुक और तैयार हूँ। ईश्वर मेरी मदद करे।'

डब्ल्यू. शाइरर, *द राइज़ एंड फ़ॉल ऑफ़ द थर्ड राइख* से उद्धृत।

स्रोत घ

जर्मन लेबर फ्रंट के प्रमुख रॉबर्ट ले ने कहा था :

हम तभी से काम शुरू कर देते हैं जब बच्चा तीन साल का होता है। जैसे ही वह ज़रा-सा भी सोचने लगता है उसे लहराने के लिए एक छोटा-सा झंडा थमा दिया जाता है। इसके बाद स्कूल, हिटलर यूथ और सैनिक सेवा का नंबर आता है। लेकिन यह सब कुछ पूरा हो जाने के बाद भी हम किसी को छोड़ते नहीं हैं। लेबर फ्रंट उन्हें अपनी गिरफ़्त में ले लेता है। चाहे उन्हें अच्छा लगे या बुरा, कब्र तक यह उनका पीछा नहीं छोड़ता।'

***चित्र 25** – 'वांछित' बच्चे जिनकी संख्या हिटलर बढ़ाना चाहता था.*

***चित्र 26** – कब्ज़े वाले यूरोप से अधिकृत पोलैंड में बसाने के लिए भेजा जा रहा एक शिशु अपनी माँ के साथ.*

***चित्र 27** – मौत के कारखाने में आते यहूदी बच्चे जिन्हें गैस से मार दिया जाएगा.*

नात्सी यूथ लीग का गठन 1922 में हुआ था। चार साल बाद उसे हिटलर यूथ का नया नाम दिया गया। 1933 तक आते-आते इस संगठन में 12.5 लाख से ज़्यादा बच्चे थे। युवा आंदोलन को नात्सीवाद के तहत एकजुट करने के लिए बाकी सभी युवा संगठनों को पहले भंग कर दिया गया और बाद में उन पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

क्रियाकलाप

चित्र 23, 24 और 27 को देखिए। कल्पना कीजिए कि आप नात्सी जर्मनी में रहने वाले यहूदी या पोलिश मूल के व्यक्ति हैं। आप सितंबर 1941 में जी रहे हैं और अभी-अभी कानून बनाया गया है कि यहूदियों को डेविड का तमगा पहनकर रहना होगा। ऐसी परिस्थिति में अपने जीवन के एक दिन का ब्यौरा लिखिए।

4.1 मातृत्व की नात्सी सोच

नात्सी जर्मनी में प्रत्येक बच्चे को बार-बार यह बताया जाता था कि औरतें बुनियादी तौर पर मर्दों से भिन्न होती हैं। उन्हें समझाया जाता था कि

औरत-मर्द के लिए समान अधिकारों का संघर्ष गलत है। यह समाज को नष्ट कर देगा। इसी आधार पर लड़कों को आक्रामक, मर्दाना और पत्थरदिल होना सिखाया जाता था जबकि लड़कियों को यह कहा जाता था कि उनका फ़र्ज़ एक अच्छी माँ बनना और शुद्ध आर्य रक्त वाले बच्चों को जन्म देना और उनका पालन-पोषण करना है। नस्ल की शुद्धता बनाए रखने, यहूदियों से दूर रहने, घर संभालने और बच्चों को नात्सी मूल्य-मान्यताओं की शिक्षा देने का दायित्व उन्हें ही सौंपा गया था। आर्य संस्कृति और नस्ल की ध्वजवाहक वही थीं।

1933 में हिटलर ने कहा था : 'मेरे राज्य की सबसे महत्त्वपूर्ण नागरिक माँ है।' लेकिन नात्सी जर्मनी में सारी माताओं के साथ भी एक जैसा बर्ताव नहीं होता था। जो औरतें नस्ली तौर पर अवांछित बच्चों को जन्म देती थीं उन्हें दंडित किया जाता था जबकि नस्ली तौर पर वांछित दिखने वाले बच्चों को जन्म देने वाली माताओं को इनाम दिए जाते थे। ऐसी माताओं को अस्पताल में विशेष सुविधाएँ दी जाती थीं, दुकानों में उन्हें ज़्यादा छूट मिलती थी और थियेटर व रेलगाड़ी के टिकट उन्हें सस्ते में मिलते थे। हिटलर ने खूब सारे बच्चों को जन्म देने वाली माताओं के लिए वैसे ही तमगे देने का इंतज़ाम किया था जिस तरह के तमगे सिपाहियों को दिए जाते थे। चार बच्चे पैदा करने वाली माँ को काँसे का, छः बच्चे पैदा करने वाली माँ को चाँदी का और आठ या उससे ज़्यादा बच्चे पैदा करने वाली माँ को सोने का तमगा दिया जाता था।

निर्धारित आचार संहिता का उल्लंघन करने वाली 'आर्य' औरतों की सार्वजनिक रूप से निंदा की जाती थी और उन्हें कड़ा दंड दिया जाता था। बहुत सारी औरतों को गंजा करके, मुँह पर कालिख पोत कर और उनके गले में तख्ती लटका कर पूरे शहर में घुमाया जाता था। उनके गले में लटकी तख्ती पर लिखा होता था – 'मैंने राष्ट्र के सम्मान को मलिन किया है।' इस आपराधिक कृत्य के लिए बहुत सारी औरतों को न केवल जेल की सज़ा दी गई बल्कि उनसे तमाम नागरिक सम्मान और उनके पति व परिवार भी छीन लिए गए।

स्रोत च

न्यूरेम्बर्ग पार्टी रैली में औरतों को संबोधित करते हुए 8 सितंबर 1934 को हिटलर ने कहा था :

हम इस बात को अच्छा नहीं मानते कि औरतें मर्द की दुनिया में, उसके मुख्य दायरे में दखल दें। हमारी नज़र में यह कुदरती बात है कि ये दोनों दुनिया एक-दूसरे से अलग-अलग हैं...। जिस तरह मर्द अपने साहस के रूप में युद्ध के मोर्चे पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है उसी तरह औरतें अपने अनंत आत्मबलिदान, अनंत पीड़ा और दर्द के रूप में अपना योगदान देती हैं। हर बच्चा जो औरत संसार में लाती है वह उसके लिए एक युद्ध ही है, अपने समाज को ज़िंदा रखने के लिए औरत द्वारा छेड़ा गया युद्ध।

4.2 प्रचार की कला

नात्सी शासन ने भाषा और मीडिया का बड़ी होशियारी से इस्तेमाल किया और उसका ज़बर्दस्त फ़ायदा उठाया। उन्होंने अपने तौर-तरीकों को बयान करने के लिए जो शब्द ईजाद किए थे वे न केवल भ्रामक बल्कि दिल दहला देने वाले शब्द थे। नात्सियों ने अपने अधिकृत दस्तावेज़ों में 'हत्या' या 'मौत' जैसे शब्दों का कभी इस्तेमाल नहीं किया। सामूहिक हत्याओं को *विशेष व्यवहार, अंतिम समाधान* (यहूदियों के संदर्भ में), *यूथनेज़िया* (विकलांगों के लिए), *चयन* और *संक्रमण-मुक्ति* आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता था। 'इवैक्युएशन' (खाली कराना) का आशय था लोगों को गैस चेंबरों में ले जाना। क्या आपको मालूम है कि गैस चेंबरों को क्या कहा जाता था? उन्हें 'संक्रमण मुक्ति-क्षेत्र' कहा जाता था। गैस चेंबर स्नानघर जैसे दिखाई देते थे और उनमें नकली फ़व्वारे भी लगे होते थे।

स्रोत छ

न्यूरेम्बर्ग पार्टी रैली में 8 सितंबर 1934 को ही हिटलर ने यह भी कहा था :

'औरत किसी समुदाय के संरक्षण में सबसे स्थिर तत्त्व है...। उसे इस बात का सबसे अच्छी तरह पता होता है कि अपनी नस्ल को खत्म होने से बचाने के लिए क्या-क्या चीज़ें महत्त्वपूर्ण होती हैं क्योंकि उसी के बच्चे हैं जो इस सारी पीड़ा से सबसे पहले प्रभावित होंगे...। इसीलिए हमने नस्ली समुदाय के संघर्ष में औरत को भी वही जगह दी है जो प्रकृति और नियति के अनुसार है।'

शासन के लिए समर्थन हासिल करने और नात्सी विश्व दृष्टिकोण को फैलाने के लिए मीडिया का बहुत सोच-समझ कर इस्तेमाल किया गया। नात्सी विचारों को फैलाने के लिए तस्वीरों, फ़िल्मों, रेडियो, पोस्टरों, आकर्षक नारों और इश्तहारी पर्चों का खूब सहारा लिया जाता था। पोस्टरों में जर्मनों के 'दुश्मनों' की रटी-रटाई छवियाँ दिखाई जाती थीं, उनका मज़ाक उड़ाया जाता था, उन्हें अपमानित किया जाता था, उन्हें शैतान के रूप में पेश किया जाता था। समाजवादियों और उदारवादियों को कमज़ोर और पथभ्रष्ट तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। उन्हें विदेशी एजेंट कहकर बदनाम किया जाता था। प्रचार फिल्मों में यहूदियों के प्रति नफ़रत फैलाने पर ज़ोर दिया जाता था। 'द एटर्नल ज्यू' (अक्षय यहूदी) इस सूची की सबसे कुख्यात फिल्म थी। परंपराप्रिय यहूदियों को खास तरह की छवियों में पेश किया जाता था। उन्हें दाढ़ी बढ़ाए और काफ़्तान (चोगा) पहने दिखाया जाता था, जबकि वास्तव में जर्मन यहूदियों और बाकी जर्मनों के बीच कोई फ़र्क करना असंभव था क्योंकि दोनों समुदाय एक-दूसरे में काफ़ी घुले-मिले हुए थे। उन्हें केंचुआ, चूहा और कीड़ा जैसे शब्दों से संबोधित किया जाता था। उनकी चाल-ढाल की तुलना कुतरने वाले छछुंदरी जीवों से की जाती थी। नात्सीवाद ने लोगों के दिलोदिमाग पर गहरा असर डाला, उनकी भावनाओं को भड़का कर उनके गुस्से और नफ़रत को 'अवांछितों' पर केंद्रित कर दिया। इसी अभियान से नात्सीवाद का सामाजिक आधार पैदा हुआ।

नात्सियों ने आबादी के सभी हिस्सों को आकर्षित करने के लिए प्रयास किए। पूरे समाज को अपनी तरफ़ आकर्षित करने के लिए उन्होंने लोगों को इस बात का अहसास कराया कि उनकी समस्याओं को सिर्फ़ नात्सी ही हल कर सकते हैं।

चित्र 28 - यहूदियों पर हमला करता एक नात्सी पोस्टर.
चित्र के नीचे दी गई पंक्तियाँ : 'पैसा ही यहूदी का भगवान है। पैसे के लिए वह भयानक अपराध करता है। वह तब तक चैन से नहीं बैठता जब तक कि नोटों से भरे बोरे पर न बैठ जाए, जब तक कि वह पैसे का राजा न हो जाए।'

क्रियाकलाप

अगर आप
- यहूदी औरत या
- गैर-यहूदी जर्मन औरत

होतीं तो हिटलर के विचारों पर किस तरह की प्रतिक्रिया देतीं?

क्रियाकलाप

आपके विचार से इस पोस्टर में क्या दिखाने की कोशिश की जा रही है?

जर्मन किसान

तुम सिर्फ़ हिटलर के हो!

क्यों?

आज
जर्मन किसान दो भयानक पाटों के बीच पिस रहा है :
एक खतरा अमेरिकी अर्थव्यवस्था
यानी बड़े पूँजीवाद का है
दूसरा खतरा बोलशेविज़्म की मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था का है
बड़ा पूँजीवाद और बोलशेविज़्म, दोनों हाथ मिला कर काम करते हैं :
ये दोनों ही यहूदी विचारों से जन्मे हैं
और विश्व यहूदीवाद की महायोजना को लागू कर रहे हैं।
किसान को इन खतरों से कौन बचा सकता है?
केवल

राष्ट्रीय समाजवाद

1932 में छपे एक *नात्सी पर्चे* से।

चित्र 29 – यह पोस्टर दर्शाता है कि किसानों को नात्सी किस तरह आकर्षित करते थे.

चित्र 30 – बीस के दशक का एक नात्सी पार्टी पोस्टर.
इसमें हिटलर, को अग्रिम मोर्चे पर युद्धरत सिपाही बताकर उसे वोट देने का आह्वान किया जा रहा है।

क्रियाकलाप

चित्र 29–30 को देखें और निम्नलिखित का उत्तर दें :

इनसे नात्सी प्रचार के बारे में हमें क्या पता चलता है? आबादी के विभिन्न हिस्सों को गोलबंद करने के लिए नात्सी क्या प्रयास कर रहे हैं?

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

1 अगस्त 1914
पहला विश्वयुद्ध शुरू

9 नवंबर 1918
जर्मनी ने घुटने टेक दिए, युद्ध समाप्त

9 नवंबर 1918
वाइमर गणराज्य की स्थापना का एलान

28 जून 1919
वर्साय की संधि

30 जनवरी 1933
हिटलर जर्मनी का चांसलर बनता है

1 सितंबर 1939
जर्मनी का पोलैंड में घुसना। दूसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत।

22 जून 1941
जर्मन सेनाएँ सोवियत संघ में घुसती हैं।

23 जून 1941
यहूदियों का कत्लेआम शुरू

8 दिसंबर 1941
अमेरिका भी दूसरे विश्वयुद्ध में कूद पड़ा।

27 जनवरी 1945
सोवियत फौजें औषवित्स को मुक्त कराती हैं।

8 मई 1945
यूरोप में मित्र राष्ट्रों की विजय।

5 आम जनता और मानवता के खिलाफ़ अपराध

नात्सीवाद पर आम लोगों की प्रतिक्रिया क्या रही?

बहुत सारे लोग नात्सी शब्दाडंबर और धुआँधार प्रचार का शिकार हो गए। वे दुनिया को नात्सी नज़रों से देखने लगे और अपनी भावनाओं को नात्सी शब्दावली में ही व्यक्त करने लगे। किसी यहूदी से आमना-सामना हो जाने पर उन्हें अपने भीतर गहरी नफ़रत और गुस्से का अहसास होता था। उन्होंने न केवल यहूदियों के घरों के बाहर निशान लगा दिए बल्कि जिन पड़ोसियों पर शक था उनके बारे में पुलिस को भी सूचित कर दिया। उन्हें पक्का विश्वास था कि नात्सीवाद ही देश को तरक्की के रास्ते पर लेकर जाएगा; यही व्यवस्था सबका कल्याण करेगी।

लेकिन जर्मनी का हर व्यक्ति नात्सी नहीं था। बहुत सारे लोगों ने पुलिस दमन और मौत की आशंका के बावजूद नात्सीवाद का जमकर विरोध किया। लेकिन जर्मन आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस पूरे घटनाक्रम का मूक दर्शक और उदासीन साक्षी बना हुआ था। लोग कोई विरोधी कदम उठाने, अपना मतभेद व्यक्त करने, नात्सीवाद का विरोध करने से डरते थे। वे अपने दिल की बात कहने की बजाय आँख फेर कर चल देना ज़्यादा बेहतर मानते थे। पादरी नीम्योलर ने नात्सियों का लगातार विरोध किया। उन्होंने पाया कि नात्सी साम्राज्य में लोगों पर जिस तरह के निर्मम और संगठित जुल्म किए जा रहे हैं उनका जर्मनी की आम जनता विरोध नहीं कर पाती थी। जनता एक अजीब-सी खामोशी में डूबी हुई थी। गेस्तापो की दहशतनाक कार्यशैली और कुकृत्यों पर निशाना साधते हुए इस खामोशी के बारे में उन्होंने बड़े मर्मस्पर्शी ढंग से लिखा है :

‘पहले वे कम्युनिस्टों को ढूँढ़ते आए,
मैं कम्युनिस्ट नहीं था
इसलिए मैंने कुछ नहीं कहा।
फिर वे सोशल डेमोक्रैट्स को ढूँढ़ते आए,
मैं सोशल डेमोक्रैट नहीं था
इसलिए चुप रहा।
इसके बाद वे ट्रेड यूनियन वालों को ढूँढ़ते आए,
पर मैं ट्रेड यूनियन में नहीं था।
और फिर वे यहूदियों को ढूँढ़ते आए,
लेकिन मैं यहूदी नहीं था – इसलिए मैंने कुछ नहीं किया।
फिर, अंत में जब वह मेरे लिए आए
तो वहाँ कोई नहीं बचा था जो मेरे साथ खड़ा हो सके।’

बॉक्स 1

क्या नात्सियों द्वारा सताए गए लोगों के प्रति हमदर्दी का अभाव केवल दहशत की वजह से था? लॉरेंस रीस का कहना है कि यह मानना गलत होगा। लॉरेंस रीस ने हाल ही में अपने वृत्तचित्र ‘द नात्सीज़ : ए वार्निंग फ्रॉम हिस्ट्री’ के लिए तरह-तरह के लोगों से बातचीत की थी।

इसी सिलसिले में उन्होंने एर्ना क्राँत्स से भी बात की जो 1930 के दशक में किशोरी थीं और अब दादी बन चुकी हैं। एर्ना ने रीस से कहा :

तीस के दशक में एक उम्मीद सी दिखाई देती थी। यह बेरोज़गारों के लिए ही नहीं बल्कि हर किसी के लिए उम्मीद का दौर था क्योंकि हम सभी दबा-कुचला महसूस करते थे। अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकती हूँ कि उन दिनों तनख्वाहें बढ़ी थीं और जर्मनी को मानो अपना उद्देश्य दोबारा मिल गया था। कम से कम मुझे तो यही लगता था कि वह अच्छा दौर था। मुझे अच्छा लगता था।

क्रियाकलाप

एर्ना क्राँत्स ने ये क्यों कहा – ‘कम से कम मुझे तो यही लगता था’? आप उनकी राय को किस तरह देखते हैं?

नात्सी जर्मनी में यहूदी क्या महसूस करते थे यह एक बिल्कुल अलग कहानी है। शार्लट बेराट ने अपनी डायरी में लोगों के सपनों को चोरी-छिपे दर्ज किया था। बाद में उन्होंने अपनी इस डायरी को पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। पढ़ने वालों को झकझोर कर रख देने वाली इस किताब का नाम है *थर्ड राइख़ ऑफ़ ड्रीम्स।* शार्लटे ने इस किताब में बताया है कि एक समय के बाद किस तरह खुद यहूदी भी अपने बारे में नात्सियों द्वारा फैलाई जा रही रूढ़ छवियों पर यकीन करने लगे थे। अपने सपनों में उन्हें भी अपनी नाक आगे से मुड़ी हुई, बाल व आँखें काली और यहूदियों जैसी शक्ल-सूरत व चाल-ढाल दिखने लगी थी। नात्सी प्रेस में यहूदियों की जो छवियाँ और तस्वीरें छपती थीं, वे दिन-रात यहूदियों का पीछा कर रही थीं। ये छवियाँ सपनों में भी उनका पीछा नहीं छोड़ती थीं। बहुत सारे यहूदी गैस चेंबर में पहुँचने से पहले ही दम तोड़ गए।

चित्र 31 – *वॉरसा घेटो के निवासियों ने दस्तावेज़ इकट्ठा किए और उन्हें दूध के तीन टिनों में रख दिया। जब यह तय दिखाई देने लगा कि अब सब कुछ तबाह हो जाएगा तो उन्होंने 1943 में तीनों कनस्तरों को अपनी काल कोठरियों के तहखाने में दबा दिया। ये कनस्तर 1950 में लोगों के हाथ लगे.*

5.1 महाध्वंस (होलोकॉस्ट) के बारे में जानकारियाँ

नात्सी तौर-तरीकों की जानकारी नात्सी शासन के आखिरी सालों में रिस-रिस कर जर्मनी से बाहर जाने लगी थी। लेकिन, वहाँ कितना भीषण रक्तपात और बर्बर दमन हुआ था, इसका असली अंदाज़ा तो दुनिया को युद्ध खत्म होने और जर्मनी के हार जाने के बाद ही लग पाया। जर्मन समाज तो मलबे में दबे एक पराजित राष्ट्र के रूप में अपनी दुर्दशा से दुखी था ही, लेकिन यहूदी भी चाहते थे कि दुनिया उन भीषण अत्याचारों और पीड़ाओं को याद रखे जो उन्होंने नात्सी कत्लेआम में झेली थीं। इन्हीं कत्लेआमों को *महाध्वंस* (होलोकॉस्ट) भी कहा जाता है। जब दमनचक्र अपने शिखर पर था उन्हीं दिनों एक यहूदी टोले में रहने वाले एक आदमी ने अपने साथी से कहा था कि वह युद्ध के बाद सिर्फ़ आधा घंटा और जीना चाहता है। शायद वह दुनिया को यह बता कर जाना चाहता था कि नात्सी जर्मनी में क्या-क्या हो रहा था। जो कुछ हुआ उसकी गवाही देने और जो भी दस्तावेज़ हाथ आए उन्हें बचाए रखने की यह अदम्य चाह घेटो और कैंपों में नारकीय जीवन भोगने वालों में बहुत गहरे तौर पर देखी जा सकती है। उनमें से बहुतों ने डायरियाँ लिखीं, नोटबुक लिखीं और दस्तावेज़ों के संग्रह बनाए। लेकिन, इसके विपरीत, जब यह दिखाई देने लगा कि अब युद्ध में नात्सियों की पराजय तय ही है तो नात्सी नेतृत्व ने दफ़्तरों में मौजूद तमाम सबूतों को नष्ट करने के लिए अपने कर्मचारियों को पेट्रोल बाँटना शुरू कर दिया।

चित्र 32 – *डेनमार्क ने अपने यहूदियों को चोरी-छिपे जर्मनी से निकाल लिया था। इस काम के लिए इस्तेमाल की गई नौकाओं में से एक.*

दुनिया के बहुत सारे हिस्सों में स्मृति लेखों, साहित्य, वृत्तचित्रों, शायरी, स्मारकों और संग्रहालयों में इस महाध्वंस का इतिहास और स्मृति आज भी ज़िंदा है। ये सारी चीज़ें उन लोगों के लिए एक श्रद्धांजलि हैं जिन्होंने उन स्याह दिनों में भी प्रतिरोध का साहस दिखाया। उन लोगों के लिए भी ये सारी बातें शर्मनाक यादगार हैं जिन्होंने ये ज़ुल्म ढाए और उनके लिए चेतावनी की आवाज़ें हैं जो खामोशी से सब कुछ देखते रहे।

बॉक्स 2

गांधी जी ने हिटलर को लिखा

हिटलर को गांधीजी का पत्र
वर्धा, मध्य प्रान्त, भारत
23 जुलाई 1939

प्रिय मित्र,

मित्रों का यह आग्रह रहा है कि मानवता की खातिर मैं आपको कुछ लिखूँ। लेकिन मैं उनके अनुरोध को अस्वीकार करता रहा हूँ, क्योंकि मैं यह महसूस करता हूँ कि मेरा आपको पत्र लिखना धृष्टता होगी। लेकिन मुझे कुछ ऐसा लगता है कि इस मामले में मुझे हिसाब-किताब करके नहीं चलना चाहिए और मुझे आपसे अपील करनी ही चाहिए, चाहे वह जिस लायक हो।

यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि आज संसार में आप ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो उस युद्ध को रोक सकते हैं, जो मानव-जाति को बर्बर अवस्था में पहुँचा सकता है। क्या आपको किसी उद्देश्य के लिए इतना बड़ा मूल्य चुकाना चाहिए, फिर चाहे वह उद्देश्य आपकी दृष्टि में कितना ही महान क्यों न हो? क्या आप एक ऐसे व्यक्ति की अपील पर ध्यान देंगे जिसने सोच-विचार कर युद्ध के तरीके का त्याग कर दिया है और इसमें उसे काफी सफलता भी मिली है? जो भी हो, मैं यह मान लेता हूँ कि यदि मैंने आपको पत्र लिख कर कोई भूल की है तो उसके लिए आप मुझे क्षमा कर देंगे?

मैं हूँ,

आपका सच्चा मित्र,
मो. क. गांधी

सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय खण्ड 70, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

हिटलर को गांधीजी का पत्र
वर्धा
24 दिसंबर 1940

हमें अहिंसा के रूप में एक ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई है जिसे यदि संगठित कर लिया जाए तो वह संसार भर की सभी प्रबलतम हिंसात्मक शक्तियों के गठजोड़ का मुकाबला कर सकती है। जैसा कि मैंने कहा, अहिंसात्मक तरीके में पराजय नाम की कोई चीज है ही नहीं। यह तरीका तो बिना मारे या चोट पहुँचाए ''करने या मरने'' का तरीका है। इसका इस्तेमाल करने में धन की लगभग कोई ज़रूरत नहीं है और उस विनाशशास्त्र की तो नहीं ही जिसे आपने पूर्णता के चरमबिंदु पर पहुँचा दिया है। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि आप यह भी नहीं देख पाते कि विनाशकारी यंत्रों पर किसी का एकाधिकार नहीं है। अगर ब्रिटिश लोग नहीं तो कोई और देश निश्चय ही आपके तरीकों से ज्यादा बेहतर तरीका ईजाद कर लेगा और आपके ही तरीकों से आपको नीचा दिखाएगा। आप अपने देशवासियों के लिए कोई ऐसी विरासत नहीं छोड़ रहे हैं जिस पर उन्हें गर्व होगा। वे एक क्रूर कर्म की चर्चा करने में गर्व का अनुभव नहीं करेंगे फिर भले ही वह कृत्य कितनी ही निपुणतापूर्वक नियोजित क्यों न किया गया हो। अत: मैं मानवता के नाम पर आपसे युद्ध रोक देने की अपील करता हूँ।

हृदय से आपका मित्र,
मो. क. गांधी

सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय खण्ड 73, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

क्रियाकलाप

क्रियाकलाप

1. एक पन्ने में जर्मनी का इतिहास लिखें :
   - ➢ नात्सी जर्मनी के एक स्कूली बच्चे की नज़र से।
   - ➢ यातना गृह से ज़िंदा बच निकले एक यहूदी की नज़र से।
   - ➢ नात्सी शासन के राजनीतिक विरोधी की नज़र से।
2. कल्पना कीजिए कि आप हेलमुट हैं। स्कूल में आपके बहुत सारे यहूदी दोस्त हैं। आपका मानना है कि यहूदी खराब नहीं होते। ऐसे में आप अपने पिता से क्या कहेंगे, इस बारे में एक पैराग्राफ़ लिखें।

प्रश्न

?

1. वाइमर गणराज्य के सामने क्या समस्याएँ थीं?
2. इस बारे में चर्चा कीजिए कि 1930 तक आते-आते जर्मनी में नात्सीवाद को लोकप्रियता क्यों मिलने लगी?
3. नात्सी सोच के खास पहलू कौन-से थे?
4. नात्सियों का प्रोपेगैंडा यहूदियों के खिलाफ़ नफ़रत पैदा करने में इतना असरदार कैसे रहा?
5. नात्सी समाज में औरतों की क्या भूमिका थी? फ़्रांसीसी क्रांति के बारे में जानने के लिए अध्याय 1 देखें फ़्रांसीसी क्रांति और नात्सी शासन में औरतों की भूमिका के बीच क्या फ़र्क था? एक पैराग्राफ़ में बताएँ।
6. नात्सियों ने जनता पर पूरा नियंत्रण हासिल करने के लिए कौन-कौन से तरीके अपनाए?

खण्ड II

जीविका, अर्थव्यवस्था एवं समाज

खण्ड II में हम जीविका और अर्थव्यवस्थाओं के बारे में अध्ययन करेंगे। यहाँ हम इस बात पर विचार करेंगे कि आधुनिक विश्व में वनवासियों, चरवाहा समुदायों और किसानों की ज़िंदगी में किस तरह के बदलाव आए और इन बदलावों को तय करने में उन्होंने किस तरह का योगदान दिया।

आधुनिक विश्व का उदय कैसे हुआ है, इस बात पर विचार करते हुए हम अकसर कारखानों और शहरों पर और बाज़ार को आपूर्ति करने वाले औद्योगिक और कृषि क्षेत्रों पर ही ध्यान देते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि इन क्षेत्रों के बाहर दूसरी अर्थव्यवस्थाएँ भी हैं, दूसरे लोग भी हैं जो राष्ट्र के लिए महत्त्व रखते हैं। आधुनिक दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि चरवाहों और वनवासियों, घुमंतू किसानों और खाने की चीज़ें बीन कर गुज़र करने वालों की ज़िंदगी अतीत में ही कहीं अटक कर रह गई है। समकालीन विश्व के उदय का अध्ययन करते हुए उनके प्रति हमारा रवैया कुछ ऐसा रहता है मानो उनकी ज़िंदगी का कोई महत्त्व ही न हो। खण्ड II के अध्यायों में इस बात को रेखांकित किया गया है कि हमें उनकी ज़िंदगी के बारे में जानना चाहिए; हमें देखना चाहिए कि वे अपनी दुनिया को कैसे व्यवस्थित करते हैं और कैसे अपनी रोज़ी-रोटी चलाते हैं। ये लोग भी पूरी तरह उसी दुनिया का हिस्सा हैं जिसमें हम आज रह रहे हैं। वे गुज़रे हुए ज़माने के बचे-खुचे लोग नहीं हैं।

अध्याय 4 में आप जंगलों की सैर करेंगे। यहाँ आप देखेंगे कि जंगलों में रहने वाले विविध समुदाय जंगलों का किस-किस तरह इस्तेमाल करते रहे हैं। यहाँ आपको पता चलेगा कि उन्नीसवीं सदी में उद्योग और शहरों, जहाज़रानी और रेलवे के उदय व विस्तार से लकड़ी और अन्य वन उत्पादों के लिए जंगलों पर दबाव कितना बढ़ गया था। इन नई ज़रूरतों और माँगों के चलते जंगलों के प्रयोग से संबंधित कायदे-कानून बदले गए और जंगलों के रखरखाव की एक नई पद्धति सामने आई। यहाँ इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि जंगलों पर औपनिवेशिक नियंत्रण कैसे कायम हुआ, कैसे वन क्षेत्रों को मापा गया, पेड़ों का वर्गीकरण किया गया और बागान विकसित किए गए। इन सारे परिवर्तनों से वन संसाधनों का इस्तेमाल करने वाले स्थानीय समुदायों की ज़िंदगी पर भी असर पड़ा। उन्हें नई व्यवस्था में काम करने और अपने जीवन को नए सिरे से संगठित करने के लिए विवश किया गया। लेकिन बहुधा उन्होंने इन नियमों और कानूनों के खिलाफ़ बगावत भी की और सरकारों को अपनी नीतियाँ बदलने के लिए बाध्य किया। इस अध्याय में आपको इस बात का अंदाज़ा मिलेगा कि भारत और इंडोनेशिया में इन परिवर्तनों का इतिहास क्या रहा है।

अध्याय 5 में भारत और अफ़्रीका के पहाड़ों और रेगिस्तानों, मैदानों और पठारों में चरवाहों के पदचिह्नों को ढूँढ़ने की कोशिश की गई है। इन दोनों क्षेत्रों में चरवाहा समुदाय आबादी का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। फिर भी हम विरले ही कभी उनके जीवन का अध्ययन करते हैं। उनका इतिहास पाठ्यपुस्तकों के पन्नों में

शामिल नहीं हो पाता। अध्याय 5 में आपको पता चलेगा कि जंगलों पर स्थापित होते जा रहे नियंत्रण, कृषि विस्तार और चरागाहों के सिमटते जाने से उनके जीवन पर किस तरह के असर पड़े। इस हिस्से में आपको उनके आवागमन, अपने समुदाय के साथ उनके संबंधों और बदलते परिवेश के अनुरूप वह खुद को कैसे ढालते हैं, इसके बारे में जानने का मौका मिलेगा।

अध्याय 6 में हम किसानों और काश्तकारों की जिंदगी में आए परिवर्तनों के बारे में पढ़ेंगे। इस अध्याय में हम भारत, इंग्लैंड और अमेरिका की परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे। पिछली दो शताब्दियों के दौरान खेती को संगठित करने के तरीके में गहरे बदलाव आए हैं। नई तकनीक और नई माँगों, नये नियमों और क़ानूनों, संपत्ति की नयी अवधारणाओं ने ग्रामीण दुनिया की शक्ल-सूरत पूरी तरह बदल डाली है। पूँजीवाद और उपनिवेशवाद ने ग्रामीणों के जीवन को सिरे से बदल डाला है। अध्याय 6 आपको इन बदलावों से परिचित कराएगा और इस अध्ययन से आपको अहसास होगा कि समाज के विभिन्न तबकों—अमीर-गरीब, मर्द-औरत, बच्चों और वयस्कों—पर किस तरह के अलग-अलग असर पड़े।

जब तक हम विभिन्न समुदायों और समाजों के जीवन में आ रहे परिवर्तनों को देखना-बूझना शुरू नहीं करेंगे तब तक इस बात को अच्छी तरह नहीं समझ पाएँगे कि आज की दुनिया कैसे बनी है। साथ ही आधुनिकीकरण की समस्याओं को भी हम तब तक पूरी तरह नहीं समझ पाएँगे जब तक कि हम उससे पर्यावरण पर पड़ रहे प्रभावों पर विचार नहीं करेंगे।

वन्य-समाज और उपनिवेशवाद

अपने स्कूल और घर में चारों ओर नज़र दौड़ाकर उन सभी वस्तुओं को पहचानें जो जंगल की हैं-इस किताब का कागज़, मेज़-कुर्सियाँ, दरवाज़े-खिड़कियाँ, वे रंग जिनसे आपके कपड़े रंगे जाते हैं, मसाले, आपकी टॉफ़ी के सेलोफ़ेन रैपर, बीड़ियों के तेंदू पत्ते, गोंद, शहद, कॉफ़ी, चाय और रबड़। साथ ही चॉकलेट में इस्तेमाल होने वाला तेल जो साल के बीजों से निकलता है, खाल से चमड़ा बनाने में इस्तेमाल होने वाला चर्मशोधक (टैनिन) या दवाओं के रूप में इस्तेमाल होने वाली जड़ी-बूटियाँ—इन सबको भी हमें नहीं भूलना चाहिए। और हाँ, बाँस, जलावन की लकड़ी, घास, कच्चा कोयला, पैकिंग में उपयोग होने वाली वस्तुएँ, फल-फूल, पशु-पक्षी एवं ढेरों दूसरी चीज़ें भी तो जंगलों से ही आती हैं। ऐमेज़ॉन या पश्चिमी घाट के जंगलों के एक ही टुकड़े में पौधों की 500 अलग-अलग प्रजातियाँ मिल जाती हैं।

यह विविधता तेज़ी से लुप्त होती जा रही है। औद्योगीकरण के दौर में सन् 1700 से 1995 के बीच 139 लाख वर्ग किलोमीटर जंगल यानी दुनिया के कुल क्षेत्रफल का 9.3 प्रतिशत भाग औद्योगिक इस्तेमाल, खेती-बाड़ी, चरागाहों व ईंधन की लकड़ी के लिए साफ़ कर दिया गया।

चित्र 1 – यह छत्तीसगढ़ का एक साल वन है.
घना होने के कारण जंगल की सतह तक सूरज की रोशनी यहाँ कम ही पहुँच पाती है। इस चित्र में आप पेड़-पौधों के विभिन्न आकार और प्रजातियाँ देख सकते हैं।

1 वनों का विनाश क्यों?

वनों के लुप्त होने को सामान्यत: वन-विनाश कहते हैं। वन-विनाश कोई नयी समस्या नहीं है। वैसे तो यह प्रक्रिया कई सदियों से चली आ रही थी लेकिन औपनिवेशिक शासन के दौरान इसने कहीं अधिक व्यवस्थित और व्यापक रूप ग्रहण कर लिया। आइए, भारत में वन-विनाश के कुछ कारणों पर गौर करें।

1.1 ज़मीन की बेहतरी

सन् 1600 में हिंदुस्तान के कुल भू-भाग के लगभग छठे हिस्से पर खेती होती थी। आज यह आँकड़ा बढ़ कर आधे तक पहुँच गया है। इन सदियों के दौरान जैसे-जैसे आबादी बढ़ती गयी और खाद्य पदार्थों की माँग में भी वृद्धि हुई, वैसे-वैसे किसान भी जंगलों को साफ़ करके खेती की सीमाओं को विस्तार देते गए। औपनिवेशिक काल में खेती में तेज़ी से फैलाव आया।

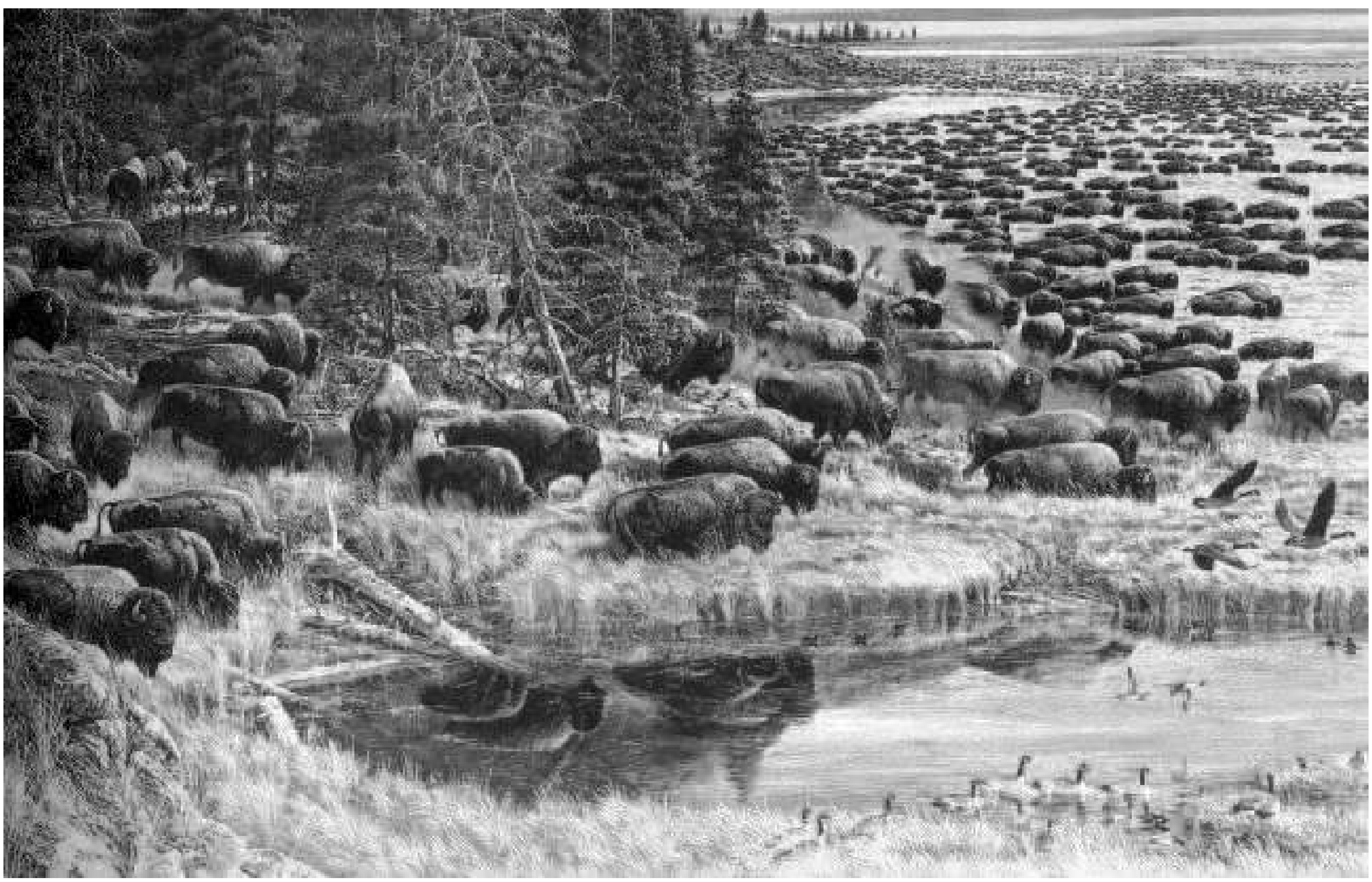

चित्र 2 – ह्वेन द वैलीज़ वर फुल (जब घाटियाँ भरी पड़ी थीं)। जॉन डॉसन की पेंटिंग.
लाकोता जैसे देशज अमेरिकी आदिवासी समूह, जो इन विशाल उत्तर-अमेरिकी मैदानों में रहते थे, का अर्थतंत्र अत्यंत वैविध्यपूर्ण था। वे मक्का उगाते, बीसन का शिकार करते और जंगली पौधों की खोज में रहते थे। अंग्रेज़ आबादकारों ने बीसनों के लिए विशाल भू-भाग को खुला छोड़ना बेकार समझा। 1860 के बाद बीसनों की बहुत बड़ी संख्या में हत्या की गई।

इसकी कई वजहें थीं। पहली, अंग्रेज़ों ने व्यावसायिक फ़सलों जैसे पटसन, गन्ना, गेहूँ व कपास के उत्पादन को जम कर प्रोत्साहित किया। उन्नीसवीं सदी के यूरोप में बढ़ती शहरी आबादी का पेट भरने के लिए खाद्यान्न और औद्योगिक उत्पादन के लिए कच्चे माल की ज़रूरत थी। लिहाज़ा इन फ़सलों

बॉक्स 1

किसी स्थान पर खेती न होने का मतलब उस जगह का गैर-आबाद होना नहीं है। जब गोरे आबादकार ऑस्ट्रेलिया पहुँचे तो उन्होंने दावा किया कि यह महाद्वीप खाली था। वास्तव में, ये आदिवासी पथ-प्रदर्शकों के नेतृत्व में, पुरातन रास्तों से इस भू-भाग में प्रविष्ट हुए थे। ऑस्ट्रेलिया के विभिन्न आदिवासी समुदायों के अपने स्पष्ट विभाजित इलाके थे। ऑस्ट्रेलिया के नगार्रिन्दजेरियों (Ngarrindjeri) की अपनी ज़मीन की आकृति इनके पहले पूर्वज, नगुरूनदेरी (Ngurunderi) के प्रतीकात्मक शरीर जैसी थी। यह ज़मीन पाँच अलग-अलग प्राकृतिक प्रदेशों : खारे पानी, झीलों, झाड़ियों, रेगिस्तानी मैदानों, नदीतटीय मैदानों को अपने में समेटे हुए थी, जो अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक ज़रूरतों को पूरा किया करते थे।

की माँग में इजाफ़ा हुआ। दूसरी वजह यह थी कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में औपनिवेशिक सरकार ने जंगलों को अनुत्पादक समझा। उनके हिसाब से इस व्यर्थ के बियाबान पर खेती करके उससे राजस्व और कृषि उत्पादों को पैदा किया जा सकता था और इस तरह राज्य की आय में बढ़ोतरी की जा सकती थी। यही वजह थी कि 1880 से 1920 के बीच खेती योग्य ज़मीन के क्षेत्रफल में 67 लाख हेक्टेयर की बढ़त हुई।

खेती के विस्तार को हम विकास का सूचक मानते हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ज़मीन को जोतने के पहले जंगलों की कटाई करनी पड़ती है।

स्रोत क

परती ज़मीन पर कब्ज़ा करके उसे खेती के योग्य बनाया जाए, यह विचार सारी दुनिया के उपनिवेशकों के बीच शुरू से ही लोकप्रिय रहा है। यही वह विचार था जिसने विजय को न्यायोचित ठहराया।

अमेरिकी लेखक रिचर्ड हार्डिंग 1896 में मध्य-अमेरिका के हॉन्डूरास के बारे में लिखते हैं:

'आज इससे बढ़कर रोचक सवाल कुछ और नहीं हो सकता कि दुनिया की गैर-विकसित पड़ी ज़मीन का क्या किया जाए; क्या इसे उस महान शक्ति के हाथों में जाना चाहिए जो इसके परिवर्तन की इच्छा रखती है या कि इसे इसके वास्तविक स्वामी के हाथों में ही रहने देना चाहिए, जो इसके मूल्य को नहीं समझ सकता। ये मध्य-अमेरिकी एक सुसज्जित घर में अर्ध-बर्बरों के गिरोह जैसे हैं जो न तो इस घर का उपयोग ही कर सकते हैं और न ही इसमें आराम।'

तीन साल बाद अमेरिकी-आधिपत्य में यूनाइटेड फ्रूट कंपनी का गठन हुआ जिसने व्यापक पैमाने पर मध्य-अमेरिका में केले उगाना प्रारंभ किया। इस कंपनी ने इन मुल्कों की सरकारों पर इस हद तक अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था कि इन्हें 'बनाना रिपब्लिक' के नाम से जाना गया।

डेविड स्पर, *'द रेटरिक ऑफ़ एम्पायर'* (1993) में उद्धृत।

1.2 पटरी पर स्लीपर

नए शब्द

स्लीपर: रेल की पटरी के आर-पार लगे लकड़ी के तख्ते जो पटरियों को उनकी जगह पर रोके रखते हैं।

चित्र 3 - सिंहभूम के जंगलों में साल के तनों से 'स्लीपरों' का निर्माण, छोटा नागपुर, मई 1897.

रेल की पटरी हेतु स्लीपर बनाने के लिए वन-विभाग पेड़ों को काटने और इनसे पटरे बनाने के लिए तो आदिवासियों को नियुक्त किया करता था लेकिन उनको अपने घर बनाने के लिए इन पेड़ों को काटने की अनुमति न थी।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक इंग्लैंड में बलूत (ओक) के जंगल लुप्त होने लगे थे। इसकी वजह से शाही नौसेना के लिए लकड़ी की आपूर्ति में मुश्किल आ खड़ी हुई। मज़बूत और टिकाऊ लकड़ी की नियमित आपूर्ति के बिना अंग्रेज़ी जहाज़ भला कैसे बन सकते थे? और जहाज़ों के बिना शाही सत्ता कैसे बचाई और बनाए रखी जा सकती थी? 1820 के दशक में खोजी दस्ते हिंदुस्तान की वन-संपदा का अन्वेषण करने के लिए भेजे गए। एक दशक के भीतर बड़े पैमाने पर पेड़ काटे जाने लगे और भारी मात्रा में लकड़ी का हिंदुस्तान से निर्यात होने लगा।

1850 के दशक में रेल लाइनों के प्रसार ने लकड़ी के लिए एक नई तरह की माँग पैदा कर दी। शाही सेना के आवागमन और औपनिवेशिक व्यापार के लिए रेल लाइनें अनिवार्य थीं। इंजनों को चलाने के लिए ईंधन के तौर पर और रेल की पटरियों को जोड़े रखने के लिए 'स्लीपरों' के रूप में लकड़ी की भारी ज़रूरत थी। एक मील लंबी रेल की पटरी के लिए 1760-2000 स्लीपरों की आवश्यकता पड़ती थी।

भारत में रेल-लाइनों का जाल 1860 के दशक से तेज़ी से फैला। 1890 तक लगभग 25,500 कि.मी. लंबी लाइनें बिछायी जा चुकी थीं। 1946 में इन लाइनों की लंबाई 7,65,000 कि.मी. तक बढ़ चुकी थी। रेल लाइनों के प्रसार के साथ-साथ बड़ी तादाद में पेड़ भी काटे गए। अकेले मद्रास प्रेसीडेंसी में 1850 के दशक में प्रतिवर्ष 35,000 पेड़ स्लीपरों के लिए काटे गए। सरकार ने आवश्यक मात्रा की आपूर्ति के लिए निजी ठेके दिए। इन ठेकेदारों ने बिना सोचे-समझे पेड़ काटना शुरू कर दिया। रेल लाइनों के इर्द-गिर्द जंगल तेज़ी से गायब होने लगे।

चित्र 4 – बाँस के बेड़े कासालाँग नदी में बह कर जाते हुए, चिट्टगाँग पर्वतीय पट्टी.

चित्र 5 – रंगून के एक लकड़ी गोदाम में लकड़ी के शहतीर सहेजता हुआ हाथी.
औपनिवेशिक दौर में अकसर हाथियों का इस्तेमाल जंगलों और लकड़ी के गोदामों में भारी-भरकम लकड़ी को उठाने के लिए किया जाता था।

स्रोत ख

'मुल्तान और सुक्कूर के बीच इंडस वैली रेलवे नाम से लगभग 300 मील लंबी एक नई लाइन बनायी जानी थी। 2000 स्लीपर प्रति मील की दर से, इसके लिए 10 फ़ुट × 10 इंच × 5 इंच (या 3.5 घन फ़ुट प्रति इकाई) के 600,000 स्लीपर की ज़रूरत होगी या कि 2,00,000 क्यूबिक फ़ीट से ऊपर लकड़ी की। इन इंजनों को ईंधन के लिए लकड़ी चाहिए। दोनों तरफ़ प्रतिदिन एक ट्रेन व एक मन प्रति ट्रेन-मील के हिसाब से सालाना 2,19,000 मन की ज़रूरत होगी। इसके अलावा ईंटों के लिए भी भारी मात्रा में ईंधन की ज़रूरत होगी। स्लीपर मुख्य रूप से सिंध के जंगलों से आया करेंगे। यह ईंधन, सिंध और पंजाब के झाऊ (Tamarisk) और झांड (Jhand) के जंगलों से लाया जाना था। दूसरी नयी लाइन नॉर्दर्न स्टेट रेलवे, लाहौर से मुल्तान तक थी। आँकड़ों के हिसाब से इसके निर्माण के लिए 22,00,000 स्लीपर की ज़रूरत होगी।'

ई.पी.स्टेबिंग, द *फ़ॉरेस्ट्स ऑफ़ इंडिया,* भाग II (1923)।

क्रियाकलाप

एक मील लंबी रेल की पटरी के लिए 1,760 से 2,000 तक स्लीपर की ज़रूरत थी। यदि 3 मीटर लंबी बड़ी लाइन की पटरी बिछाने के लिए एक औसत कद के पेड़ से 3–5 स्लीपर बन सकते हैं तो हिसाब लगा कर देखें कि एक मील लंबी पटरी बिछाने के लिए कितने पेड़ काटने होंगे?

चित्र 6 – ईंधन की लकड़ी इकट्ठा कर घर को लौटती औरतें.

चित्र 7 – लट्ठे ले जाता हुआ ट्रक.
लट्ठे काटने के लिए किसी क्षेत्र का चुनाव करने के बाद वन विभाग सबसे पहले चौड़ी सड़कों का निर्माण करता है जिससे ट्रकों का प्रवेश संभव हो सके। जंगल के उन रास्तों से इसकी तुलना करें जिनसे होकर लोग ईंधन की लकड़ी या दूसरे लघु वन-उत्पाद इकट्ठा करने के लिए जाया करते थे। ऐसे अनेक ट्रक लकड़ी से भरे हुए जंगलों से बड़े शहरों को जाते थे।

1.3 बागान

यूरोप में चाय, कॉफ़ी और रबड़ की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए इन वस्तुओं के बागान बने और इनके लिए भी प्राकृतिक वनों का एक भारी हिस्सा साफ़ किया गया। औपनिवेशिक सरकार ने जंगलों को अपने कब्ज़े में लेकर उनके विशाल हिस्सों को बहुत सस्ती दरों पर यूरोपीय बागान मालिकों को सौंप दिया। इन इलाकों की बाड़ाबंदी करके जंगलों को साफ़ कर दिया गया और चाय-कॉफ़ी की खेती की जाने लगी।

चित्र 8 - प्लेज़र ब्राँड चाय

2 व्यावसायिक वानिकी की शुरुआत

पिछले खंड में हमने देखा कि जहाज़ और रेल की पटरियाँ बिछाने के लिए अंग्रेज़ों को जंगलों की ज़रूरत थी। अंग्रेज़ों को इस बात की चिंता थी कि स्थानीय लोगों द्वारा जंगलों का उपयोग व व्यापारियों द्वारा पेड़ों की अंधाधुंध कटाई से जंगल नष्ट हो जाएँगे। इसलिए उन्होंने डायट्रिच ब्रैंडिस नामक जर्मन विशेषज्ञ को इस विषय पर मशविरे के लिए बुलाया और उसे देश का पहला वन महानिदेशक नियुक्त किया गया।

ब्रैंडिस ने महसूस किया कि लोगों को संरक्षण विज्ञान में प्रशिक्षित करना और जंगलों के प्रबंधन के लिए एक व्यवस्थित तंत्र विकसित करना होगा। इसके लिए कानूनी मंज़ूरी की ज़रूरत पड़ेगी। वन संपदा के उपयोग संबंधी नियम तय करने पड़ेंगे। पेड़ों की कटाई और पशुओं को चराने जैसी गतिविधियों पर पाबंदी लगा कर ही जंगलों को लकड़ी उत्पादन के लिए आरक्षित किया जा सकेगा। इस तंत्र की अवमानना करके पेड़ काटने वाले

क्रियाकलाप

यदि 1862 में भारत सरकार की बागडोर आपके हाथ में होती और आप पर इतने व्यापक पैमाने पर रेलों के लिए स्लीपर और ईंधन आपूर्ति की ज़िम्मेवारी होती तो आप इसके लिए कौन-कौन से कदम उठाते?

चित्र 9 - इटली स्थित टस्कनी में पोपलर के जंगल का एक व्यवस्थित गलियारा.
पोपलर के जंगल मुख्यत: लकड़ी के लिए महत्त्व रखते हैं। पत्तों, फलों या दूसरे उत्पादों के लिए ये उपयोगी नहीं हैं। एक समान लंबाई वाले और सीध में लगे इन पेड़ों को देखें। यही वह मॉडल है जिसे 'वैज्ञानिक' वानिकी ने प्रोत्साहित किया।

चित्र 10 – काँगड़ा का एक देवदार बागान, 1933.
इंडियन फ़ारेस्ट रिकॉर्ड्स्, भाग XV से ।

किसी भी व्यक्ति को सज़ा का भागी बनना होगा। इस तरह ब्रैंडिस ने 1864 में भारतीय वन सेवा की स्थापना की और 1865 के भारतीय वन अधिनियम को सूत्रबद्ध करने में सहयोग दिया। इम्पीरियल फ़ॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना 1906 में देहरादून में हुई। यहाँ जिस पद्धति की शिक्षा दी जाती थी उसे **'वैज्ञानिक वानिकी'** (साइंटिफ़िक फ़ॉरेस्ट्री) कहा गया। लेकिन आज पारिस्थितिकी विशेषज्ञों सहित ज़्यादातर लोग मानते हैं कि यह पद्धति कतई वैज्ञानिक नहीं है।

वैज्ञानिक वानिकी के नाम पर विविध प्रजाति वाले प्राकृतिक वनों को काट डाला गया। इनकी जगह सीधी पंक्ति में एक ही किस्म के पेड़ लगा दिए गए। इसे बागान कहा जाता है। वन विभाग के अधिकारियों ने जंगलों का सर्वेक्षण किया, विभिन्न किस्म के पेड़ों वाले क्षेत्र की नाप-जोख की और वन-प्रबंधन के लिए योजनाएँ बनायीं। उन्होंने यह भी तय किया कि बागान का कितना क्षेत्र प्रतिवर्ष काटा जाएगा। कटाई के बाद खाली ज़मीन पर पुन: पेड़ लगाए जाने थे ताकि कुछ ही वर्षों में यह क्षेत्र पुन: कटाई के लिए तैयार हो जाए।

1865 में वन अधिनियम के लागू होने के बाद इसमें दो बार संशोधन किए गए– पहले 1878 में और फिर 1927 में। 1878 वाले अधिनियम में जंगलों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया : आरक्षित, सुरक्षित व ग्रामीण। सबसे अच्छे जंगलों को 'आरक्षित वन' कहा गया। गाँव वाले इन जंगलों से अपने उपयोग के लिए कुछ भी नहीं ले सकते थे। वे घर बनाने या ईंधन के लिए केवल सुरक्षित या ग्रामीण वनों से ही लकड़ी ले सकते थे।

2.1 लोगों का जीवन कैसे प्रभावित हुआ?

एक अच्छा जंगल कैसा होना चाहिए इसके बारे में वनपालों और ग्रामीणों के विचार बहुत अलग थे। जहाँ एक तरफ ग्रामीण अपनी अलग-अलग ज़रूरतों,

चित्र 11 – दि इम्पीरियल फ़ॉरेस्ट स्कूल देहरादून, भारत.
ब्रिटिश साम्राज्य में खुला पहला वानिकी स्कूल।
स्रोत: इंडियन फ़ॉरेस्टर, खण्ड XXXI.

नया शब्द

वैज्ञानिक वानिकी : वन विभाग द्वारा पेड़ों की कटाई जिसमें पुराने पेड़ काट कर उनकी जगह नए पेड़ लगाए जाते हैं।

चित्र 12 – जंगलों से महुआ (Madhuca Indica) बीनना.
गाँव वाले उजाला होने के पहले ही उठकर जमीन पर गिरे हुए महुआ के फूलों को बीनने के लिए जंगल चले जाते। महुआ के पेड़ बेशकीमती हैं। महुआ के फूल खाए भी जा सकते हैं और इनका इस्तेमाल शराब बनाने के लिए भी किया जा सकता है। इसके बीजों से तेल भी बनाया जाता है।

जैसे ईंधन, चारे व पत्तों की पूर्ति के लिए वन में विभिन्न प्रजातियों का मेल चाहते थे, वहीं वन-विभाग को ऐसे पेड़ों की ज़रूरत थी जो जहाज़ों और रेलवे के लिए इमारती लकड़ी मुहैया करा सकें, ऐसी लकड़ियाँ जो सख्त, लंबी और सीधी हों। इसलिए सागौन और साल जैसी प्रजातियों को प्रोत्साहित किया गया और दूसरी किस्में काट डाली गईं।

वन्य इलाकों में लोग कंद-मूल-फल, पत्ते आदि वन-उत्पादों का विभिन्न ज़रूरतों के लिए उपयोग करते हैं। फल और कंद अत्यंत पोषक खाद्य हैं, विशेषकर मॉनसून के दौरान जब फ़सल कट कर घर न आयी हो। दवाओं के लिए जड़ी-बूटियों का इस्तेमाल होता है, लकड़ी का प्रयोग हल जैसे खेती के औज़ार बनाने में किया जाता है, बाँस से बेहतरीन बाड़ें बनायी जा सकती हैं और इसका उपयोग छतरी तथा टोकरी बनाने के लिए भी किया जा सकता है। सूखे हुए कुम्हड़े के खोल का प्रयोग पानी की बोतल के रूप में किया जा सकता है। जंगलों में लगभग सब कुछ उपलब्ध है – पत्तों को जोड़-जोड़ कर 'खाओ-फेंको' किस्म के पत्तल और दोने बनाए जा सकते हैं, *सियादी (Bauhiria vahili)*की लताओं से रस्सी बनायी जा सकती है, सेमूर (सूती रेशम) की काँटेदार छाल पर सब्ज़ियाँ छीली जा सकती हैं, महुए के पेड़ से खाना पकाने और रोशनी के लिए तेल निकाला जा सकता है।

चित्र 13 – सूखते हुए तेंदू-पत्ते.
जंगलों में रहने वाले बहुत सारे लोगों के लिए तेंदू के पत्तों की बिक्री आय का एक प्रमुख साधन है। प्रत्येक बंडल में लगभग 50 पत्ते होते हैं। एक व्यक्ति कठिन परिश्रम करके एक दिन में ज़्यादा से ज़्यादा 100 बंडल इकट्ठा कर सकता है। बच्चे, महिलाएँ और वृद्ध ही मुख्यत: पत्ते इकट्ठे करते हैं।

चित्र 14 – खलिहानों से अनाज लाते हुए.
खलिहानों से पुरुष टोकरियों में अनाज ला रहे हैं। पुरुष अपने कंधों के आर-पार एक छड़ी में बंधी टोकरियों को लाते हैं जबकि औरतें इन टोकरियों को अपने सिर पर रख कर लाती हैं।

वन अधिनियम के चलते देश भर में गाँव वालों की मुश्किलें बढ़ गईं। इस कानून के बाद घर के लिए लकड़ी काटना, पशुओं को चराना, कंद-मूल-फल इकट्ठा करना आदि रोज़मर्रा की गतिविधियाँ गैरकानूनी बन गईं। अब उनके पास जंगलों से लकड़ी चुराने के अलावा कोई चारा नहीं बचा और पकड़े जाने की स्थिति में वे वन-रक्षकों की दया पर होते जो उनसे घूस ऐंठते थे। जलावनी लकड़ी एकत्र करने वाली औरतें विशेष तौर से परेशान रहने लगीं। मुफ़्त खाने-पीने की मांग करके लोगों को तंग करना पुलिस और जंगल के चौकीदारों के लिए सामान्य बात थी।

क्रियाकलाप

वन-प्रदेशों में रहने वाले बच्चे पेड़-पौधों की सैकड़ों प्रजातियों के नाम बता सकते हैं। आप पेड़-पौधों की कितनी प्रजातियों के नाम जानते हैं?

2.2 वनों के नियमन से खेती कैसे प्रभावित हुई?

यूरोपीय उपनिवेशवाद का सबसे गहरा प्रभाव झूम या घुमंतू खेती की प्रथा पर दिखायी पड़ता है। एशिया, अफ़्रीका व दक्षिण अमेरिका के अनेक भागों में यह खेती का एक परंपरागत तरीका है। इसके कई स्थानीय नाम हैं जैसे – दक्षिण-पूर्व एशिया में *लादिंग*, मध्य अमेरिका में *मिलपा*, अफ़्रीका में *चितमेन* या *तावी* व श्रीलंका में *चेना*। हिंदुस्तान में घुमंतू खेती के लिए *धया, पेंदा, बेवर, नेवड़, झूम, पोडू, खंदाद* और *कुमरी* ऐसे ही कुछ स्थानीय नाम हैं।

घुमंतू कृषि के लिए जंगल के कुछ भागों को बारी-बारी से काटा और जलाया जाता है। मॉनसून की पहली बारिश के बाद इस राख में बीज बो दिए जाते हैं और अक्तूबर-नवंबर में फ़सल काटी जाती है। इन खेतों पर दो-एक साल खेती करने के बाद इन्हें 12 से 18 साल तक के लिए परती छोड़ दिया जाता है जिससे वहाँ फिर से जंगल पनप जाए। इन भूखंडों में मिश्रित फ़सलें उगायी जाती हैं जैसे मध्य भारत और अफ़्रीका में ज्वार-बाजरा, ब्राज़ील में कसावा और लैटिन अमेरिका के अन्य भागों में मक्का व फलियाँ।

चित्र 15 – टौंग्या खेती एक ऐसी व्यवस्था थी जहाँ किसानों को कुछ समय के लिए बागानों में ही खेती करने की आज़ादी थी। 1921 में बर्मा के थर्रावाड़ी डिवीज़न से लिए गए इस चित्र में किसान धान बो रहे हैं। लोहे के छोर वाले लंबे बाँसों की सहायता से पुरुष धरती में छेद बनाते थे। औरतें प्रत्येक छेद में धान बोती थीं।

यूरोपीय वन रक्षकों की नज़र में यह तरीका जंगलों के लिए नुकसानदेह था। उन्होंने महसूस किया कि जहाँ कुछेक सालों के अंतर पर खेती की जा रही हो ऐसी ज़मीन पर रेलवे के लिए इमारती लकड़ी वाले पेड़ नहीं उगाए

चित्र 16 – जंगल के पेंदा या पोदू हिस्सों को जलाना.
घुमंतू खेती में जंगलों को साफ़ किया जाता है। सामान्यत: चट्टानों की ढलानों पर पेड़ों को काटने के बाद राख के लिए इन्हें जला दिया जाता है। इसके बाद इस क्षेत्र में फिर बीज बिखेर दिए जाते हैं और वर्षा से सिंचाई के लिए इन्हें छोड़ दिया जाता है।

जा सकते। साथ ही, जंगल जलाते समय बाकी बेशकीमती पेड़ों के भी फैलती लपटों की चपेट में आ जाने का खतरा बना रहता है। घुमंतू खेती के कारण सरकार के लिए लगान का हिसाब रखना भी मुश्किल था। इसलिए सरकार ने घुमंतू खेती पर रोक लगाने का फैसला किया। इसके परिणामस्वरूप अनेक समुदायों को जंगलों में उनके घरों से जबरन विस्थापित कर दिया गया। कुछ को अपना पेशा बदलना पड़ा तो कुछ ने छोटे-बड़े विद्रोहों के ज़रिए प्रतिरोध किया।

2.3 शिकार की आज़ादी किसे थी?

जंगल संबंधी नए कानूनों ने वनवासियों के जीवन को एक और तरह से प्रभावित किया। वन कानूनों के पहले जंगलों में या उनके आसपास रहने वाले बहुत सारे लोग हिरन, तीतर जैसे छोटे-मोटे शिकार करके जीवनयापन करते थे। यह पारंपरिक प्रथा अब गैर-कानूनी हो गयी। शिकार करते हुए पकड़े जाने वालों को अवैध शिकार के लिए दंडित किया जाने लगा।

जहाँ एक तरफ़ वन कानूनों ने लोगों को शिकार के परंपरागत अधिकार से वंचित किया, वहीं बड़े जानवरों का आखेट एक खेल बन गया। हिंदुस्तान में बाघों और दूसरे जानवरों का शिकार करना सदियों से दरबारी और नवाबी संस्कृति का हिस्सा रहा था। अनेक मुगल कलाकृतियों में शहज़ादों और सम्राटों को शिकार का मज़ा लेते हुए दिखाया गया है। किंतु औपनिवेशिक शासन के दौरान शिकार का चलन इस पैमाने तक बढ़ा कि कई प्रजातियाँ

चित्र 17 – मछली मारने वाला लड़का.
बच्चे अपने माँ-बाप के साथ जंगल जाते हैं और बहुत जल्द ही वे मछली पकड़ना, वन-उत्पादों को इकट्ठा करना व खेती करना सीख लेते हैं। बाँस के ट्रैप को, जिसे यह लड़का अपने बाएँ हाथ में पकड़े है, बहाव के मुहाने पर रखने पर मछली इसमें चली आती है।

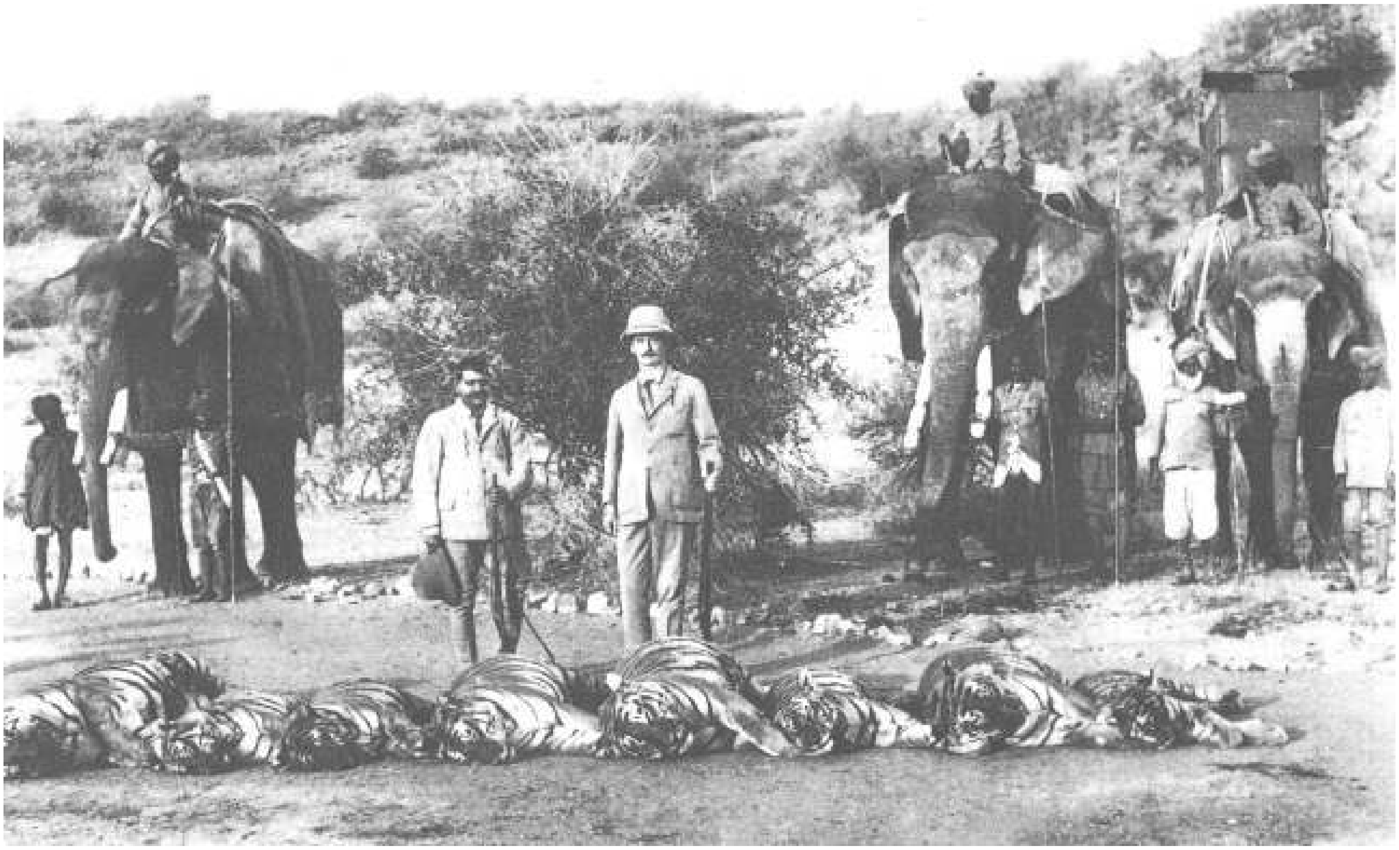

चित्र 18 – नेपाल में शिकार के बाद लॉर्ड रीडिंग.
फ़ोटो में मृत बाघों की गिनती करें। ब्रिटिश औपनिवेशिक अफ़सर और राजा जब शिकार के लिए जाते तब उनके साथ नौकरों की एक पूरी फ़ौज होती थी। गाँव के कुशल शिकारी हाँका लगाते थे और साहब को बस गोली भर चलाना होता था।

लगभग पूरी तरह लुप्त हो गईं। अंग्रेज़ों की नज़र में बड़े जानवर जंगली, बर्बर और आदि समाज के प्रतीक-चिह्न थे। उनका मानना था कि खतरनाक जानवरों को मार कर वे हिन्दुस्तान को सभ्य बनाएँगे। बाघ, भेड़िये और दूसरे बड़े जानवरों के शिकार पर यह कह कर इनाम दिए गए कि इनसे किसानों को खतरा है। 1875 से 1925 के बीच इनाम के लालच में 80,000 से ज़्यादा बाघ, 1,50,000 तेंदुए और 2,00,000 भेड़िये मार गिराए गए। धीरे-धीरे बाघ के शिकार को एक खेल की ट्रॉफ़ी के रूप में देखा जाने लगा। अकेले जॉर्ज यूल नामक अंग्रेज़ अफ़सर ने 400 बाघों को मारा था। प्रारंभ में जंगल के कुछ इलाके शिकार के लिए ही आरक्षित थे। काफ़ी समय बाद पर्यावरणविदों और संरक्षणवादियों ने आवाज़ उठाई कि जानवरों की इन सारी प्रजातियों की सुरक्षा होनी चाहिए न कि इनको मारा जाना चाहिए।

2.4 नए व्यापार, नए रोज़गार और नई सेवाएँ

जंगलों पर वन विभाग का नियंत्रण स्थापित हो जाने से लोगों को कई तरह के नुकसान हुए, लेकिन कुछ लोगों को व्यापार के नए अवसरों का लाभ भी मिला। कई समुदाय अपने परंपरागत पेशे छोड़ कर वन-उत्पादों का व्यापार करने लगे। महज़ हिंदुस्तान ही नहीं बल्कि दुनिया भर में कुछ ऐसा

स्रोत ग

बैगा मध्य भारत का एक वन समुदाय है। 1892 में जब उनकी घुमंतू खेती पर रोक लगा दी गयी तब उन्होंने सरकार को यह याचिका दी:

'हर रोज़ हम फ़ाका करते हैं, क्योंकि हमारे पास खाने का अनाज नहीं है। हमारे पास सिर्फ़ एक ही दौलत है और वह है हमारी कुल्हाड़ी। हमारे पास अपने तन ढकने को कपड़े नहीं हैं। आग ताप कर हम ठंडी रातें गुज़ारते हैं। हम अब खाने के लिए मर रहे हैं। हम कहीं जा भी नहीं सकते हैं। हमने ऐसी क्या गलती की है कि सरकार हमारी परवाह नहीं करती? कैदियों को जेलों में पर्याप्त भोजन दिया जाता है। घास उगाने वालों को भी उनकी ज़मीन से बेदखल नहीं किया जाता है, लेकिन हम जो यहाँ कई पीढ़ियों से रहते आए हैं, हमें सरकार हमारा अधिकार नहीं देती।'

वेरियर एल्विन (1939); माधव गाडगिल व रामचन्द्र गुहा, *'दिस फ़िशर्ड लैंड: एन इकोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया'* में उद्धृत।

ही नज़ारा दिखता है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं सदी के मध्य में ऊँची जगहों पर रह कर मैनियोक उगाने वाले ब्राज़ीली ऐमेज़ॉन के मुनदुरुकु समुदाय के लोगों ने व्यापारियों को रबड़ की आपूर्ति के लिए जंगली रबड़ के वृक्षों से 'लेटेक्स' एकत्र करना प्रारंभ कर दिया। कालांतर में वे व्यापार चौकियों की ओर नीचे उतर आए और पूरी तरह व्यापारियों पर निर्भर हो गए।

हिंदुस्तान में वन-उत्पादों का व्यापार कोई अनोखी बात नहीं थी। मध्यकाल से ही आदिवासी समुदायों द्वारा बंजारा आदि घुमंतू समुदायों के माध्यम से हाथियों और दूसरे सामान जैसे खाल, सींग, रेशम के कोये, हाथी-दाँत, बाँस, मसाले, रेशे, घास, गोंद और राल के व्यापार के सबूत मिलते हैं।

लेकिन अंग्रेज़ों के आने के बाद व्यापार पूरी तरह सरकारी नियंत्रण में चला गया। ब्रिटिश सरकार ने कई बड़ी यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों को विशेष इलाकों में वन-उत्पादों के व्यापार की **इजारेदारी** सौंप दी। स्थानीय लोगों द्वारा शिकार करने और पशुओं को चराने पर बंदिशें लगा दी गईं। इस प्रक्रिया में मद्रास प्रेसीडेंसी के कोरावा, कराचा व येरुकुला जैसे अनेक चरवाहे और घुमंतू समुदाय अपनी जीविका से हाथ धो बैठे। इनमें से कुछ को 'अपराधी कबीले' कहा जाने लगा और ये सरकार की निगरानी में फ़ैक्ट्रियों, खदानों व बागानों में काम करने को मजबूर हो गए।

काम के नए अवसरों का मतलब यह नहीं था कि उनकी जीवन स्थिति में हमेशा सुधार ही हुआ हो। असम के चाय बागानों में काम करने के लिए झारखंड के संथाल और उराँव व छत्तीसगढ़ के गोंड जैसे आदिवासी मर्द व औरतों, दोनों की भर्ती की गयी। उनकी मज़दूरी बहुत कम थी और कार्यपरिस्थितियाँ उतनी ही खराब। उन्हें उनके गाँवों से उठा कर भर्ती तो कर लिया गया था लेकिन उनकी वापसी आसान नहीं थी।

नया शब्द

इजारेदारी: एकाधिकार।

स्रोत घ

पुतुमायो में रबड़ की निकासी

दुनिया भर में, बागानों में काम की स्थितियाँ भयावह थीं। ऐमेज़ॉन के पुटुमायो क्षेत्र में 'पेरूवियन रबड़ कंपनी' (ब्रिटिश व पेरूवियन साझे में) द्वारा रबड़ की निकासी हुईतोतोस कहे जाने वाले स्थानीय इंडियनों की बेगार पर निर्भर थी। 1900-1912 के बीच पुटुमायो में 4,000 टन रबड़ का उत्पादन हुआ और इसी दौरान इंडियन आबादी में यंत्रणा, रोगों और पलायन के चलते 30,000 की गिरावट आयी। रबड़ कंपनी के एक वेतनभोगी ने वर्णन किया है कि रबड़ का संग्रह कैसे किया जाता था। मैनेजर ने सैकड़ों इंडियनों को स्टेशन पर उपस्थित होने का निर्देश दिया:

उसने अपनी कार्बाइन और छुरा पकड़ा और इन बेबस इंडियनों का कत्लेआम शुरू कर दिया। थोड़ी ही देर में बच्चों, महिलाओं और पुरुषों की 150 लाशों से ज़मीन ढक गयी। खून से नहाए हुए, दया की भीख माँगते ज़िंदा बचे लोगों को मुर्दों के ढेर के साथ जला दिया गया और मैनेजर चिल्लाया, "मैं उन सभी इंडियनों को खत्म कर देना चाहता हूँ जो रबड़ लाने के लिए दिए गए मेरे आदेश को नहीं मानते हैं।"

निकोलस डर्क्स (सं.) *कॉलोनियलिज़्म ऐन्ड कल्चर* (1992) में माइकेल ताउसिग, 'कल्चर ऑफ़ टेरर-स्पेस ऑफ़ डैथ'।

स्रोत

3 वन-विद्रोह

हिंदुस्तान और दुनिया भर में वन्य समुदायों ने अपने ऊपर थोपे गए बदलावों के खिलाफ़ बगावत की। संथाल परगना में सीधू और कानू, छोटा नागपुर में बिरसा मुंडा और आंध्र प्रदेश में अल्लूरी सीताराम राजू को लोकगीतों और कथाओं में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ उभरे आंदोलनों के नायक के रूप में आज भी याद किया जाता है। अब हम बस्तर रियासत में 1910 में हुए ऐसे ही एक विद्रोह का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

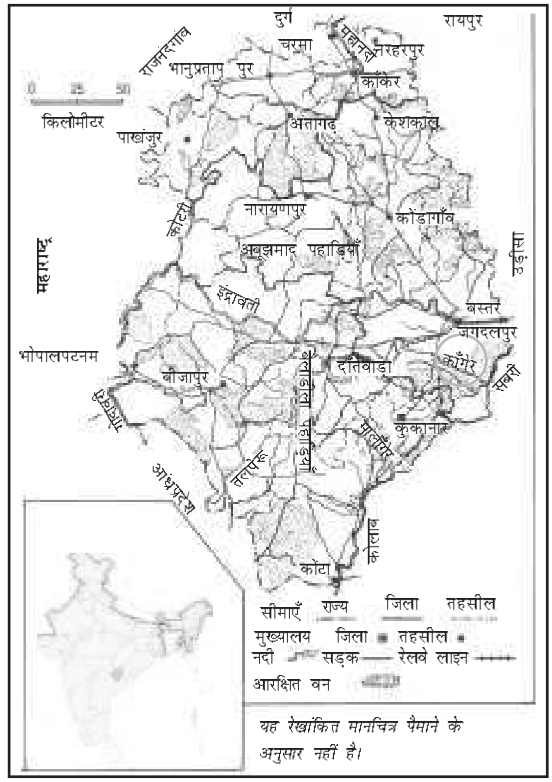

चित्र 20 – सन् 2000 में बस्तर.
1947 में बस्तर रियासत को काँकेर रियासत में मिला दिया गया और यह पूरा क्षेत्र मध्य प्रदेश का बस्तर ज़िला बना। 1998 में इस ज़िले को एक बार फिर काँकेर, बस्तर और दांतेवाड़ा ज़िलों में बाँट दिया गया। 2000 में ये ज़िले छत्तीसगढ़ का हिस्सा बन गए। 1990 का विद्रोह काँकेर वन क्षेत्र (घेरे में) से ही शुरू हुआ था और जल्दी ही राज्य के अन्य क्षेत्रों में फैल गया।

3.1 बस्तर के लोग

बस्तर छत्तीसगढ़ के सबसे दक्षिणी छोर पर आंध्र प्रदेश, उड़ीसा व महाराष्ट्र की सीमाओं से लगा हुआ क्षेत्र है। बस्तर का केंद्रीय भाग पठारी है। इस पठार के उत्तर में छत्तीसगढ़ का मैदान और दक्षिण में गोदावरी का मैदान है। इन्द्रावती नदी बस्तर के आर-पार पूरब से पश्चिम की तरफ़ बहती है। बस्तर में मरिया और मुरिया गोंड, धुरवा, भतरा, हलबा आदि अनेक आदिवासी समुदाय रहते हैं। अलग-अलग ज़बानें बोलने के बावजूद इनके रीति-रिवाज और विश्वास एक जैसे हैं। बस्तर के लोग मानते हैं कि हरेक गाँव को उसकी ज़मीन 'धरती माँ' से मिली है और बदले में वे प्रत्येक खेतिहर त्योहार पर धरती को चढ़ावा चढ़ाते हैं। धरती के अलावा वे नदी, जंगल व पहाड़ों की आत्मा को भी उतना ही मानते हैं। चूँकि हर गाँव को अपनी चौहद्दी पता होती है इसलिए ये लोग इन सीमाओं के भीतर समस्त प्राकृतिक संपदाओं की देखभाल करते हैं। यदि एक गाँव के लोग दूसरे गाँव के जंगल

चित्र 19 – बस्तर में सेना का कैंप 1910.
बस्तर में सेना के एक कैंप का यह चित्र 1910 में लिया गया। सेना तंबुओं, बावर्चियों और सिपाहियों के साथ चलती थी। यहाँ एक सिपाही विद्रोहियों से सुरक्षा के लिए कैंप की पहरेदारी कर रहा है।

से थोड़ी लकड़ी लेना चाहते हैं तो इसके बदले में वे एक छोटा शुल्क अदा करते हैं जिसे *देवसारी*, *दांड़* या *मान* कहा जाता है। कुछ गाँव अपने जंगलों की हिफ़ाज़त के लिए चौकीदार रखते हैं जिन्हें वेतन के रूप में हर घर से थोड़ा-थोड़ा अनाज दिया जाता है। हर वर्ष एक बड़ी सभा का आयोजन होता है जहाँ एक परगने (गाँवों का समूह) के गाँवों के मुखिया जुटते हैं और जंगल सहित तमाम दूसरे अहम मुद्दों पर चर्चा करते हैं।

3.2 लोगों के भय

औपनिवेशिक सरकार ने 1905 में जब जंगल के दो-तिहाई हिस्से को आरक्षित करने, घुमंतू खेती को रोकने और शिकार व वन्य-उत्पादों के संग्रह पर पाबंदी लगाने जैसे प्रस्ताव रखे तो बस्तर के लोग बहुत परेशान हो गए। कुछ गाँवों को आरक्षित वनों में इस शर्त पर रहने दिया गया कि वे वन-विभाग के लिए पेड़ों की कटाई और ढुलाई का काम मुफ्त करेंगे और जंगल को आग से बचाए रखेंगे। बाद में इन्हीं गाँवों को 'वन ग्राम' कहा जाने लगा। बाकी गाँवों के लोग बगैर किसी सूचना या मुआवज़े के हटा दिए गए। काफ़ी समय से गाँव वाले ज़मीन के बढ़े हुए लगान तथा औपनिवेशिक अफ़सरों के हाथों बेगार और चीज़ों की निरंतर माँग से त्रस्त थे। इसके बाद भयानक अकाल का दौर आया : पहले 1899-1900 में और फिर 1907-1908 में। वन आरक्षण ने चिंगारी का काम किया।

लोगों ने बाज़ारों में, त्योहारों के मौके पर और जहाँ कहीं भी कई गाँवों के मुखिया और पुजारी इकट्ठा होते थे वहाँ जमा होकर इन मुद्दों पर चर्चा करना प्रारंभ कर दिया। काँगेर वनों के धुरवा समुदाय के लोग इस मुहिम में सबसे आगे थे क्योंकि आरक्षण सबसे पहले यहीं लागू हुआ था। हालाँकि कोई एक व्यक्ति इनका नेता नहीं था लेकिन बहुत सारे लोग नेथानार गाँव के गुंडा धूर को इस आंदोलन की एक अहम शख्सियत मानते हैं। 1910 में आम की टहनियाँ, मिट्टी के ढेले, मिर्च और तीर गाँव-गाँव चक्कर काटने लगे। यह गाँवों में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ बगावत का संदेश था। हरेक गाँव ने इस बगावत के खर्चे में कुछ न कुछ मदद दी। बाज़ार लूटे गए, अफ़सरों और व्यापारियों के घर, स्कूल और पुलिस थानों को लूटा व जलाया गया तथा अनाज का पुनर्वितरण किया गया। जिन पर हमले हुए उनमें से ज़्यादातर लोग औपनिवेशिक राज्य और इसके दमनकारी कानूनों से किसी न किसी तरह जुड़े थे। इन घटनाओं के एक चश्मदीद गवाह, मिशनरी विलियम वार्ड ने लिखा : 'पुलिसवालों, व्यापारियों, जंगल के अर्दलियों, स्कूल मास्टरों और प्रवासियों का हुजूम चारों तरफ़ से जगदलपुर में चला आ रहा था।'

अंग्रेज़ों ने बगावत को कुचल देने के लिए सैनिक भेजे। आदिवासी नेताओं ने बातचीत करनी चाही लेकिन अंग्रेज़ फ़ौज ने उनके तंबुओं को घेर कर उन पर गोलियाँ चला दीं। इसके बाद बगावत में शरीक लोगों पर कोड़े बरसाते और उन्हें सज़ा देते सैनिक गाँव-गाँव घूमने लगे। ज़्यादातर गाँव खाली हो गए क्योंकि लोग भाग कर जंगलों में चले गए थे। अंग्रेज़ों को फिर

स्रोत च

'भोंडिया ने 400 लोगों को इकट्ठा कर कई सारे बकरों की कुर्बानी दी और दीवान, जिसके बीजापुर की तरफ़ से आने की संभावना थी, को बीच में ही रोकने के लिए चल पड़ा। 10 फ़रवरी को चली इस भीड़ ने पुलिस-चौकी तथा मारेंगा स्कूल जला दिया, केसलुर में लाईनें व पशु-अवरोधशाला और टोकापाल (राजुर) में भी एक स्कूल को जलाया गया। दीवान को सुरक्षित वापस लाने के लिए भेजे गए स्टेट रिज़र्व पुलिस के एक हेड कांस्टेबल और चार कांस्टेबलों को बंधक बना लिया गया और एक दस्ता करंजी स्कूल जलाने के लिए छोड़ दिया गया। इस भीड़ ने गार्डों के साथ कोई बदसलूकी करने के बजाय उनके हथियार उनसे ले लिए और उन्हें छोड़ दिया। भोंडिया माझी के नेतृत्व में बागियों के एक दल ने कोयर नदी का रास्ता लिया क्योंकि दीवान मुख्य सड़क छोड़कर उधर से आ सकता था। बाकी लोग बीजापुर से आने वाली मुख्य सड़क को बंद करने के लिए दिलमिल्ली चले गए। बुद्धू माझी और हरचंद नाईक ने मुख्य दल की कमान सँभाली।'

डेब्रेट, पोलिटिकल एजेन्ट, छत्तीसगढ़ फ़्यूडेटरी स्टेट्स, का 23 जून, 1910 को कमिश्नर, छत्तीसगढ़ डिवीज़न, के नाम लिखा पत्र।

स्रोत छ

बस्तर में रहने वाले बुज़ुर्ग इस लड़ाई के बारे में, जिसे उन्होंने अपने माता-पिता से सुना था, बताते हैं :

कनकापाल के पोदियामी गंगा को उनके पिता पोदियामी तोकेली ने बताया कि:

'अंग्रेज़ों ने आकर ज़मीन लेनी शुरू कर दी। राजा को आसपास क्या हो रहा है इसकी परवाह न थी, इसलिए ज़मीन ली जा रही है, यह देख उसके समर्थकों ने लोगों को इकट्ठा किया। लड़ाई शुरू हुई। उसके कट्टर समर्थक मारे गए और बाकियों पर कोड़ों से मार पड़ी। मेरे पिता, पोदियामी तोकेली को भी कोड़ों से पीटा गया। लेकिन वह भागने में कामयाब हुए और बच निकले। यह आंदोलन अंग्रेज़ों से छुटकारा पाने के लिए था। अंग्रेज़ उनको घोड़ों से बाँध कर घसीटा करते थे। हरेक गाँव से दो-चार लोग जगदलपुर गए — चिदपाल के गार्गी देवा और मिखोला, माकी-मिरास के दोल और अबराबुंदी, बालेरास का वादापांदु, पालेम का उंगा और दूसरे ढेर सारे लोग।'

इसी तरह से नंदरासा के एक बुज़ुर्ग चेंद्रू ने कहा कि :

'लोगों की तरफ़ पुरनिया थे — पालेम के मिल्ले मुदाल, नंदरासा के सोयेकाल धुर्वा और पंडवा माझी। हर परगना से लोग अलनार तराई इकट्ठा हुए। एक झटके में पलटन ने सबको घेर लिया। गुंडा धूर उड़ सकते थे इसलिए उड़ निकले। लेकिन तीर-कमान वाले अब क्या करें? रात में लड़ाई होने लगी। लोग झाड़ियों में छिप कर पेट के बल भागे। फ़ौज की पलटन भी भागी। जो लोग ज़िंदा बचे किसी तरह अपने गाँव-घर पहुँचे।'

स्रोत

से नियंत्रण पाने में तीन महीने (फ़रवरी-मई) लग गए। फिर भी वे गुंडा धूर को कभी नहीं पकड़ सके। विद्रोहियों की सबसे बड़ी जीत यह रही कि आरक्षण का काम कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया और आरक्षित क्षेत्र को भी 1910 से पहले की योजना से लगभग आधा कर दिया गया।

बस्तर के जंगलों और लोगों की कहानी यहीं खत्म नहीं होती। आज़ादी के बाद भी लोगों को जंगलों से बाहर रखने और जंगलों को औद्योगिक उपयोग के लिए आरक्षित रखने की नीति कायम रही। 1970 के दशक में, विश्व बैंक ने प्रस्ताव रखा कि कागज़ उद्योग को लुगदी उपलब्ध कराने के लिए 4,600 हेक्टेयर प्राकृतिक साल वनों की जगह देवदार के पेड़ लगाए जाएँ। लेकिन, स्थानीय पर्यावरणविदों के विरोध के फलस्वरूप इस परियोजना को रोक दिया गया।

आइए, अब एशिया के एक और हिस्से – इंडोनेशिया – की तरफ चलें। ज़रा देखें कि इसी वक्त वहाँ क्या कुछ हो रहा था।

4 जावा के जंगलों में हुए बदलाव

जावा को आजकल इंडोनेशिया के चावल-उत्पादक द्वीप के रूप में जाना जाता है। लेकिन एक ज़माने में यह क्षेत्र अधिकांशतः वनाच्छादित था। इंडोनेशिया एक डच उपनिवेश था और जैसा कि हम देखेंगे, भारत व इंडोनेशिया के वन कानूनों में कई समानताएँ थीं। इंडोनेशिया में जावा ही वह क्षेत्र है जहाँ डचों ने वन-प्रबंधन की शुरुआत की थी। अंग्रेज़ों की तरह वे भी जहाज़ बनाने के लिए जावा से लकड़ी हासिल करना चाहते थे। सन् 1600 में जावा की अनुमानित आबादी 34 लाख थी। हालाँकि उपजाऊ मैदानों में ढेर सारे गाँव थे लेकिन पहाड़ों में भी घुमंतू खेती करने वाले अनेक समुदाय रहते थे।

4.1 जावा के लकड़हारे

जावा में कलांग समुदाय के लोग कुशल लकड़हारे और घुमंतू किसान थे। उनका महत्त्व इस बात से आँका जा सकता है कि 1755 में जब जावा की माताराम रियासत बँटी तो यहाँ के 6,000 कलांग परिवारों को भी दोनों राज्यों में बराबर-बराबर बाँट दिया गया। उनके कौशल के बगैर सागौन की कटाई कर राजाओं के महल बनाना बहुत मुश्किल था। डचों ने जब अठारहवीं सदी में वनों पर नियंत्रण स्थापित करना प्रारंभ किया तब उन्होंने भी कोशिश की कि कलांग उनके लिए काम करें। 1770 में कलांगों ने एक डच किले पर हमला करके इसका प्रतिरोध किया लेकिन इस विद्रोह को दबा दिया गया।

4.2 डच वैज्ञानिक वानिकी

उन्नीसवीं सदी में जब लोगों के साथ-साथ इलाकों पर भी नियंत्रण स्थापित करना ज़रूरी लगने लगा तो डच उपनिवेशकों ने जावा में वन-कानून लागू कर ग्रामीणों की जंगल तक पहुँच पर बंदिशें थोप दीं। इसके बाद नाव या घर बनाने जैसे खास उद्देश्यों के लिए, सिर्फ़ चुने हुए जंगलों से लकड़ी काटी जा सकती थी और वह भी कड़ी निगरानी में। ग्रामीणों को मवेशी चराने, बिना परमिट लकड़ी ढोने या जंगल से गुज़रने वाली सड़क पर घोड़ा-गाड़ी अथवा जानवरों पर चढ़ कर आने-जाने के लिए दंडित किया जाने लगा।

भारत की ही तरह यहाँ भी जहाज़ और रेल-लाइनों के निर्माण ने वन-प्रबंधन और वन-सेवाओं को लागू करने की आवश्यकता पैदा कर दी। 1882 में अकेले जावा से ही 2,80,000 स्लीपरों का निर्यात किया गया। ज़ाहिर है कि पेड़ काटने, लट्ठों को ढोने और स्लीपर

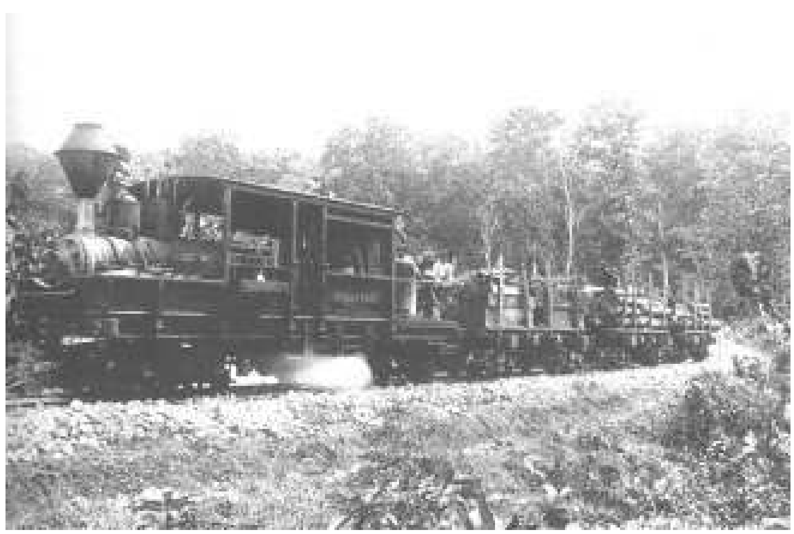

चित्र 21 – जंगल से सागौन की लकड़ी ले जाती मालगाड़ी, औपनिवेशिक शासन का अंतिम दौर.

तैयार करने के लिए श्रम की आवश्यकता थी। डचों ने पहले तो जंगलों में खेती की ज़मीनों पर लगान लगा दिया और बाद में कुछ गाँवों को इस शर्त पर इससे मुक्त कर दिया कि वे सामूहिक रूप से पेड़ काटने और लकड़ी ढोने के लिए भैंसें उपलब्ध कराने का काम मुफ़्त में किया करेंगे। इस व्यवस्था को *ब्लैन्डाँगडिएन्स्टेन* के नाम से जाना गया। बाद में वन-ग्रामवासियों को लगान-माफ़ी के बजाय थोड़ा-बहुत मेहनताना तो दिया जाने लगा लेकिन वन-भूमि पर खेती करने के उनके अधिकार सीमित कर दिए गए।

4.3 सामिन की चुनौती

सन् 1890 के आसपास सागौन के जंगलों में स्थित रान्दुब्लातुंग गाँव के निवासी सुरोन्तिको सामिन ने जंगलों पर राजकीय मालिकाने पर सवाल खड़ा करना प्रारंभ कर दिया। उसका तर्क था कि चूँकि हवा, पानी, ज़मीन और लकड़ी राज्य की बनायी हुई नहीं हैं इसलिए उन पर उसका अधिकार नहीं हो सकता। जल्दी ही एक व्यापक आंदोलन खड़ा हो गया। इस आंदोलन को संगठित करने वालों में सामिन का दामाद भी सक्रिय था। 1907 तक 3,000 परिवार उसके विचारों को मानने लगे थे। डच जब ज़मीन का सर्वेक्षण करने आए तो कुछ सामिनवादियों ने अपनी ज़मीन पर लेट कर इसका विरोध किया जबकि दूसरों ने लगान या जुर्माना भरने या बेगार करने से इनकार कर दिया।

स्रोत ज

यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कंपनी के एक अफ़सर डर्क वॉन होज़ेनड्राप ने उपनिवेश कालीन जावा में कहा था: 'बटाविया के लोगो! चौंक पड़ो। आश्चर्य से सुनो, मुझे जो तुम्हें बताना है। हमारे बेड़े नष्ट हो चुके हैं, हमारा व्यापार मुरझा चुका है, हमारा नौकायन नष्ट होने वाला है- उत्तरी ताकतों से हम बेपनाह दौलत देकर जहाज़ों को बनाने के लिए लकड़ी और दूसरी सामग्री खरीदते हैं और जावा में हम सामरिक व व्यापारिक संगठित दलों को, जिनकी जड़ें इस धरती में धँसी है, छोड़ते हैं। हाँ, जावा के जंगलों में एक सम्मानजनक नौसेना के निर्माण को बहुत ही कम समय में संभव करने के लिए पर्याप्त लकड़ी है, साथ ही जितनी ज़रूरत हो उतने व्यापारिक जहाज़ों को बनाने के लिए भी — इसके बावजूद जावा के जंगल उतनी ही तेज़ी से उगते हैं जितनी तेज़ी से उन्हें काटा जाता है। उचित प्रबंधन और अच्छी देख-रेख के साथ ये स्रोत कभी भी खत्म नहीं होंगे।'

डर्क वॉन होज़ेनडॉर्प; पेलूसो, *रिच फ़ॉरेस्ट्स, पुअर पीपुल,* 1992 में उद्धृत।

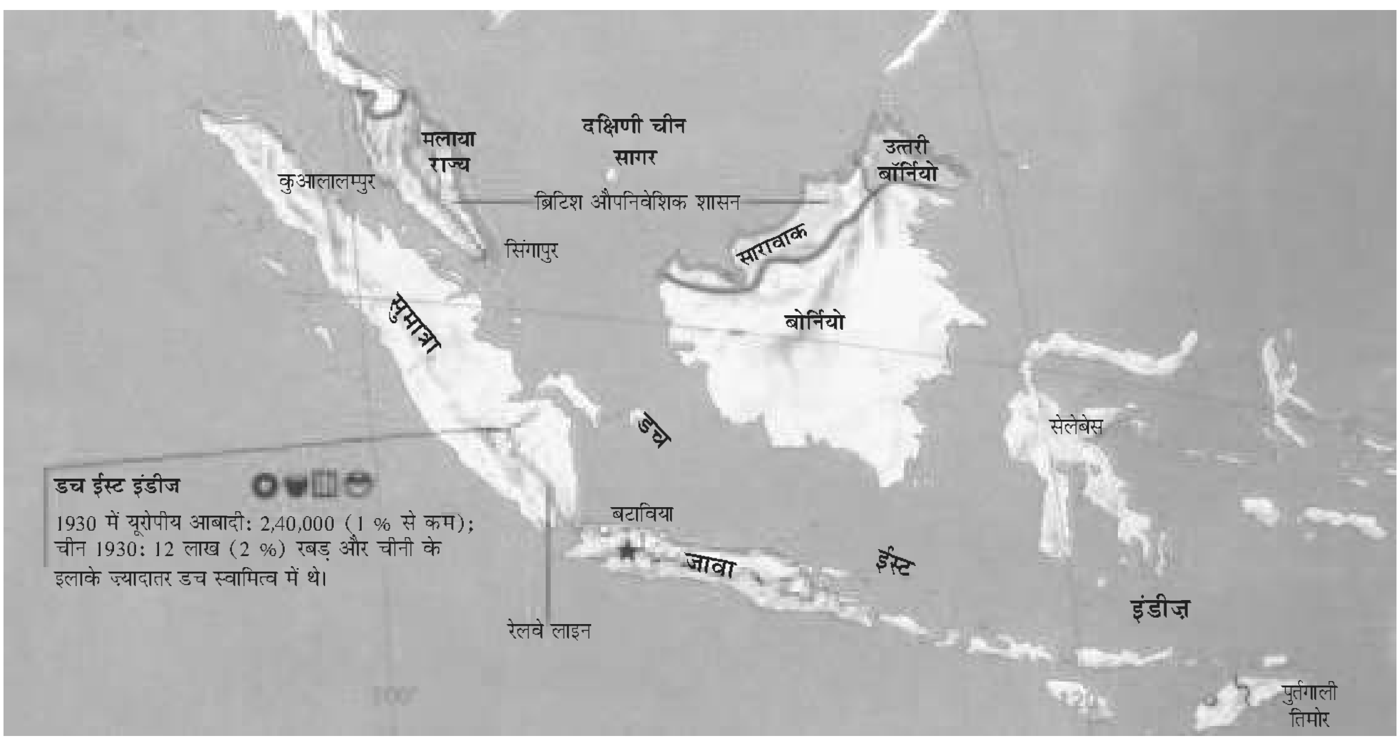

चित्र 22 – इंडोनेशिया के ज़्यादातर जंगल सुमात्रा, कालिमांतान व पश्चिम इरियान में स्थित हैं। जावा ही वह जगह है जहाँ डचों ने अपनी 'वैज्ञानिक वानिकी' की शुरुआत की थी। यह द्वीप जो अब चावल उत्पादन के लिए मशहूर है, कभी सागौन के जंगलों से ढका रहता था।

4.4 युद्ध और वन-विनाश

पहले और दूसरे विश्वयुद्ध का जंगलों पर गहरा असर पड़ा। भारत में तमाम चालू कार्ययोजनाओं को स्थगित करके वन विभाग ने अंग्रेज़ों की जंगी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए बेतहाशा पेड़ काटे। जावा पर जापानियों के कब्ज़े से ठीक पहले डचों ने 'भस्म-कर-भागो नीति' (Scorched Earth Policy) अपनायी जिसके तहत आरा-मशीनों और सागौन के विशाल लट्ठों के ढेर जला दिए गए जिससे वे जापानियों के हाथ न लग पाएँ। इसके बाद जापानियों ने वनवासियों को जंगल काटने के लिए बाध्य करके अपने युद्ध उद्योग के लिए जंगलों का निर्मम दोहन किया। बहुत सारे गाँव वालों ने इस अवसर का लाभ उठा कर जंगल में अपनी खेती का विस्तार किया। जंग के बाद इंडोनेशियाई वन सेवा के लिए इन ज़मीनों को वापस हासिल कर पाना कठिन था। हिंदुस्तान की ही तरह यहाँ भी खेती योग्य भूमि के प्रति लोगों की चाह और ज़मीन को नियन्त्रित करने तथा लोगों को उससे बाहर रखने की वन विभाग की ज़िद के बीच टकराव पैदा हुआ।

चित्र 23 – इंडियन म्यूनिशन्स बोर्ड, सूले पैगोड़ा पर एकत्रित जहाज़ों में लादने को तैयार वॉर टिम्बर स्लीपर, 1917 .
पहले और दूसरे विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्र शायद इतना सफल नहीं होते यदि वे अपने उपनिवेशों की संपदाओं और व्यक्तियों का ऐसा दोहन करने में सक्षम न होते। दोनों विश्वयुद्धों का हिंदुस्तान, इंडोनेशिया व दूसरी जगहों के वनों पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। कार्ययोजनाओं को स्थगित कर दिया गया और वन विभाग ने युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए जमकर वृक्ष काटे।

4.5 वानिकी में नए बदलाव

अस्सी के दशक से एशिया और अफ़्रीका की सरकारों को यह समझ में आने लगा कि वैज्ञानिक वानिकी और वन समुदायों को जंगलों से बाहर रखने की नीतियों के चलते बार-बार टकराव पैदा होते हैं। परिणामस्वरूप, वनों से इमारती लकड़ी हासिल करने के बजाय जंगलों का संरक्षण ज़्यादा महत्त्वपूर्ण लक्ष्य बन गया है। सरकार ने यह भी मान लिया है कि इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए वन प्रदेशों में रहने वालों की मदद लेनी होगी। मिज़ोरम से लेकर केरल तक हिंदुस्तान में हर कहीं घने जंगल सिर्फ इसलिए बच पाए कि ग्रामीणों ने *सरना, देवराकुडु, कान, राई* इत्यादि नामों से पवित्र बगीचा समझ कर इनकी रक्षा की। कुछ गाँव तो वन-रक्षकों पर निर्भर रहने के बजाय अपने जंगलों की चौकसी आप करते रहे हैं – इसमें हर परिवार बारी-बारी से अपना योगदान देता है। स्थानीय वन-समुदाय और पर्यावरणविद् अब वन-प्रबंधन के वैकल्पिक तरीकों के बारे में सोचने लगे हैं।

चित्र 24 – डच औपनिवेशिक शासन के अधीन रेमबैंग में लट्ठों का गोदाम.

क्रियाकलाप

1. जहाँ आप रहते हैं क्या वहाँ के जंगली इलाकों में कोई बदलाव आए हैं? ये बदलाव क्या हैं और क्यों हुए हैं?
2. एक औपनिवेशिक वनपाल और एक अदिवासी के बीच जंगल में शिकार करने के मसले पर होने वाली बातचीत के संवाद लिखें।

क्रियाकलाप

प्रश्न

?

1. औपनिवेशिक काल के वन प्रबंधन में आए परिवर्तनों ने इन समूहों को कैसे प्रभावित किया :
   - झूम खेती करने वालों को
   - घुमंतू और चरवाहा समुदायों को
   - लकड़ी और वन-उत्पादों का व्यापार करने वाली कंपनियों को
   - बागान मालिकों को
   - शिकार खेलने वाले राजाओं और अंग्रेज़ अफ़सरों को
2. बस्तर और जावा के औपनिवेशिक वन प्रबंधन में क्या समानताएँ हैं?
3. सन् 1880 से 1920 के बीच भारतीय उपमहाद्वीप के वनाच्छादित क्षेत्र में 97 लाख हेक्टेयर की गिरावट आयी। पहले के 10.86 करोड़ हेक्टेयर से घटकर यह क्षेत्र 9.89 करोड़ हेक्टेयर रह गया था। इस गिरावट में निम्नलिखित कारकों की भूमिका बताएँ :
   - रेलवे
   - जहाज़ निर्माण
   - कृषि-विस्तार
   - व्यावसायिक खेती
   - चाय-कॉफ़ी के बागान
   - आदिवासी और किसान
4. युद्धों से जंगल क्यों प्रभावित होते हैं?

आधुनिक विश्व में चरवाहे

चित्र 1 - पूर्वी गढ़वाल के बुग्याल में चरती भेड़ें.
बुग्याल ऊँचे पहाड़ों पर 12,000 फुट से भी ज़्यादा ऊँचाई पर स्थित विशाल प्राकृतिक चरागाह होते हैं। जाड़ों में ये बर्फ़ से ढके रहते हैं और अप्रैल के बाद हरे-भरे हो जाते हैं। इस समय पहाड़ियों की तलहटी तरह-तरह की घास, जड़ों और जड़ी-बूटियों से भरी रहती है। मॉनसून तक इन चरागाहों में घनी हरियाली छा जाती है और चारों तरफ फूल ही फूल दिखाई देने लगते हैं।

इस अध्याय में आप घुमंतू चरवाहों के बारे में पढ़ेंगे। घुमंतू ऐसे लोग होते हैं जो किसी एक जगह टिक कर नहीं रहते बल्कि रोज़ी-रोटी के जुगाड़ में यहाँ से वहाँ घूमते रहते हैं। देश के कई हिस्सों में हम घुमंतू चरवाहों को अपने जानवरों के साथ आते-जाते देख सकते हैं। चरवाहों की किसी टोली के पास भेड़-बकरियों का रेवड़ या झुंड होता है तो किसी के पास ऊँट या अन्य मवेशी रहते हैं। क्या उन्हें देख कर आपने कभी इस बारे में सोचा है कि वे कहाँ से आए हैं और कहाँ जा रहे हैं? क्या आपको पता है कि वे कैसे रहते हैं, उनकी आमदनी के साधन क्या हैं और उनका अतीत क्या था?

चरवाहों को इतिहास की पुस्तकों में विरले ही जगह मिल पाती है। जब भी आप अर्थव्यवस्था के बारे में पढ़ते हैं – फिर चाहे वह इतिहास की कक्षा हो या अर्थशास्त्र की – सिर्फ़ कृषि और उद्योगों के बारे में ही पढ़ते हैं। कभी-कभार इन कक्षाओं में कारीगरों के बारे में भी पढ़ने को मिल जाता है। लेकिन चरवाहों के बारे में पढ़ने-लिखने को ज़्यादा कुछ नहीं मिलता। मानो उनकी ज़िंदगी का कोई मतलब ही न हो। अकसर मान लिया जाता है कि वे ऐसे लोग हैं जिनके लिए आज की आधुनिक दुनिया में कोई जगह नहीं है; जैसे उनका दौर बीत चुका हो।

इस अध्याय में आप देखेंगे कि भारत और अफ़्रीका जैसे समाजों में चरवाही का कितना महत्त्व है। यहाँ आप जानेंगे कि उपनिवेशवाद ने उनकी ज़िंदगी पर कितना गहरा असर डाला है और इन समुदायों ने आधुनिक समाज के दबावों का किस तरह सामना किया है। इस भाग में हम पहले भारत और उसके बाद अफ़्रीका के चरवाहों की ज़िंदगी का अध्ययन करेंगे।

1 घुमंतू चरवाहे और उनकी आवाजाही

1.1 पहाड़ों में

जम्मू और कश्मीर के गुज्जर बकरवाल समुदाय के लोग भेड़-बकरियों के बड़े-बड़े रेवड़ रखते हैं। इस समुदाय के अधिकतर लोग अपने मवेशियों के लिए चरागाहों की तलाश में भटकते-भटकते उन्नीसवीं सदी में यहाँ आए थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वे यहीं के होकर रह गए; यहीं बस गए। इसके बाद वे सर्दी-गर्मी के हिसाब से अलग-अलग चरागाहों में जाने लगे। जाड़ों में जब ऊँची पहाड़ियाँ बर्फ़ से ढक जातीं तो वे शिवालिक की निचली पहाड़ियों में आकर डेरा डाल लेते। जाड़ों में निचले इलाके में मिलने वाली सूखी झाड़ियाँ ही उनके जानवरों के लिए चारा बन जातीं। अप्रैल के अंत तक वे उत्तर दिशा में जाने लगते – गर्मियों के चरागाहों के लिए। इस सफ़र में कई परिवार काफ़िला बना कर साथ-साथ चलते थे। वे पीर पंजाल के दर्रों को पार करते हुए कश्मीर की घाटी में पहुँच जाते। जैसे ही गर्मियाँ शुरू होतीं, जमी हुई बर्फ़ की मोटी चादर पिघलने लगती और चारों तरफ़ हरियाली छा जाती। इन दिनों में यहाँ उगने वाली तरह-तरह की घास से मवेशियों का पेट भी भर जाता था और उन्हें सेहतमंद खुराक भी मिल जाती थी। सितंबर के अंत में बकरवाल एक बार फिर अपना बोरिया-बिस्तर समेटने लगते। इस बार वे वापस अपने जाड़ों वाले ठिकाने की तरफ़ नीचे की ओर चले जाते। जब पहाड़ों की चोटियों पर बर्फ़ जमने लगती तो वे निचली पहाड़ियों की शरण में चले जाते।

पास के ही पहाड़ों में चरवाहों का एक और समुदाय रहता था। हिमाचल प्रदेश के इस समुदाय को गद्दी कहते हैं। ये लोग भी मौसमी उतार-चढ़ाव का सामना करने के लिए इसी तरह सर्दी-गर्मी के हिसाब से अपनी जगह बदलते रहते थे। वे भी शिवालिक की निचली पहाड़ियों में अपने मवेशियों को झाड़ियों में चराते हुए जाड़ा बिताते थे। अप्रैल आते-आते वे उत्तर की तरफ़ चल पड़ते और पूरी गर्मियाँ लाहौल और स्पीति में बिता देते। जब बर्फ़ पिघलती और ऊँचे दर्रे खुल जाते तो उनमें से बहुत सारे ऊपरी पहाड़ों में स्थित घास के मैदानों में जा पहुँचते थे। सितंबर तक वे दोबारा वापस चल पड़ते। वापसी में वे लाहौल

स्रोत क

1850 के दशक में जी. सी. बार्न्स ने काँगड़ा के गुज्जरों का वर्णन इस प्रकार किया था :

'पहाड़ियों में रहने वाले गुज्जर शुद्ध चरवाहा कबीले के लोग हैं। वे लगभग न के बराबर खेती करते हैं। गद्दियों के पास भेड़-बकरियाँ होती हैं तो गुज्जर गाय-भैंस पालते हैं। ये लोग जंगलों के किनारे रहते हैं और दूध, घी और मवेशियों से मिलने वाली दूसरी चीज़ें बेच कर अपना पेट पालते हैं। घर के मर्द मवेशियों को चराने ले जाते हैं और कई बार हफ़्तों तक घर नहीं लौटते। इस बीच वे जंगल में अपने रेवड़ के साथ ही रहते हैं। औरतें सिर पर टोकरियाँ और कंधे पर हाँडियाँ लटका कर रोज बाज़ार चली जाती हैं। उनकी हाँडियों में दूध, मक्खन और घी आदि होता है। वे सिर्फ़ इतनी चीज़ें ही बाज़ार में ले जा पाती हैं जितनी घर चलाने के लिए काफ़ी हों। गर्मियों में गुज्जर अपने रेवड़ों को लेकर प्राय: ऊपरी इलाकों में चले जाते हैं जहाँ उनकी भैंसों को न केवल बहुत सारी हरी-भरी बरसाती घास मिल जाती है और वे शीतोष्ण (न ज़्यादा ठंडा, न ज़्यादा गरम) मौसम के हिसाब से खुद को ढाल लेती हैं बल्कि उन ज़हरीली मक्खियों से भी छुटकारा मिल जाता है जो मैदानों में उनका जीना मुहाल किए रहते हैं।'

जी सी बार्न्स, *सेटलमेंट रिपोर्ट ऑफ़ काँगड़ा*, 1850-55.

चित्र 2 - मध्य गढ़वाल के ऊँचे पहाड़ों में एक गुज्जर मंडप.
गुज्जर गड़रिये बुग्याल में मिलने वाले रिंगल (एक तरह का पहाड़ी बाँस) और घास से बने मंडपों में रहते हैं। इन्हीं मंडपों का इस्तेमाल कार्यस्थल के रूप में भी होता था। यहाँ गुज्जर घी निकालते थे और उसे बेचते थे। हाल के सालों में वे बसों और ट्रकों में भर कर भी दूध ले जाने लगे हैं। ये मंडप 10,000 से 11,000 फुट की ऊँचाई पर होते हैं। भैंसें इससे ज़्यादा ऊँचाई पर नहीं जा सकतीं।

चित्र 3 – ऊन उतरने का इंतज़ार। हिमाचल प्रदेश स्थित पालमपुर के पास उह्ल घाटी.

और स्पीति के गाँवों में एक बार फिर कुछ समय के लिए रुकते। इस बीच वे गर्मियों की फ़सलें काटते और सर्दियों की फ़सलों की बुवाई करके आगे बढ़ जाते। यहाँ से वे अपने रेवड़ लेकर शिवालिक की पहाड़ियों में जाड़ों वाले चरागाहों में चले जाते और अगली अप्रैल में भेड़–बकरियाँ लेकर वे दोबारा गर्मियों के चरागाहों की तरफ़ रवाना हो जाते।

आइए, अब ज़रा और पूर्व की तरफ़ चलें। गढ़वाल और कुमाऊँ के गुज्जर चरवाहे सर्दियों में **भाबर** के सूखे जंगलों की तरफ़ और गर्मियों में ऊपरी घास के मैदानों – **बुग्याल** – की तरफ़ चले जाते थे। इनमें से बहुत सारे हरे–भरे चरागाहों की तलाश में उन्नीसवीं सदी में जम्मू से उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों में आए थे और बाद में यहीं बस गए।

सर्दी–गर्मी के हिसाब से हर साल चरागाह बदलते रहने का यह चलन हिमालय के पर्वतों में रहने वाले बहुत सारे चरवाहा समुदायों में दिखायी देता था। यहाँ के भोटिया, शेरपा और किन्नौरी समुदाय के लोग भी इसी तरह के चरवाहे थे। ये सभी समुदाय मौसमी बदलावों के हिसाब से ख़ुद को ढालते थे और अलग–अलग इलाकों में पड़ने वाले चरागाहों का बेहतरीन इस्तेमाल करते थे। जब एक चरागाह की हरियाली खत्म हो जाती थी या इस्तेमाल के काबिल नहीं रह जाती थी तो वे किसी और चरागाह की तरफ़ चले जाते थे। इस आवाजाही से चरागाह ज़रूरत से ज़्यादा इस्तेमाल से भी बच जाते थे और उनमें दोबारा हरियाली व ज़िंदगी भी लौट आती थी।

नए शब्द

भाबर : गढ़वाल और कुमाऊँ के इलाके में पहाड़ियों के निचले हिस्से के आसपास पाए जाने वाला शुष्क या सूखे जंगल का इलाका।

बुग्याल : ऊँचे पहाड़ों में स्थित घास के मैदान।

चित्र 4 – गद्दी भेड़ों की ऊन उतार रहे हैं.

सितंबर तक गद्दी ऊँचे मैदानों (धार) से नीचे आने लगते हैं। रास्ते में कुछ समय रुक कर वे अपनी भेड़ों की ऊन उतरवाते हैं। ऊन काटने से पहले भेड़ों को नहला–धुला कर साफ़ किया जाता है।

1.2 पठारों, मैदानों और रेगिस्तानों में

चरवाहे सिर्फ़ पहाड़ों में ही नहीं रहते थे। वे पठारों, मैदानों और रेगिस्तानों में भी बहुत बड़ी संख्या में मौजूद थे।

धंगर महाराष्ट्र का एक जाना-माना चरवाहा समुदाय है। बीसवीं सदी की शुरुआत में इस समुदाय की आबादी लगभग 4,67,000 थी। उनमें से ज़्यादातर गड़रिये या चरवाहे थे हालाँकि कुछ लोग कम्बल और चादरें भी बनाते थे जबकि कुछ भैंस पालते थे। धंगर गड़रिये बरसात के दिनों में महाराष्ट्र के मध्य पठारों में रहते थे। यह एक अर्ध-शुष्क इलाका था जहाँ बारिश बहुत कम होती थी और मिट्टी भी खास उपजाऊ नहीं थी। चारों तरफ़ सिर्फ़ कंटीली झाड़ियाँ होती थीं। बाजरे जैसी सूखी फ़सलों के अलावा यहाँ और कुछ नहीं उगता था। मॉनसून में यह पट्टी धंगरों के जानवरों के लिए एक विशाल चरागाह बन जाती थी। अक्तूबर के आसपास धंगर बाजरे की कटाई करते थे और चरागाहों की तलाश में पश्चिम की तरफ़ चल पड़ते थे। करीब महीने भर पैदल चलने के बाद वे अपने रेवड़ों के साथ कोंकण के इलाके में जाकर डेरा डाल देते थे। अच्छी बारिश और उपजाऊ मिट्टी की बदौलत इस इलाके में खेती खूब होती थी। कोंकणी किसान भी इन चरवाहों का दिल खोलकर स्वागत करते थे। जिस समय धंगर कोंकण पहुँचते थे उसी समय कोंकण के किसानों को **खरीफ़** की फ़सल काट कर अपने खेतों को **रबी** की फ़सल के लिए दोबारा उपजाऊ बनाना होता था।

चित्र 5 - पश्चिमी राजस्थान के थार रेगिस्तान में चरते राइका समुदाय के ऊँट.
यहाँ पाई जाने वाली सूखी और कँटीली झाड़ियों के सहारे सिर्फ़ ऊँट ही ज़िंदा रह सकते हैं; लेकिन पर्याप्त भोजन पाने के लिए उन्हें बहुत बड़े इलाके में चरना पड़ता है।

धंगरों के मवेशी खरीफ़ की कटाई के बाद खेतों में बची रह गई **ठूँठों** को खाते थे और उनके गोबर से खेतों को खाद मिल जाती थी। कोंकणी किसान धंगरों को चावल भी देते थे जिन्हें वे वापस अपने पठारी इलाके में ले जाते थे क्योंकि वहाँ इस तरह के अनाज बहुत कम होते थे। मॉनसून की बारिश शुरू होते ही धंगर कोंकण और तटीय इलाके छोड़कर सूखे पठारों की तरफ़ लौट जाते थे क्योंकि भेड़ें गीले मॉनसूनी हालात को बर्दाश्त नहीं कर पातीं।

कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में भी सूखे मध्य पठार घास और पत्थरों से अटे पड़े थे। इनमें मवेशियों, भेड़-बकरियों और गड़रियों का ही बसेरा रहता था।

नए शब्द

रबी : जाड़ों की फ़सलें जिनकी कटाई मार्च के बाद शुरू होती है।

खरीफ़ : सितंबर-अक्तूबर में कटने वाली फ़सलें।

ठूँठ : पौधों की कटाई के बाद ज़मीन में रह जाने वाली उनकी जड़।

यहाँ गोल्ला समुदाय के लोग गाय-भैंस पालते थे जबकि कुरुमा और कुरुबा समुदाय भेड़-बकरियाँ पालते थे और हाथ के बुने कम्बल बेचते थे। ये लोग जंगलों और छोटे-छोटे खेतों के आसपास रहते थे। वे अपने जानवरों की देखभाल के साथ-साथ कई दूसरे काम-धंधे भी करते थे। पहाड़ी चरवाहों के विपरीत यहाँ के चरवाहों का एक स्थान से दूसरे स्थान जाना सर्दी-गर्मी से तय नहीं होता था। ये लोग बरसात और सूखे मौसम के हिसाब से अपनी जगह बदलते थे। सूखे महीनों में वे तटीय इलाकों की तरफ़ चले जाते थे जबकि बरसात शुरू होने पर वापस चल देते थे। मॉनसून के दिनों में तटीय इलाकों में जिस तरह के गीले दलदली हालात पैदा हो जाते थे वे सिर्फ़ भैंसों को ही रास आ सकते थे। ऐसे समय में बाकी जानवरों को सूखे पठारी इलाकों में ले जाना ज़रूरी था।

चरवाहों में एक जाना-पहचाना नाम बंजारों का भी है। बंजारे उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कई इलाकों में रहते थे। ये लोग बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे और रास्ते में अनाज और चारे के बदले गाँव वालों को खेत जोतने वाले जानवर और दूसरी चीज़ें बेचते जाते थे। वे जहाँ भी जाते अपने जानवरों के लिए अच्छे चरागाहों की खोज में रहते।

स्रोत ख

बहुत सारे मुसाफ़िरों के विवरणों में हमें चरवाहा समुदायों की ज़िंदगी की झलक मिलती है। मिसाल के तौर पर, उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में बुकानन ने मैसूर की अपनी यात्रा के दौरान गोल्ला समुदाय का दौरा किया था। अपने इस अनुभव के आधार पर उन्होंने लिखा :

'उनके परिवार जंगलों के किनारे छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं। यहाँ वे थोड़ी-सी ज़मीन पर खेती करते हैं, थोड़े-बहुत जानवर रखते हैं और पास के कस्बों में जाकर दुग्ध उत्पाद बेचते हैं। उनके परिवार बहुत बड़े होते हैं। एक-एक घर में सात-आठ नौजवान आसानी से मिल जाएँगे। उनमें से दो-तीन लोग जंगल में जानवर चराते हैं जबकि बाकी अपने खेत संभालते हैं और कस्बों में जलावन की लकड़ी, छप्पर के लिए पुआल आदि पहुँचाते हैं।'

फ़्रांसिस हेमिल्टन बुकानन, *ए जर्नी फ़्रॉम मद्रास थ्रू दि कंट्रीज़ ऑफ़ मैसूर, कनारा एण्ड मालाबार* (लंदन, 1807)।

क्रियाकलाप

स्रोत क और ख को पढ़िए :

- इन स्रोतों के आधार पर संक्षेप में बताइए कि चरवाहा परिवारों के औरत-मर्द क्या-क्या काम करते थे।
- आपकी राय में चरवाहे जंगलों के आसपास ही क्यों रहते हैं?

राजस्थान के रेगिस्तानों में राइका समुदाय रहता था। इस इलाके में बारिश का कोई भरोसा नहीं था। होती भी थी तो बहुत कम। इसीलिए खेती की उपज हर साल घटती-बढ़ती रहती थी। बहुत सारे इलाकों में तो दूर-दूर तक कोई फ़सल होती ही नहीं थी। इसके चलते राइका खेती के साथ-साथ चरवाही का भी काम करते थे। बरसात में तो बाड़मेर, जैसलमेर, जोधपुर और बीकानेर के राइका अपने गाँवों में ही रहते थे क्योंकि इस दौरान उन्हें वहीं चारा मिल जाता था। पर, अक्तूबर आते-आते ये चरागाह सूखने लगते थे। नतीजतन ये लोग नए चरागाहों की तलाश में दूसरे इलाकों की तरफ़ निकल जाते थे और अगली बरसात में ही वापस लौटते थे। राइकाओं का एक तबका ऊँट पालता था जबकि कुछ भेड़-बकरियाँ पालते थे।

चित्र 6 - अपने ऊँट के साथ एक ऊँटपालक.
यह राजस्थान में जैसलमेर के निकट थार का रेगिस्तान है। इस इलाके के ऊँट पालकों को मारू (रेगिस्तान) राइका और उनकी बस्ती को ढंडी कहा जाता है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि चरवाहा समुदायों की ज़िंदगी कई चीज़ों के बारे में काफ़ी सोच-विचार करके आगे बढ़ती थी। उन्हें इस

चित्र 7 – पश्चिमी राजस्थान में बलोतरा स्थित ऊँट मेला.
ऊँटपालक यहाँ ऊँटों की खरीद–फ़रोख्त के लिए आते हैं। मेले में मारू राइका ऊँटों के प्रशिक्षण में अपनी महारत का भी प्रदर्शन करते हैं। इस मेले में गुजरात से घोड़े भी लाए जाते हैं।

बात का हमेशा खयाल रखना पड़ता था कि उनके रेवड़ एक इलाके में कितने दिन तक रह सकते हैं और उन्हें कहाँ पानी और चरागाह मिल सकते हैं। उन्हें न केवल एक इलाके से दूसरे इलाके में जाने का सही समय चुनना पड़ता था बल्कि यह भी देखना पड़ता था कि उन्हें किन इलाकों से गुज़रने की छूट मिल पाएगी और किन इलाकों से नहीं। सफ़र के दौरान उन्हें रास्ते में पड़ने वाले गाँवों के किसानों से भी अच्छे संबंध बनाने पड़ते थे ताकि उनके जानवर किसानों के खेतों में घास चर सकें और उनको उपजाऊ बनाते चलें। अपनी रोज़ी–रोटी के जुगाड़ में उन्हें खेती, व्यापार और चरवाही, ये सारे काम करने पड़ते थे।

आइए, अब देखें कि औपनिवेशिक शासन के दौरान यानी अंग्रेज़ों के ज़माने में चरवाहों का जीवन किस तरह बदला?

चित्र 8 – पुष्कर का ऊँट मेला.

चित्र 9 - ***मारू राइकाओं की वंशावली बताने वाला.***
वंशावली बताने वाला समुदाय का इतिहास बताता है। इस तरह की मौखिक परंपराओं से चरवाहा समुदायों को अपनी पहचान का भाव मिलता है। इन परंपराओं से हम यह पता लगा सकते हैं कि कोई समूह अपने अतीत को किस तरह देखता है।

चित्र 10 - ***चरागाहों की तलाश में निकले मालधारी चरवाहे।*** *उनके गाँव कच्छ की रन में स्थित हैं.*

2 औपनिवेशिक शासन और चरवाहों का जीवन

औपनिवेशिक शासन के दौरान चरवाहों की ज़िंदगी में गहरे बदलाव आए। उनके चरागाह सिमट गए, इधर-उधर आने-जाने पर बंदिशें लगने लगीं और उनसे जो लगान वसूल किया जाता था उसमें भी वृद्धि हुई। खेती में उनका हिस्सा घटने लगा और उनके पेशे और हुनरों पर भी बहुत बुरा असर पड़ा।

आइए देखें कि यह सब कैसे और क्यों हुआ?

पहली बात : अंग्रेज़ सरकार चरागाहों को खेती की ज़मीन में तब्दील कर देना चाहती थी। ज़मीन से मिलने वाला लगान उसकी आमदनी का एक बड़ा स्रोत था। खेती का क्षेत्रफल बढ़ने से सरकार की आय में और बढ़ोतरी हो सकती थी। इतना ही नहीं, इससे जूट (पटसन), कपास, गेहूँ और अन्य खेतिहर चीज़ों के उत्पादन में भी इजाफ़ा हो जाता जिनकी इंग्लैंड में बहुत ज़्यादा ज़रूरत रहती थी। अंग्रेज़ अफ़सरों को बिना खेती की ज़मीन का कोई मतलब समझ में नहीं आता था : उससे न तो लगान मिलता था और न ही उपज। अंग्रेज़ ऐसी ज़मीन को 'बेकार' मानते थे। उसे खेती के लायक बनाना ज़रूरी था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से देश के विभिन्न भागों में परती भूमि विकास के लिए नियम बनाए जाने लगे। इन कायदे-कानूनों के ज़रिए सरकार गैर-खेतिहर ज़मीन को अपने कब्ज़े में लेकर कुछ खास लोगों को सौंपने लगी। इन लोगों को कई तरह की रियायतें दी गईं और इस ज़मीन को खेती के लायक बनाने और उस पर खेती करने के लिए जम कर बढ़ावा दिया गया। ऐसे कुछ लोगों को गाँव का मुखिया बना दिया गया। इस तरह कब्ज़े में ली गई ज़्यादातर ज़मीन चरागाहों की थी जिनका चरवाहे नियमित रूप से इस्तेमाल किया करते थे। इस तरह खेती के फैलाव से चरागाह सिमटने लगे और चरवाहों के लिए समस्याएँ पैदा होने लगीं।

दूसरी बात : उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते देश के विभिन्न प्रांतों में वन अधिनियम भी पारित किए जाने लगे थे। इन कानूनों की आड़ में सरकार ने ऐसे कई जंगलों को 'आरक्षित' वन घोषित कर दिया जहाँ देवदार या साल जैसी कीमती लकड़ी पैदा होती थी। इन जंगलों में चरवाहों के घुसने पर पाबंदी लगा दी गई। कई जंगलों को 'संरक्षित' घोषित कर दिया गया। इन जंगलों में चरवाहों को चरवाही के कुछ **परंपरागत अधिकार** तो दे दिए गए लेकिन उनकी आवाजाही पर फिर भी बहुत सारी बंदिशें लगी रहीं। औपनिवेशिक अधिकारियों को लगता था कि पशुओं के चरने से छोटे जंगली पौधे और पेड़ों की नई कोपलें नष्ट हो जाती हैं। उनकी राय में, चरवाहों के रेवड़ छोटे पौधों को कुचल देते हैं और कोंपलों को खा जाते हैं जिससे नए पेड़ों की बढ़त रुक जाती है।

वन अधिनियमों ने चरवाहों की ज़िंदगी बदल डाली। अब उन्हें उन जंगलों में जाने से रोक दिया गया जो पहले मवेशियों के लिए बहुमूल्य चारे

स्रोत ग

एच. एस. गिब्सन, वन उपसंरक्षक, दार्जिलिंग, ने 1913 में लिखा था :

'... चरवाही के लिए प्रयोग किए जा रहे जंगल को किसी और काम के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा और वहाँ से इमारती लकड़ी तथा ईंधन इकट्ठा नहीं किया जाएगा जो मुख्य वन उत्पाद होते हैं ...'

क्रियाकलाप

मान लीजिए कि जंगलों में जानवरों को चराने पर रोक लगा दी गई है। इस बात पर निम्नलिखित की दृष्टि से टिप्पणी कीजिए :

- एक वन अधिकारी
- एक चरवाहा

नए शब्द

परंपरागत अधिकार: परंपरा और रीति-रिवाज के आधार पर मिलने वाले अधिकार।

का स्रोत थे। जिन क्षेत्रों में उन्हें प्रवेश की छूट दी गई वहाँ भी उन पर कड़ी नज़र रखी जाती थी जंगलों में दाखिल होने के लिए उन्हें परमिट लेना पड़ता था। जंगल में उनके प्रवेश और वापसी की तारीख पहले से तय होती थी और वह जंगल में बहुत कम ही दिन बिता सकते थे। अब चरवाहे किसी जंगल में ज़्यादा समय तक नहीं रह सकते थे भले ही वहाँ चारा कितना ही हो, घास कितनी भी क्यों न हो, और चारों तरफ घनी हरियाली हो। उन्हें इसलिए निकलता पड़ता था क्योंकि अब उनकी ज़िंदगी वन विभाग द्वारा जारी किए परमिटों के अधीन थी। परमिट में पहले ही लिख दिया जाता था कि वह कानूनन कब तक जंगल में रहेंगे। अगर वह समय-सीमा का उल्लंघन करते थे तो उन पर जुर्माना लगा दिया जाता था।

तीसरी बात : अंग्रेज़ अफ़सर घुमंतू किस्म के लोगों को शक की नज़र से देखते थे। वे गाँव-गाँव जाकर अपनी चीज़ें बेचने वाले कारीगरों व व्यापारियों और अपने रेवड़ के लिए हर साल नए-नए चरागाहों की तलाश में रहने वाले, हर मौसम में अपनी रिहाइश बदल लेने वाले चरवाहों पर यकीन नहीं कर पाते थे। वे चाहते थे कि ग्रामीण जनता गाँवों में रहे, उनकी रिहाइश और खेतों पर उनके अधिकार तय हों। इस तरह की आबादी की पहचान करना और उसको नियंत्रित करना ज़्यादा आसान था जो एक जगह टिक कर रहती हो। ऐसे लोगों को शांतिप्रिय और कानून का पालन करने वाला माना जाता था; घुमंतुओं को अपराधी माना जाता था। 1871 में औपनिवेशिक सरकार ने अपराधी जनजाति अधिनियम (Criminal Tribes Act) पारित किया। इस कानून के तहत दस्तकारों, व्यापारियों और चरवाहों के बहुत सारे समुदायों को अपराधी समुदायों की सूची में रख दिया गया। उन्हें कुदरती और जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया गया। इस कानून के लागू होते ही ऐसे सभी समुदायों को कुछ खास अधिसूचित गाँवों/बस्तियों में बस जाने का हुक्म सुना दिया गया। उनकी बिना परमिट आवाजाही पर रोक लगा दी गई। ग्राम्य पुलिस उन पर सदा नज़र रखने लगी।

चौथी बात : अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए अंग्रेज़ों ने लगान वसूलने का हर संभव रास्ता अपनाया। उन्होंने ज़मीन, नहरों के पानी, नमक, खरीद-फ़रोख्त की चीज़ों और यहाँ तक कि मवेशियों पर भी टैक्स वसूलने का एलान कर दिया। चरवाहों से चरागाहों में चरने वाले एक-एक जानवर पर टैक्स वसूल किया जाने लगा। देश के ज़्यादातर चरवाही इलाकों में उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही चरवाही टैक्स लागू कर दिया गया था। प्रति मवेशी टैक्स की दर तेज़ी से बढ़ती चली गई और टैक्स वसूली की व्यवस्था दिनोंदिन मज़बूत होती गई। 1850 से 1880 के दशकों के बीच टैक्स वसूली का काम बाकायदा बोली लगा कर ठेकेदारों को सौंपा जाता था। ठेकेदारी पाने के लिए ठेकेदार सरकार को जो पैसा देते थे उसे वसूल करने और साल भर में ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा बनाने के लिए वे जितना चाहे उतना कर वसूल सकते थे। 1880 के दशक तक आते-आते सरकार ने अपने कारिंदों के माध्यम से सीधे चरवाहों से ही कर वसूलना शुरू कर दिया। हरेक चरवाहे को एक 'पास' जारी कर दिया गया। किसी भी चरागाह में दाखिल होने के लिए चरवाहों को

स्रोत घ

1920 के दशक में *रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर* ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि :

'बढ़ती आबादी, सिंचाई सुविधाओं के विस्तार और रक्षा, उद्योग एवं कृषि प्रायोगिक उद्योगों के लिए सरकार द्वारा चरागाहों के अधिग्रहण की वजह से चरवाही के लिए उपलब्ध इलाकों के क्षेत्रफल में बहुत भारी गिरावट आई है। [अब] पशुपालकों को बड़े-बड़े रेवड़ रखने में मुश्किल पैदा हो रही है। इसकी वजह से उनकी आमदनी में गिरावट आई है। उनके जानवरों की गुणवत्ता और खुराक गिर गई है और कर्ज़े बढ़ते जा रहे हैं।'

द रिपोर्ट ऑफ़ द रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर इन इंडिया, 1928.

क्रियाकलाप

कल्पना कीजिए कि आप उन्नीसवीं सदी के आखिरी सालों यानी सन् 1890 के आसपास रह रहे हैं। आप घुमंतू चरवाहों या कारीगरों के एक समुदाय से ताल्लुक रखते हैं। आपको पता चला है कि सरकार ने आपके समुदाय को अपराधी समुदाय घोषित कर दिया है।

- संक्षेप में बताइए कि यह जानकर आपको कैसा महसूस होता और आप क्या करते।
- स्थानीय कलेक्टर को चिट्ठी लिखकर बताइए कि आपकी नज़र में यह कानून किस तरह अन्यायपूर्ण है और इससे आपकी ज़िंदगी पर क्या असर पड़ेंगे।

पास दिखाकर पहले टैक्स अदा करना पड़ता था। चरवाहे के साथ कितने जानवर हैं और उसने कितना टैक्स चुकाया है, इस बात को उसके पास में दर्ज कर दिया जाता था।

2.1 इन बदलावों ने चरवाहों की जिंदगी को किस तरह प्रभावित किया?

इन चीज़ों की वजह से चरागाहों की गंभीर कमी पैदा हो गई। जैसे-जैसे ज़्यादा से ज़्यादा चरागाहों को सरकारी कब्ज़े में लेकर उन्हें खेतों में बदला जाने लगा, वैसे-वैसे चरागाहों के लिए उपलब्ध इलाका सिकुड़ने लगा। इसी तरह, जंगलों के आरक्षण का नतीजा यह हुआ कि गड़रिये और पशुपालक अब अपने मवेशियों को जंगलों में पहले जैसी आज़ादी से नहीं चरा सकते थे।

जब चरागाह खेतों में बदलने लगे तो बचे-खुचे चरागाहों में चरने वाले जानवरों की तादाद बढ़ने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि चरागाह सदा जानवरों से भरे रहने लगे। अब तक तो घुमंतू चरवाहे अपने मवेशियों को कुछ दिन तक ही एक इलाके में चराते थे और उसके बाद किसी और इलाके में चले जाते थे। इस अदला-बदली की वजह से पिछले चरागाह भी फिर से हरे-भरे हो जाते थे। लेकिन चरवाहों की आवाजाही पर लगी बंदिशों

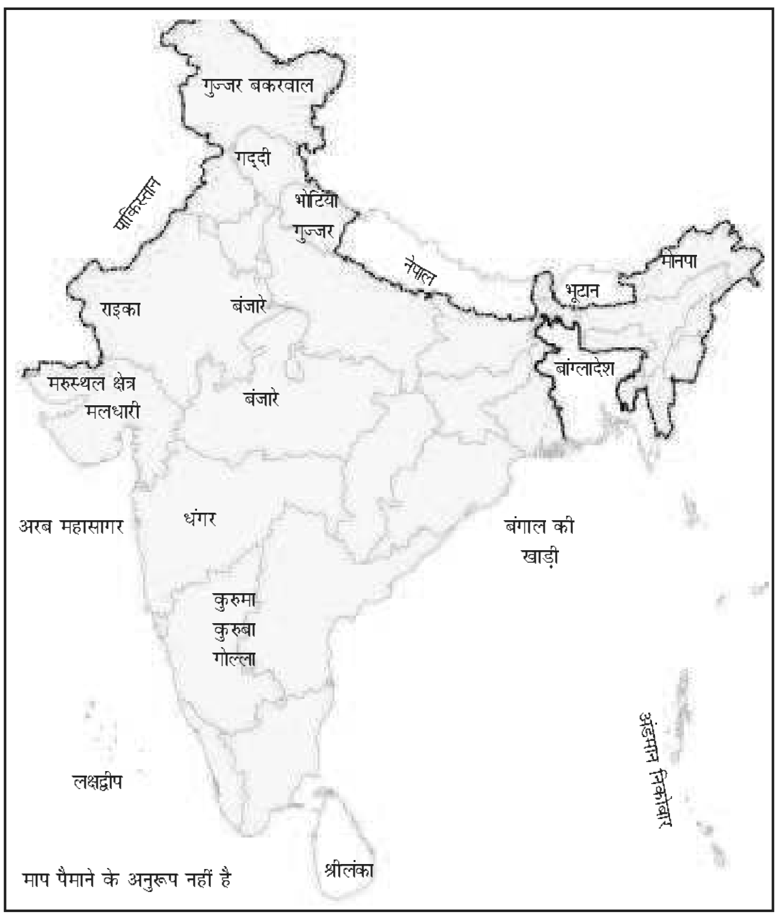

चित्र 11 - भारत में चरवाहा समुदाय.
इस नक्शे में केवल उन चरवाहा समुदायों के इलाकों का उल्लेख किया गया है जिनके बारे में इस अध्याय में बात की गई है। इनके अलावा भी हमारे देश में कई और चरवाहा समुदाय रहते हैं।

और चरागाहों के बेहिसाब इस्तेमाल से चरागाहों का स्तर गिरने लगा। जानवरों के लिए चारा कम पड़ने लगा। फलस्वरूप जानवरों की सेहत और तादाद भी गिरने लगी। चारे की कमी और जब-तब पड़ने वाले अकाल की वजह से कमज़ोर और भूखे जानवर बड़ी संख्या में मरने लगे।

2.2 चरवाहों ने इन बदलावों का सामना कैसे किया?

इन बदलावों पर चरवाहों की प्रतिक्रिया कई रूपों में सामने आई। कुछ चरवाहों ने तो अपने जानवरों की संख्या ही कम कर दी। अब बहुत सारे जानवरों को चराने के लिए पहले की तरह बड़े-बड़े और बहुत सारे मैदान नहीं बचे थे। जब पुराने चरागाहों का इस्तेमाल करना मुश्किल हो गया तो कुछ चरवाहों ने नए-नए चरागाह ढूँढ़ लिए। मिसाल के तौर पर, ऊँट और भेड़ पालने वाले राइका 1947 के बाद न तो सिंध में दाखिल हो सकते थे और न सिंधु नदी के किनारे अपने जानवरों को चरा सकते थे। भारत और पाकिस्तान के बीच खींच दी गई नई सीमारेखा ने उन्हें उस तरफ़ जाने से रोक दिया। ज़ाहिर है अब उन्हें जानवरों को चराने के लिए नई जगह ढूँढ़नी थी। अब वे हरियाणा के खेतों में जाने लगे हैं जहाँ कटाई के बाद खाली पड़े खेतों में वे अपने मवेशियों को चरा सकते हैं। इसी समय खेतों को खाद की भी ज़रूरत रहती है जो उन्हें इन जानवरों के मल-मूत्र से मिल जाती है।

समय गुज़रने के साथ कुछ धनी चरवाहे ज़मीन खरीद कर एक जगह बस कर रहने लगे। उनमें से कुछ नियमित रूप से खेती करने लगे जबकि कुछ व्यापार करने लगे। जिन चरवाहों के पास ज़्यादा पैसा नहीं था वे सूदखोरों से ब्याज पर कर्ज़ लेकर दिन काटने लगे। इस चक्कर में बहुतों के मवेशी भी हाथ से जाते रहे और वे मज़दूर बन कर रह गए। वे खेतों या छोटे-मोटे कस्बों में मज़दूरी करते दिखाई देने लगे।

इस सबके बावजूद चरवाहे न केवल आज भी ज़िंदा हैं बल्कि हाल के दशकों में कई जगह तो उनकी संख्या में वृद्धि भी हुई है। जब भी किसी इलाके के चरागाहों में उनके दाखिले पर रोक लगा दी जाती वे अपनी दिशा बदल लेते, रेवड़ छोटा कर लेते और नई दुनिया के मिज़ाज से तालमेल बिठाने के लिए दूसरे काम-धंधे भी करने लगते। बहुत सारे पारिस्थिति विज्ञानी मानते हैं कि सूखे इलाकों और पहाड़ों में ज़िंदा रहने के लिए चरवाही ही सबसे व्यावहारिक रास्ता है।

बहरहाल, चरवाहों पर इस तरह के बदलाव सिर्फ़ हमारे देश में ही नहीं थोपे गए थे। दुनिया के बहुत सारे इलाकों में नए कानूनों और बसाहट के नए तौर-तरीकों ने उन्हें आधुनिक दुनिया में आ रहे बदलावों के मुताबिक अपनी ज़िंदगी का ढर्रा बदलने पर मजबूर किया है। आधुनिक विश्व में आए इन बदलावों से निपटने के लिए बाकी देशों के चरवाहों ने क्या रास्ते अपनाए?

3 अफ़्रीका में चरवाहा जीवन

आइए अब ज़रा अफ़्रीका की तरफ़ चलें जहाँ दुनिया की आधी से ज़्यादा चरवाहा आबादी रहती है। आज भी अफ़्रीका के लगभग सवा दो करोड़ लोग रोज़ी-रोटी के लिए किसी न किसी तरह की चरवाही गतिविधियों पर ही आश्रित हैं। इनमें बेदुईन्स, बरबेर्स, मासाई, सोमाली, बोरान और तुर्काना जैसे जाने-माने समुदाय भी शामिल हैं। इनमें से ज़्यादातर अब अर्ध-शुष्क घास के मैदानों या सूखे रेगिस्तानों में रहते हैं जहाँ वर्षा आधारित खेती करना बहुत मुश्किल है। यहाँ के चरवाहे गाय-बैल, ऊँट, बकरी, भेड़ व गधे पालते हैं और दूध, माँस, पशुओं की खाल व ऊन आदि बेचते हैं। कुछ चरवाहे व्यापार और यातायात संबंधी काम भी करते हैं। कुछ चरवाही के साथ-साथ खेती भी करते हैं। कुछ लोग चरवाही से होने वाली मामूली आय से गुजर नहीं हो पाने पर कोई भी धंधा कर लेते हैं।

हिंदुस्तान की तरह अफ़्रीकी चरवाहों की ज़िंदगी में भी औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में गहरे बदलाव आए हैं। आखिर क्या थे ये बदलाव?

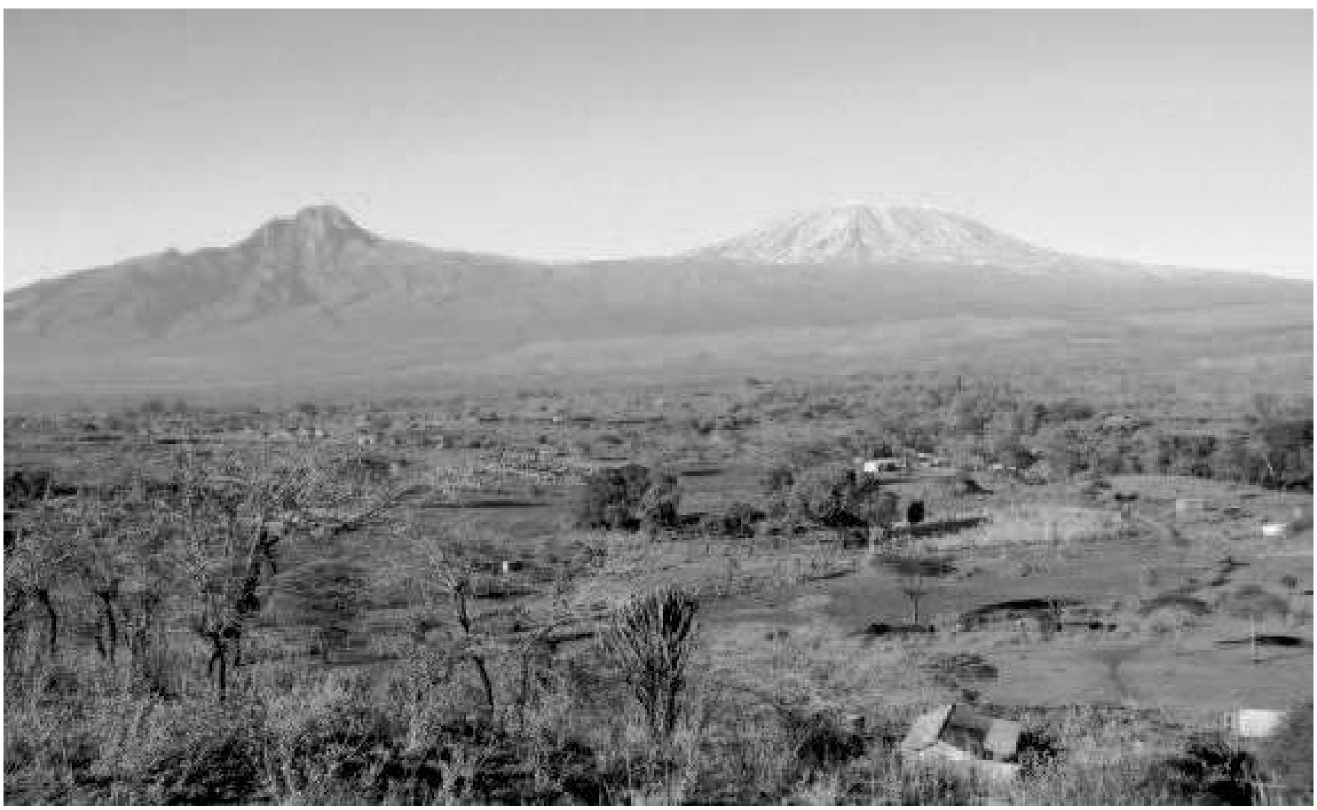

चित्र 12 - मासाई लैंड जिसके पीछे किलिमंजारो पहाड़ दिखाई दे रहे हैं.
बदलती परिस्थितियों के कारण मासाई मक्का, चावल, आलू, गोभी जैसे उन खाद्य पदार्थों पर निर्भर होते जा रहे हैं जो उनके इलाके में पैदा नहीं होते। परंपरागत रूप से वे इन चीज़ों को पसंद नहीं करते थे। मासाई मानते हैं कि फ़सल उगाने के लिए ज़मीन पर हल चलाना प्रकृति के विरुद्ध है; यदि आप ज़मीन पर खेती करने लगते हैं तो वह चरवाही के लायक नहीं रहती। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

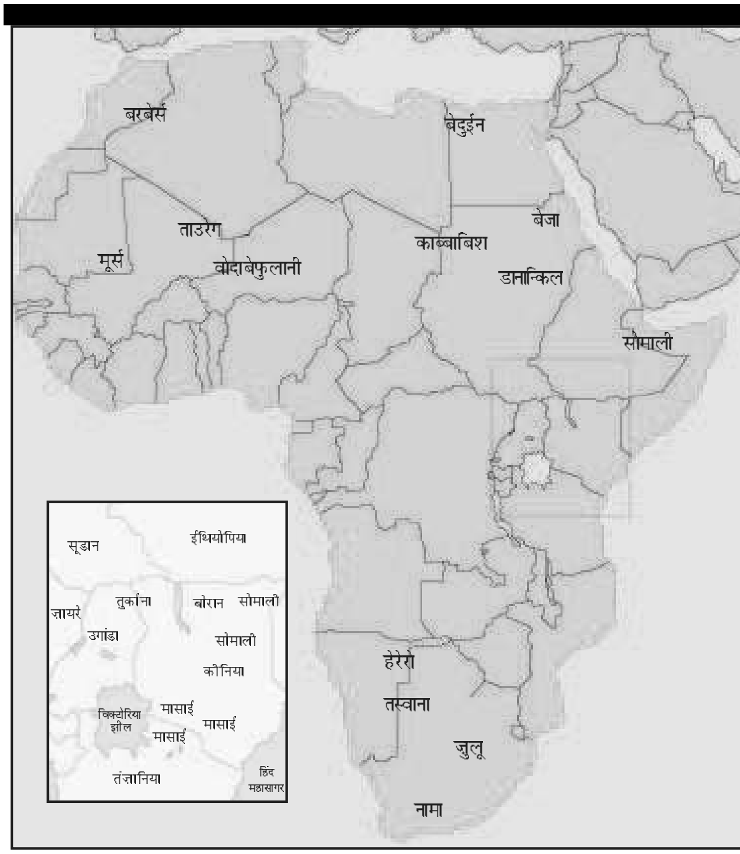

चित्र 13 - अफ़्रीका के चरवाहा समुदाय.
छोटी तस्वीर (इनसेट) में कीनिया और तंज़ानिया में मासाइयों का इलाका दर्शाया गया है।

इन परिवर्तनों को हम चरवाहों के एक खास समुदाय के माध्यम से समझने की कोशिश करेंगे। चलिए इसके लिए मासाई नाम के समुदाय को चुन लेते हैं। मासाई पशुपालक मोटे तौर पर पूर्वी अफ़्रीका के निवासी हैं। इनमें से लगभग 3,00,000 दक्षिणी कीनिया में और करीब 1,50,000 तंज़ानिया में रहते हैं। अभी हम देखेंगे कि नए कानूनों और बंदिशों ने किस तरह न केवल उनकी ज़मीन उनसे छीन ली बल्कि उनकी आवाजाही पर भी बहुत सारी पाबंदियाँ थोप दी हैं। इन कानूनों के कारण सूखे के दिनों में उनकी ज़िंदगी गहरे तौर पर बदल गई है और उनके सामाजिक संबंध भी एक नई शक्ल में ढल गए हैं।

3.1 चरागाहों का क्या हुआ?

मासाइयों की सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि उनके चरागाह दिनोंदिन सिमटते जा रहे हैं। औपनिवेशिक शासन से पहले मासाईलैंड का इलाका उत्तरी कीनिया से लेकर तंज़ानिया के घास के मैदानों (स्तेपीज़) तक फैला हुआ था। उन्नीसवीं सदी के आखिर में यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों ने अफ़्रीका में कब्ज़े के लिए मारकाट शुरू कर दी और बहुत सारे इलाकों को छोटे-छोटे उपनिवेशों में तब्दील करके अपने-अपने कब्ज़े में ले लिया। 1885 में ब्रिटिश कीनिया और जर्मन तांगान्यिका के बीच एक अंतर्राष्ट्रीय

तांगान्यिका के बारे में

ब्रिटेन ने पहले विश्वयुद्ध के दौरान उस इलाके पर कब्ज़ा कर लिया जिसे जर्मन ईस्ट अफ़्रीका कहा जाता था। 1919 में तांगान्यिका ब्रिटिश नियंत्रण में आ गया। 1961 में उसे आज़ादी मिली और 1964 में ज़ंज़ीबार के विलय के बाद उसे तंज़ानिया का नया नाम दिया गया।

सीमा खींचकर मासाईलैंड के दो बराबर-बराबर टुकड़े कर दिए गए। बाद के सालों में सरकार ने गोरों को बसाने के लिए बेहतरीन चरागाहों को अपने कब्ज़े में ले लिया। मासाइयों को दक्षिणी कीनिया और उत्तरी तंज़ानिया के छोटे से इलाके में समेट दिया गया। औपनिवेशिक शासन से पहले मासाइयों के पास जितनी ज़मीन थी उसका लगभग 60 फ़ीसदी हिस्सा उनसे छीन लिया गया। उन्हें ऐसे सूखे इलाकों में कैद कर दिया गया जहाँ न तो अच्छी बारिश होती थी और न ही हरे-भरे चरागाह थे।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम सालों से ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार पूर्वी अफ़्रीका में भी स्थानीय किसानों को अपनी खेती के क्षेत्रफल को ज़्यादा से ज़्यादा फैलाने के लिए प्रोत्साहित करने लगी। जैसे-जैसे खेती का प्रसार हुआ वैसे-वैसे चरागाह खेतों में तब्दील होने लगे। अंग्रेज़ों के आने से पहले मासाई आर्थिक और राजनीतिक, दोनों स्तर पर अपने किसान पड़ोसियों पर भारी पड़ते थे। औपनिवेशिक शासन के अंत तक आते-आते यह समीकरण बिल्कुल उलट चुका था।

बहुत सारे चरागाहों को शिकारगाह बना दिया गया। कीनिया में मासाई मारा व साम्बूरू नैशनल पार्क और तंज़ानिया में सेरेन्गेटी पार्क जैसे शिकारगाह इसी तरह अस्तित्व में आए थे। इन आरक्षित जंगलों में चरवाहों का आना मना था। इन इलाकों में न तो वे शिकार कर सकते थे और न अपने जानवरों को चरा सकते थे। ऐसे बहुत सारे आरक्षित जंगलों में अब तक मासाई अपने ढोर-डंगर चराया करते थे। मिसाल के तौर पर सेरेन्गेटी नैशनल पार्क का 14,760 वर्ग किलोमीटर से भी ज़्यादा क्षेत्रफल मासाइयों के चरागाहों पर कब्ज़ा करके बनाया गया था।

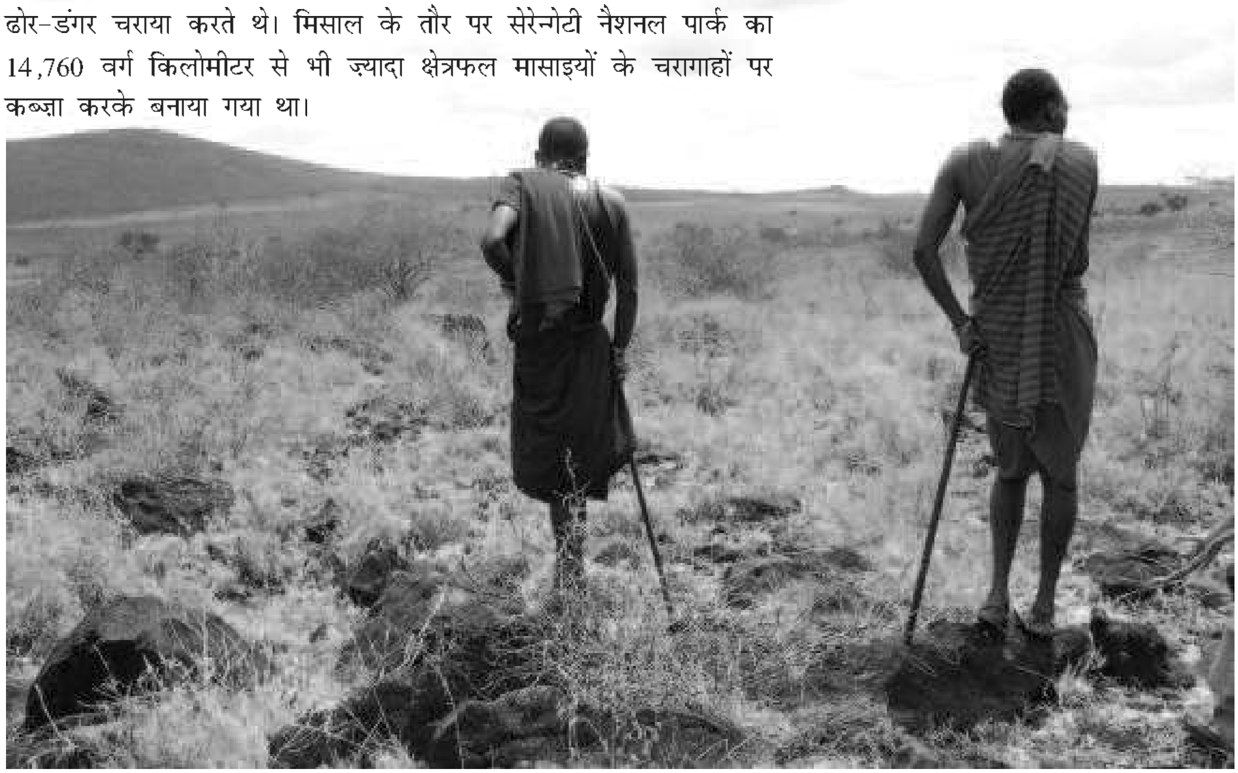

चित्र 14 – घास के बिना पशु (मवेशी, बकरियाँ और भेड़ें) कुपोषण का शिकार हो जाते हैं जिसका मतलब है कि चरवाहों के परिवारों और बच्चों के लिए भोजन कम पड़ने लगता है। सूखे और भोजन की सर्वाधिक कमी से ग्रस्त इलाका अम्बोसेली नैशनल पार्क के आसपास पड़ता है जिसकी पर्यटन से होने वाली आय पिछले साल लगभग 24 करोड़ कीनियन शिलिंग (लगभग 35 लाख अमेरिकी डॉलर) थी। किलिमंजारो जल परियोजना भी इसी इलाके से होकर जाती है लेकिन यहाँ रहने वाले समुदाय न तो पीने के लिए और न ही सिंचाई के लिए इस परियोजना के पानी का इस्तेमाल कर सकते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

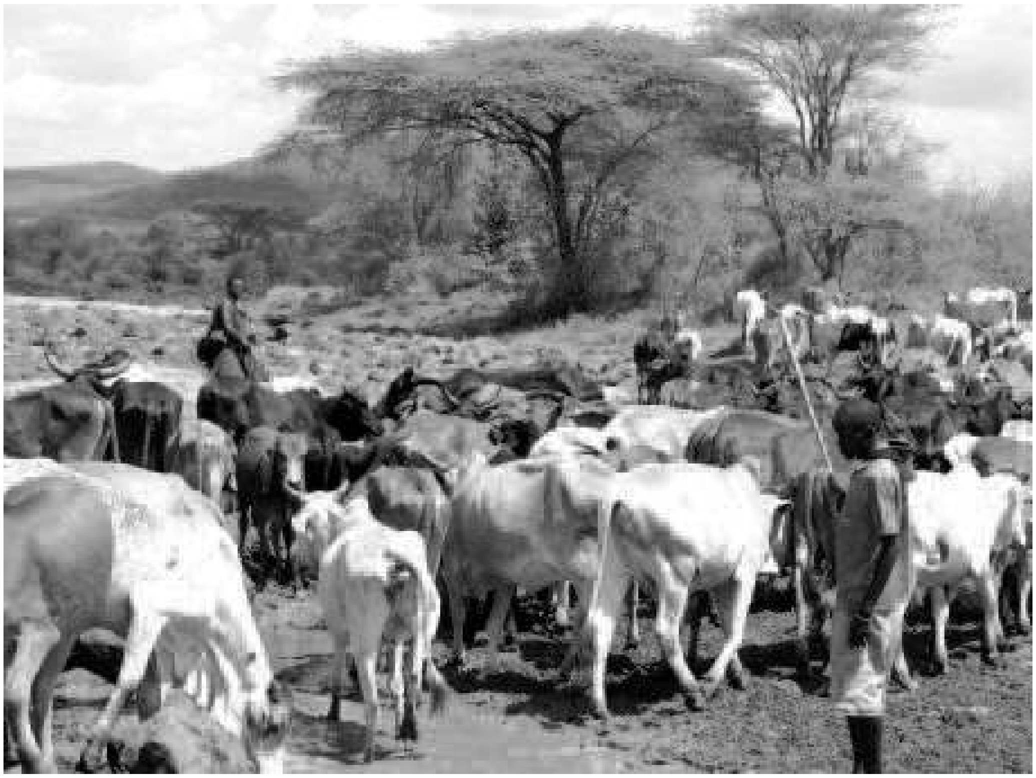

चित्र 15 – मासाई नाम 'मा' शब्द से निकला है। मा–साई का मतलब होता है 'मेरे लोग'। परंपरागत रूप से मासाई घुमंतू और चरवाहा समुदाय के लोग होते हैं जो अपनी आजीविका के लिए दूध और माँस पर आश्रित रहते हैं। ऊँचे तापमान और कम वर्षा के कारण यहाँ शुष्क, धूल भरे और बेहद गर्म हालात रहते हैं। इस अर्ध-शुष्क विषुवतवृत्तीय इलाके में सूखे के हालात सामान्य हैं। ऐसे समय में बहुत सारे जानवर मर जाते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

स्रोत च

अफ़्रीका की अन्य जगहों पर भी चरवाहों को इसी तरह की मुश्किलों का सामना करना पड़ा। दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका में स्थित नामीबिया के काओकोलैंड चरवाहे परंपरागत रूप से काओकोलैंड और पास ही में स्थित ओवाम्बोलैंड के बीच आते-जाते रहते थे। ये लोग आसपास के बाज़ारों में जानवरों की खाल, गोश्त और अन्य वस्तुएँ बेचा करते थे। नई भौगोलिक सीमाओं ने दूर-दूर के इलाकों में उनके आने-जाने पर पाबंदी लगा दी जिससे उनका पहले की तरह दोनों इलाकों में आना-जाना पूरी तरह बंद हो गया।

नामीबिया स्थित काओकोलैंड के घुमंतू पशुपालकों की शिकायत थी :

'हम बड़ी मुश्किल में हैं। हम बस रोते रहते हैं। हमें कैद में डाल दिया गया है। हमें तो पता भी नहीं कि हमें बंद क्यों किया गया है। हम जेल में हैं। हमारे पास रहने की कोई जगह नहीं है...। हम दक्षिण से गोश्त नहीं ला सकते...। खालों को बाहर नहीं भेज सकते...। ओवाम्बोलैंड अब हमारे लिए बंद हो चुका है। हम लंबे समय तक ओवाम्बोलैंड में रहे हैं। हम अपने जानवरों को, अपनी भेड़ों और बकरियों को वहाँ ले जाना चाहते हैं। पर सीमाएँ बंद हैं। ये सीमाएँ हमें मारे दे रही हैं। जीना मुश्किल है।'

नामीबिया स्थित काओकोलैंड के चरवाहों का बयान, नामीबिया, 1949.

माइकेल बॉलिग, 'द कॉलोनियल एनकेप्स्युलेशन ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न नामीबियन पास्टोरल इकॉनॉमी', *अफ़्रीका,* 68 (4), 1998 में उद्धृत।

स्रोत छ

औपनिवेशिक अफ़्रीका के बहुत सारे स्थानों पर पुलिस को चरवाहों के आने-जाने पर नज़र रखने और उन्हें गोरों के इलाकों में दाखिल होने से रोकने का बंदोबस्त किया गया था। नामीबिया में काओकोलैंड के चरवाहों के आने-जाने पर पाबंदियाँ लगाने के लिए दक्षिण-पश्चिमी अफ़्रीका के एक मजिस्ट्रेट ने पुलिस को ऐसा ही एक निर्देश दिया था :

'जब तक कोई बहुत खास हालात पैदा न हो जाएँ तब तक इन मूल निवासियों को इलाके में दाखिल होने के लिए पास जारी न किए जाएँ...। इस आदेश का मकसद इलाके में दाखिल होने वाले निवासियों की संख्या पर अंकुश लगाना और उन्हें काबू में रखना है इसलिए उन्हें सामान्य यात्री पास किसी भी हालत में जारी न किए जाएँ।'

'काओकोलैंड परमिट्स टू एंटर', मजिस्ट्रेट द्वारा ऊट्जो और कामान्जाब के पुलिस स्टेशन कमांडरों को लिखा गया पत्र, 24 नवंबर 1937.

स्रोत

अच्छे चरागाहों और जल संसाधनों के हाथ से निकल जाने की वजह से उस छोटे से इलाके पर दबाव बहुत ज़्यादा बढ़ गया जिसमें मासाइयों को धकेल दिया गया था। एक छोटे-से इलाके में लगातार चरायी का नतीजा यह हुआ कि चरागाहों का स्तर गिरने लगा। चारे की हमेशा कमी रहने लगी। मवेशियों का पेट भरना एक स्थायी समस्या बन गया।

3.2 सरहदें बंद हो गईं

उन्नीसवीं सदी में चरवाहे चरागाहों की खोज में बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे। जब एक जगह के चरागाह सूख जाते थे तो वे अपने रेवड़ लेकर किसी और जगह चले जाते थे। लेकिन उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों से औपनिवेशिक सरकार उनकी आवाजाही पर तरह-तरह की पाबंदियाँ लगाने लगी।

मासाइयों की तरह अन्य चरवाहों को भी विशेष आरक्षित इलाकों की सीमाओं में कैद कर दिया गया। अब ये समुदाय इन आरक्षित इलाकों की सीमाओं के पार आ-जा नहीं सकते थे। वे विशेष परमिट लिए बिना अपने जानवरों को लेकर बाहर नहीं जा सकते थे। लेकिन परमिट हासिल करना भी कोई आसान काम नहीं था। इसके लिए उन्हें तरह-तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता था और उन्हें तंग किया जाता था। अगर कोई नियमों का पालन नहीं करता था तो उसे कड़ी सज़ा दी जाती थी।

चरवाहों को गोरों के इलाके में पड़ने वाले बाज़ारों में दाखिल होने से भी रोक दिया गया। बहुत सारे इलाकों में तो वे कई तरह के व्यापार भी नहीं कर सकते थे। बाहर से आए गोरे और यूरोपीय औपनिवेशिक अफ़सर उन्हें खतरनाक और बर्बर स्वभाव वाला मानते थे। उनकी नज़र में ये ऐसे लोग थे जिनके साथ कम से कम संबंध रखना ही उचित था। लेकिन इन स्थानीय लोगों से किसी भी तरह के संबंध न रखना भी मुमकिन नहीं था। आखिर खानों से माल निकालने, सड़कें बनाने और शहर बसाने के लिए गोरों को इन कालों के श्रम का ही तो भरोसा था।

नई सरहदों ने चरवाहों की ज़िंदगी रातों-रात बदल डाली। नई पाबंदियों और बाधाओं की आड़ में उन्हें प्रताड़ित किया जाने लगा और वे छोटे-से इलाके में खुद को कैद-सा महसूस करने लगे। इससे उनकी चरवाही और व्यापारिक, दोनों तरह की गतिविधियों पर बहुत बुरा असर पड़ा। अब तक

चरवाहे न केवल मवेशी चराते थे बल्कि तरह-तरह के व्यवसाय भी किया करते थे। औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत थोप दी गई बंदिशों से उनका व्यापार बंद तो नहीं हुआ लेकिन अब उस पर तरह-तरह के अंकुश ज़रूर लग गए।

3.3 जब चरागाह सूख जाते हैं

सूखा दुनिया भर के चरवाहों की ज़िंदगी पर असर डालता है। जिस साल बारिश नहीं होती और चरागाह सूख जाते हैं अगर उस साल मवेशियों को किसी हरे-भरे इलाके में न ले जाया जाए तो उनके सामने भुखमरी का संकट पैदा हो जाता है। इसीलिए परंपरागत तौर पर चरवाहे घुमंतू स्वभाव के लोग होते हैं, वे यहाँ से वहाँ जाते ही रहते हैं। इसी घुमंतूपने की वजह से वे बुरे वक्त का सामना कर पाते हैं और संकट से बच निकलते हैं।

लेकिन औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बाद तो मासाइयों को एक निश्चित इलाके में कैद कर दिया गया था। उनके लिए एक इलाका आरक्षित कर दिया गया और चरागाहों की खोज में यहाँ-वहाँ भटकने पर रोक लगा दी गई। उन्हें बेहतरीन चरागाहों से महरूम कर दिया गया और एक ऐसी अर्ध-शुष्क पट्टी में रहने पर मजबूर कर दिया गया जहाँ सूखे की आशंका हमेशा बनी रहती थी। क्योंकि ये लोग संकट के समय भी अपने जानवरों को लेकर ऐसी जगह नहीं जा सकते थे जहाँ उन्हें अच्छे चरागाह मिल सकते थे। इसलिए सूखे के सालों में मासाइयों के बहुत सारे मवेशी भूख और बीमारियों की वजह से मारे जाते थे। 1930 की एक जाँच से पता चला कि कीनिया में मासाइयों के पास 7,20,000 मवेशी, 8,20,000 भेड़ और 1,71,000 गधे थे। 1933 और 1934 में पड़े केवल दो साल के सूखे के बाद इनमें से आधे से ज़्यादा जानवर मर चुके थे।

जैसे-जैसे चरने की जगह सिकुड़ती गई, सूखे के दुष्परिणाम भयानक रूप लेते चले गए। बार-बार आने वाले बुरे सालों की वजह से चरवाहों के जानवरों की संख्या में लगातार गिरावट आती गई।

3.4 सब पर एक जैसा असर नहीं पड़ा

औपनिवेशिक काल में अफ़्रीका के बाकी स्थानों की तरह मासाईलैंड में भी आए बदलावों से सारे चरवाहों पर एक जैसा असर नहीं पड़ा। उपनिवेश बनने से पहले मासाई समाज दो सामाजिक श्रेणियों में बँटा हुआ था – वरिष्ठ जन (ऐल्डर्स) और योद्धा (वॉरियर्स)। वरिष्ठ जन शासन चलाते थे। समुदाय से जुड़े मामलों पर विचार-विमर्श करने और अहम फ़ैसले लेने के लिए वे समय-समय पर सभा करते थे। योद्धाओं में ज़्यादातर नौजवान होते थे जिन्हें मुख्य रूप से लड़ाई लड़ने और कबीले की हिफ़ाज़त करने के लिए तैयार किया जाता था। वे समुदाय की रक्षा करते थे और दूसरे कबीलों के मवेशी छीन कर लाते थे। जहाँ जानवर ही संपत्ति हो वहाँ हमला करके दूसरों के जानवर छीन लेना एक महत्त्वपूर्ण काम होता था। अलग-अलग चरवाहा समुदायों की ताकत इन्हीं हमलों से तय होती थी। युवाओं को योद्धा वर्ग का हिस्सा तभी माना जाता था जब वे दूसरे समूह के मवेशियों को छीन कर और

चित्र 16 – योद्धा गहरे लाल रंग की शुका और चमकदार मोतियों के आभूषण पहनते हैं तथा स्टील की नोक वाला पाँच फ़ुट लंबा भाला रखते हैं। बारीकी से सँवारे गए उनके बाल गेरू से रंगे होते हैं। उगते सूरज को सम्मान देने के लिए वे पूर्व की ओर मुँह करके खड़े होते हैं। योद्धा अपने समुदाय की रक्षा करते हैं और लड़के पशुओं को चराते हैं। सूखे के मौसम में योद्धा और लड़के, दोनों ही पशु चराते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

__चित्र 17__ – आज भी योद्धा बनने के लिए युवकों को व्यापक अनुष्ठानों से गुज़रना पड़ता है हालाँकि अब यह प्रथा पहले जैसी प्रचलित नहीं है। इसके लिए युवकों को लगभग चार माह तक अपने कबीले के इलाके का दौरा करना पड़ता है। इस यात्रा के अंत में वे छापामारों की तरह दौड़कर अपने अहाते में घुसते हैं। इस समारोह के मौके पर युवक ढीले कपड़े पहनते हैं और पूरे दिन नाचते रहते हैं। इस अनुष्ठान के साथ ही वे जीवन के एक नए चरण में पहुँच जाते हैं। लड़कियों को इस तरह के अनुष्ठानों से नहीं गुज़रना पड़ता।
सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

युद्ध में बहादुरी का प्रदर्शन करके अपनी मर्दानगी साबित कर देते थे। फिर भी वे वरिष्ठ जनों के नीचे रह कर ही काम करते थे।

मासाइयों के मामलों की देखभाल करने के लिए अंग्रेज़ सरकार ने कई ऐसे फ़ैसले लिए जिनसे आने वाले सालों में बहुत गहरे असर पड़े। उन्होंने कई मासाई उपसमूहों के मुखिया तय कर दिए और अपने-अपने कबीले के सारे मामलों की ज़िम्मेदारी उन्हें ही सौंप दी। इसके बाद उन्होंने हमलों और लड़ाइयों पर पाबंदी लगा दी। इस तरह वरिष्ठ जनों और योद्धाओं, दोनों की परंपरागत सत्ता बहुत कमज़ोर हो गई।

जैसे-जैसे समय बीता, औपनिवेशिक सरकार द्वारा नियुक्त किए गए मुखिया माल इकट्ठा करने लगे। उनके पास नियमित आमदनी थी जिससे वे जानवर, साज़ो-सामान और ज़मीन खरीद सकते थे। वे अपने गरीब पड़ोसियों को लगान चुकाने के लिए कर्ज़ पर पैसा देते थे। उनमें से ज़्यादातर बाद में शहरों में जाकर बस गए और व्यापार करने लगे। उनके बीवी-बच्चे गाँव में ही रहकर जानवरों की देखभाल करते थे। उन्हें चरवाही और गैर-चरवाही, दोनों तरह की आमदनी होती थी। अगर उनके जानवर किसी वजह से घट जाएँ तो वे और जानवर खरीद सकते थे।

जो चरवाहे सिर्फ़ अपने जानवरों के सहारे ज़िंदगी बसर करते थे उनकी हालत अलग थी। उनके पास बुरे वक्त का सामना करने के लिए अकसर साधन नहीं होते थे। युद्ध और अकाल के दौरान उनका सब कुछ खत्म हो जाता था। तब उन्हें काम की तलाश में आसपास के शहरों की शरण लेनी पड़ती थी। कोई कच्चा कोयला जलाने का काम करने लगता था तो कोई कुछ और करता था। जिनकी तकदीर ज़्यादा अच्छी थी उन्हें सड़क या भवन निर्माण कार्यों में काम मिल जाता था।

इस तरह मासाई समाज में दो स्तरों पर बदलाव आए। पहला, वरिष्ठ जनों और योद्धाओं के बीच उम्र पर आधारित परंपरागत फ़र्क पूरी तरह खत्म भले न हुआ हो पर बुरी तरह अस्त-व्यस्त ज़रूर हो गया। दूसरा, अमीर और गरीब चरवाहों के बीच नया भेदभाव पैदा हुआ।

निष्कर्ष

इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक विश्व में आए बदलावों से दुनिया के अलग-अलग चरवाहा समुदायों पर अलग-अलग तरह के असर पड़े हैं। नए कानूनों और सीमाओं ने उनकी आवाजाही का ढर्रा बदल दिया। जैसे-जैसे चरागाह खत्म होते गए, जानवरों को चराना एक मुश्किल काम होता चला गया और जो चरागाह बचे थे वे भी अत्यधिक इस्तेमाल की वजह से बेकार हो गए। सूखे के समय उनकी समस्याएँ पहले से भी ज़्यादा बढ़ गईं क्योंकि तब उनके जानवर बड़ी तादाद में दम तोड़ने लगते थे। अब उनके आने-जाने पर बहुत सारी बंदिशें थोप दी गई थीं इसलिए वे नए चरागाहों की तलाश भी नहीं कर सकते थे।

फिर भी चरवाहे बदलते वक्त के हिसाब से खुद को ढालते हैं। वे अपनी सालाना आवाजाही का रास्ता बदल लेते हैं, जानवरों की संख्या कम कर लेते हैं, नए इलाकों में दाखिल होने के लिए हर संभव लेन-देन करते हैं और राहत, रियायत व मदद के लिए सरकार पर राजनीतिक दबाव डालते हैं। वे उन इलाकों में अपने अधिकारों को बचाए रखने के लिए अपना संघर्ष जारी रखते हैं जहाँ से उन्हें खदेड़ने की कोशिश की जाती है और जंगलों के रखरखाव और प्रबंधन में अपना हिस्सा माँगते हैं।

चरवाहे अतीत के अवशेष नहीं हैं। वे ऐसे लोग नहीं हैं जिनके लिए आज की आधुनिक दुनिया में कोई जगह नहीं है। पर्यावरणवादी और अर्थशास्त्री अब इस बात को काफ़ी गंभीरता से मानने लगे हैं कि घुमंतू चरवाहों की जीवनशैली दुनिया के बहुत सारे पहाड़ी और सूखे इलाकों में जीवनयापन के लिए सबसे ज़्यादा उपयुक्त है।

चित्र 18 – जयपुर राजमार्ग पर राइका गड़रिये.
बड़ी सड़कों पर भारी यातायात ने गड़रियों के नए इलाके में जाने की प्रक्रिया को एक नया अनुभव बना दिया है।

क्रियाकलाप

1. कल्पना कीजिए कि यह 1950 का समय है और आप 60 वर्षीय राइका पशुपालक हैं। आप अपनी पोती को बता रहे हैं कि आज़ादी के बाद से आपके जीवन में क्या बदलाव आए हैं। आप उसे क्या बताएँगे?
2. मान लीजिए कि आपको एक प्रसिद्ध पत्रिका ने उपनिवेशवाद से पहले अफ़्रीका में मासाइयों की स्थिति के बारे में एक लेख लिखने के लिए कहा है। वह लेख लिखिए और उसे एक सुंदर शीर्षक दीजिए।
3. चित्र 11 और 13 में चिह्नित चरवाहा समुदायों में से कुछ समुदायों के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठा कीजिए।

क्रियाकलाप

प्रश्न

?

1. स्पष्ट कीजिए कि घुमंतू समुदायों को बार-बार एक जगह से दूसरी जगह क्यों जाना पड़ता है? इस निरंतर आवागमन से पर्यावरण को क्या लाभ हैं?
2. इस बारे में चर्चा कीजिए कि औपनिवेशिक सरकार ने निम्नलिखित कानून क्यों बनाए? यह भी बताइए कि इन कानूनों से चरवाहों के जीवन पर क्या असर पड़ा :
   - परती भूमि नियमावली
   - वन अधिनियम
   - अपराधी जनजाति अधिनियम
   - चराई कर
3. मासाई समुदाय के चरागाह उससे क्यों छिन गए? कारण बताएँ।
4. आधुनिक विश्व ने भारत और पूर्वी अफ़्रीकी चरवाहा समुदायों के जीवन में जिन परिवर्तनों को जन्म दिया उनमें कई समानताएँ थीं। ऐसे दो परिवर्तनों के बारे में लिखिए जो भारतीय चरवाहों और मासाई गड़रियों, दोनों के बीच समान रूप से मौजूद थे।

किसान और काश्तकार

पिछले दो अध्यायों में आप वनों और चरागाहों के बारे में पढ़ रहे थे, और उनके बारे में भी जो इन स्रोतों से रोज़ी-रोटी अर्जित करते हैं। आपने झूम खेती करने वालों, चरवाहों और जनजातीय समूहों के बारे में भी पढ़ा। आपने जाना कि किस तरह वनों और चरागाहों को आधुनिक सरकारों ने नियंत्रित करना शुरू किया और उनकी पाबंदियों से उन पर भी असर पड़ा जो इन संसाधनों पर आश्रित थे।

इस अध्याय में आप विभिन्न देशों के खेतिहर समुदायों के बारे में पढ़ेंगे। यहाँ एक ओर इंग्लैंड के छोटे किसानों (कॉटेजर), अमेरिका के गेहूँ उत्पादकों और बंगाल के अफ़ीम उत्पादक किसानों के बारे में जानकारी हासिल करेंगे वहीं दूसरी तरफ़ आप जानेंगे कि आधुनिक खेती की शुरुआत का विभिन्न देहाती समूहों पर क्या प्रभाव पड़ा। यह भी कि विश्वव्यापी पूँजीवादी बाज़ार से जुड़ने का दुनिया के अलग-अलग इलाकों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इन विभिन्न स्थानों की तुलना से आप यह जान पाएँगे कि इन स्थानों का इतिहास एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक प्रक्रिया के रूप में कितना मिलता-जुलता रहा है।

आइए इस सफ़र की शुरुआत इंग्लैंड से ही करें जहाँ कृषि क्रांति ने पहली दस्तक दी थी।

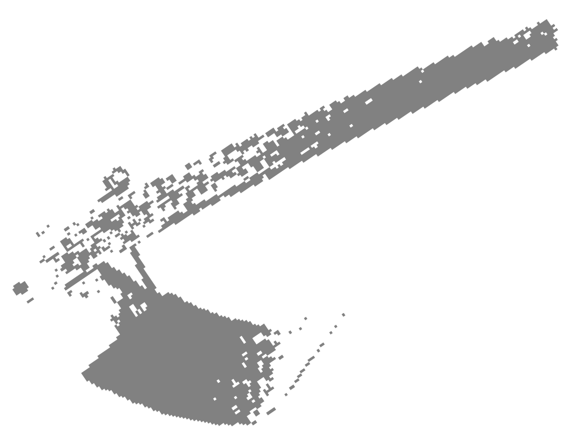

1 इंग्लैंड में आधुनिक खेती की शुरुआत

पहली जून 1830 की घटना है। इंग्लैंड के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के एक किसान ने अचानक पाया कि उसके बाड़े में रात को आग लगने से पुआल सहित सारा खलिहान जलकर राख हो गया है। बाद के महीनों में इस तरह की घटनाएँ कई दूसरे ज़िलों में भी दर्ज की गईं। कहीं सिर्फ़ पुआल जल जाती और कहीं तो पूरा का पूरा फ़ार्म हाऊस ही स्वाहा हो जाता था। फिर 28 अगस्त 1830 के दिन इंग्लैंड के ईस्ट केंट में मज़दूरों ने एक थ्रेशिंग मशीन को तोड़ कर नष्ट कर दिया। इसके बाद दो साल तक दंगों का दौर चला जिसमें तोड़-फोड़ की ये घटनाएँ पूरे दक्षिणी इंग्लैंड में फैल गईं। इस दौरान लगभग 387 थ्रेशिंग मशीनें तोड़ी गईं। किसानों को धमकी भरे पत्र मिलने लगे कि वे इन मशीनों का इस्तेमाल करना बंद कर दें क्योंकि इनके कारण मेहनतकशों की रोज़ी छिन गई है। ज़्यादातर खतों पर 'कैप्टेन स्विंग' नाम के किसी आदमी के दस्तखत होते थे। ज़मींदारों को यह खतरा सताने लगा कि कहीं हथियारबंद गिरोह रात में उन पर भी हमला न बोल दें। इस चक्कर में बहुत सारे ज़मींदारों ने तो अपनी मशीनें खुद ही तोड़ डालीं। जवाब में सरकार ने सख्त कार्रवाई की। जिन लोगों पर शक था कि वे दंगे में लिप्त हैं उन्हें फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिया गया। 1976 लोगों पर मुकदमा चला, 9 को फाँसी दी गई और 505 को देश निकाला दिया गया जिनमें से 450 को ऑस्ट्रेलिया भेज दिया गया। लगभग 644 लोगों को बंदी बनाया गया।

इन खतों में मौजूद 'कैप्टेन स्विंग' एक मिथकीय नाम था। तो स्विंग के नाम पर दंगे करने वाले आखिर थे कौन? वे थ्रेशिंग मशीनों को तोड़ने पर क्यों आमादा थे? वे किस बात का विरोध कर रहे थे? इन सवालों का जवाब जानने के लिए हमें अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दौरान इंग्लैंड की खेती में आए बदलाव को देखना होगा।

1.1 खुले खेतों और कॉमन्स का दौर

अठारहवीं सदी के अंतिम वर्षों और उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर में इंग्लैंड के देहाती इलाकों में नाटकीय बदलाव हुए। पहले इंग्लैंड का ग्रामीण क्षेत्र काफ़ी खुला-खुला हुआ करता था। न तो ज़मीन भूस्वामियों की निजी संपत्ति थी और न ही उसकी **बाड़ाबंदी** की गई थी। किसान अपने गाँव के आसपास की ज़मीन पर फ़सल उगाते थे। साल की शुरुआत में एक सभा बुलाई जाती थी जिसमें गाँव के हर व्यक्ति को ज़मीन के टुकड़े आवंटित कर दिए जाते थे। ज़मीन के ये टुकड़े समान रूप से उपजाऊ नहीं होते थे और कई जगह बिखरे होते थे। कोशिश यह होती थी कि हर किसान को अच्छी और खराब, दोनों तरह की ज़मीन मिले। खेती की इस ज़मीन के परे साझा ज़मीन होती थी। **कॉमन्स** की इस साझा ज़मीन पर सारे ग्रामीणों का हक होता था। यहाँ वे अपने मवेशी और भेड़-बकरियाँ चराते थे, जलावन की

नए शब्द

बाड़ाबंदी: पारंपरिक खुली ज़मीनों पर निजी बाड़ लगाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया।

कॉमन्स: पारंपरिक समाजों में साझा, सामुदायिक जल-जंगल-ज़मीन।

स्रोत क

ये धमकी भरे खत काफ़ी बड़े पैमाने पर भेजे जाते थे। कई बार इन खतों की भाषा काफी शालीन होती थी जबकि कई बार बहुत कड़ी भाषा का इस्तेमाल किया जाता था। कुछ पत्र बहुत छोटे होते थे। देखें एक नमूना :

श्रीमान

हम आपको यह बताना चाहते हैं कि अगर आपने अपनी थ्रेशिंग मशीन खुद नहीं तोड़ी तो हम अपने लोगों को भेज कर यह काम कराएँगे।

सब लोगों की ओर से

स्विंग

इ.जे. हॉब्सबॉम और जॉर्ज रूदे, *कैप्टेन स्विंग* से।

लकड़ियाँ बीनते थे और खाने के लिए कंद-मूल-फल इकट्ठा करते थे। जंगल में वे शिकार करते और नदियों, ताल-तलैयों में मछली पकड़ते। गरीबों के लिए तो यह साझा ज़मीन ज़िंदा रहने का बुनियादी साधन थी। इसी ज़मीन के बल पर वे लोग अपनी आय में कमी को पूरा करते, अपने जानवरों को पालते। जब किसी साल फ़सल चौपट हो जाती तो यही ज़मीन उन्हें संकट से उबारती थी।

इंग्लैंड के कुछ हिस्सों में खुले खेतों और मुक्त और साझी ज़मीन की यह अर्थव्यवस्था सोलहवीं शताब्दी से ही बदलने लगी थी। सोलहवीं सदी में जब ऊन के दाम विश्व बाज़ार में चढ़ने लगे तो संपन्न किसान लाभ कमाने के लिए ऊन का उत्पादन बढ़ाने की कोशिश करने लगे। इसके लिए उन्हें भेड़ों की नस्ल सुधारने और बेहतर चरागाहों की आवश्यकता हुई। नतीजा यह हुआ कि साझा ज़मीन को काट-छाँट कर घेरना शुरू कर दिया गया ताकि एक की संपत्ति दूसरे से या साझा ज़मीन से अलग हो जाए। साझा ज़मीन पर झोपड़ियाँ डाल कर रहने वाले ग्रामीणों को उन्होंने निकाल बाहर किया और बाड़ाबंद खेतों में उनका प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। यह बाड़ाबंदी की शुरुआत थी।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक बाड़ाबंदी आंदोलन की रफ़्तार काफी धीमी रही। शुरू में गिने-चुने भूस्वामियों ने अपनी पहल पर ही बाड़ाबंदी की थी। इसके पीछे राज्य या चर्च का हाथ नहीं था। लेकिन अठारहवीं सदी के दूसरे हिस्से में बाड़ाबंदी आंदोलन इंग्लैंड के पूरे देहात में फैल गया और इसने इंग्लैंड के भूदृश्य को आमूल बदलकर रख दिया। 1750 से 1850 के बीच 60 लाख एकड़ ज़मीन पर बाड़ें लगाई गईं। ब्रिटेन की संसद ने सक्रिय भूमिका निभाते हुए इन बाड़ों को वैधता प्रदान करने के लिए 4,000 कानून पारित किए।

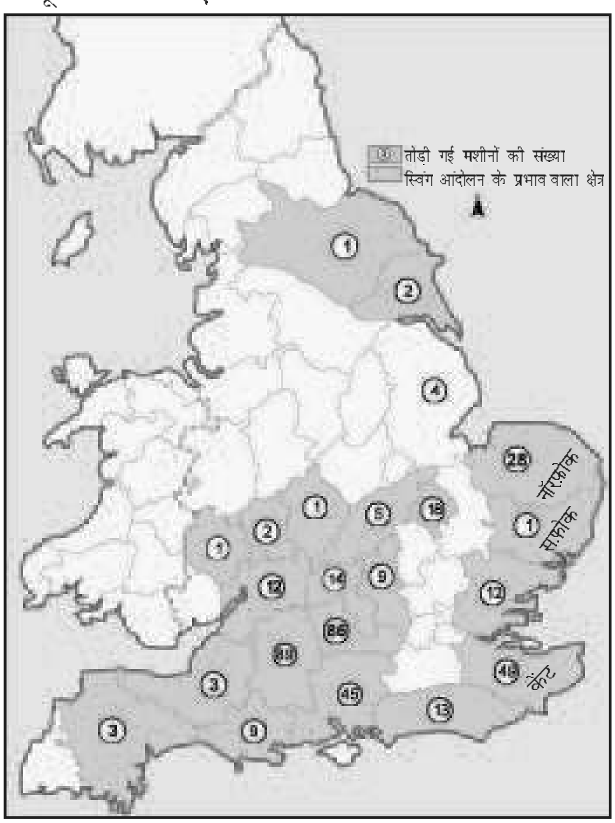

चित्र 1 – कैप्टेन स्विंग आंदोलन (1830-32) के दौरान इंग्लैंड की विभिन्न काउंटियों में तोड़ी गई थ्रेशिंग मशीनें.
ई. जे. हॉब्सबॉम तथा जॉर्ज रूदे की पुस्तक कैप्टेन स्विंग *पर आधारित।*

स्रोत ख

स्विंग की ओर से सख्त भाषा में भेजे गए खत का एक नमूना :

श्रीमान,

आपका नाम ब्लैक बुक में दर्ज ब्लैक हार्ट्स की सूची में रखा गया है। आप और आप जैसे अन्य लोगों को सलाह दी जाती है ... कि अपना इरादा बताएँ।

आप हर अवसर पर जनता के विरोधी रहे हो। आपको जैसा करना चाहिए था अभी तक आपने वैसा किया नहीं है।

स्विंग

1.2 अनाज की बढ़ती माँग

ज़मीन को बाड़ाबंद करने की ऐसी जल्दबाज़ी क्यों थी? और, इन बाड़ों का मतलब क्या था? नए बाड़े पुराने बाड़ों से भिन्न थे। जहाँ सोलहवीं शताब्दी के बाड़ों में भेड़ पालन का विकास किया गया, वहीं अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में बाड़ाबंदी का उद्देश्य अनाज उत्पादन बढ़ाना हो गया, और इसका संदर्भ भी अलग था–एक नए दौर का सूचक। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से इंग्लैंड की आबादी तेज़ी से बढ़ी। 1750 से 1900 के बीच इंग्लैंड की आबादी चार गुना बढ़ गई। 1750 में कुल आबादी 70 लाख थी जो 1850 में 2.1 करोड़ और 1900 में 3 करोड़ तक जा पहुँची। ज़ाहिर है कि अब ज़्यादा अनाज की ज़रूरत थी। इसी दौर में इंग्लैंड का औद्योगीकरण भी होने लगा था। बहुत सारे लोग रहने और काम करने के लिए गाँव से शहरों का रुख करने लगे थे। खाद्यान्नों के लिए वह बाज़ार पर निर्भर होते गए। इस तरह जैसे-जैसे शहरी आबादी बढ़ी वैसे-वैसे खाद्यान्नों का बाज़ार भी फैलता गया और खाद्यान्नों की माँग के साथ उनके दाम भी बढ़ने लगे।

अठारहवीं सदी के अंत में फ्रांस और इंग्लैंड के बीच युद्ध शुरू हो गया। इसकी वजह से यूरोपीय खाद्यान्नों के आयात सहित व्यापार बाधित हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैंड में खाद्यान्नों के दाम आसमान छूने लगे। इससे उत्साहित होकर भूस्वामी अपनी बाड़ाबंद ज़मीन में बड़े पैमाने पर अनाज उगाने लगे। उनकी तिजोरियाँ भरने लगीं और उन्होंने बाड़ाबंदी कानून पारित करने के लिए संसद पर दबाव डालना शुरू कर दिया।

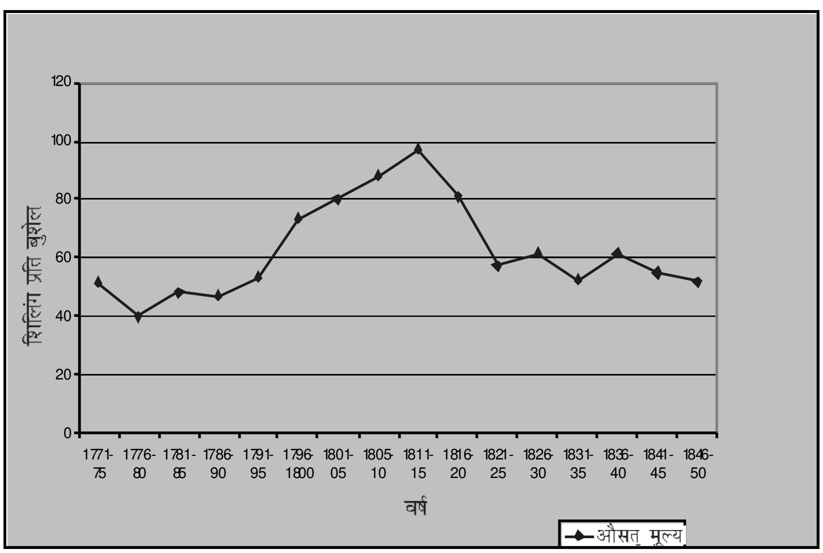

चित्र 2 : इंग्लैंड और वेल्स में गेहूँ के दामों का वार्षिक औसत : 1771-1850.

नए शब्द

बुशेल : क्षमता की माप

शिलिंग : इंग्लैंड की एक मुद्रा का नाम। 20 शिलिंग = 1 पौंड

क्रियाकलाप

ग्राफ़ को ध्यानपूर्वक देखें। गौर करें कि मूल्य रेखा 1790 के दौरान किस प्रकार तेज़ी से ऊपर उठती है और 1815 के बाद नाटकीय ढंग से नीचे गिरने लगती है। क्या आप ग्राफ़ की इन रेखाओं में आए इन उतार-चढ़ावों के कारणों का पता लगा सकते हैं।

चित्र 3 – उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में सफ़ोक का देहाती इलाका.

अंग्रेज़ चित्रकार जॉन कॉन्सटेबल की कृति। कॉन्सटेबल के पिता अनाज के बड़े व्यापारी थे। कॉन्सटेबल का बचपन पूर्वी इंग्लैंड के ग्रामीण क्षेत्र सफ़ोक में बीता। इस क्षेत्र में बाड़ाबंदी का काम उन्नीसवीं सदी से काफ़ी पहले पूरा हो चुका था। कॉन्सटेबल के चित्र देहात के खुले जीवन को बड़े भावपूर्ण ढंग से उकेरते हैं। उनके चित्र हमें एक ऐसे दौर से परिचित कराते हैं जब देहात का सीधा, सरल और खुशनुमा जीवन अतीत की बात बनता जा रहा था और खुले खेतों की बाड़ाबंदी की जा रही थी। इस चित्र में हम खेतों पर लगी बाड़ें देख सकते हैं। लेकिन इससे हमें यह पता नहीं चलता कि तत्कालीन भूदृश्य कैसे बदलता जा रहा था। कॉन्सटेबल के चित्रों में हमें आमतौर पर मेहनतकश जनता दिखाई नहीं देती। चित्र 1 पर नज़र डालने से पता चलता है कि सफ़ोक ऐसे इलाकों से घिरा हुआ था जहाँ स्विंग दंगों के दौरान बड़े पैमाने पर थ्रेशिंग मशीनें तोड़ी गई थीं।

1.3 बाड़ाबंदी का युग

इंग्लैंड के इतिहास में 1780 का दशक पहले के किसी भी दौर से ज़्यादा नाटकीय दिखाई देता है। इससे पहले अकसर यह होता था कि आबादी बढ़ने से खाद्यान्न का संकट गहरा जाता था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड में ऐसा नहीं हुआ। जिस तेज़ी से आबादी बढ़ी, उसी हिसाब से खाद्यान्न उत्पादन भी बढ़ा। जनसंख्या वृद्धि की तेज़ रफ़्तार के बावजूद 1868 में खाद्यान्न की अपनी ज़रूरतों का अस्सी प्रतिशत इंग्लैंड खुद पैदा कर रहा था। बाकी का आयात किया जा रहा था।

खाद्यान्न उत्पादन में हुई यह वृद्धि खेती की तकनीक में हुए किसी नए बदलाव का परिणाम नहीं थी। बल्कि हुआ सिर्फ़ यह कि नई-नई ज़मीन पर खेती की जाने लगी। भूस्वामियों ने मुक्त खेतों, सार्वजनिक जंगलों, दलदली ज़मीन और चरागाहों को काट-छाँट कर बड़े-बड़े खेत बना लिए थे।

इस समय तक किसान खेती में उन्हीं सरल तकनीकों का इस्तेमाल कर रहे थे जो अठारहवीं सदी के प्रारंभ में बड़े पैमाने पर प्रचलित थीं। 1660 के दशक में इंग्लैंड के कई हिस्सों में किसान शलजम और तिपतिया घास (क्लोवर) की खेती करने लगे थे। उन्हें जल्द ही अहसास हो गया कि इन

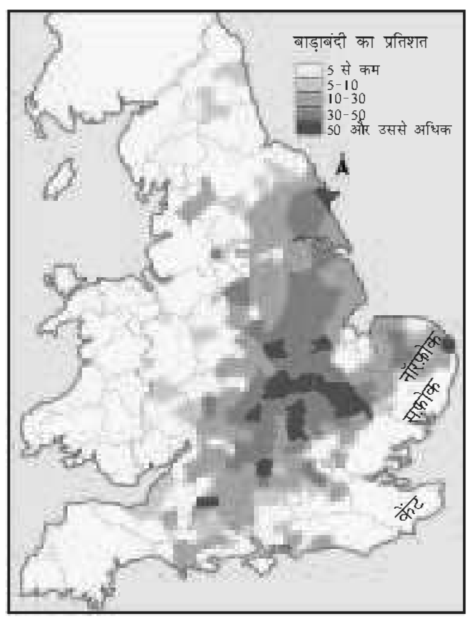

चित्र 4 – संसदीय कानूनों के तहत सार्वजनिक भूमि की बाड़ाबंदी : अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी.

ई जे. हॉब्सबॉम तथा जॉर्ज रूदे की पुस्तक कैप्टेन स्विंग पर आधारित।

फ़सलों से ज़मीन की पैदावार बढ़ती है। फिर, शलजम को पशु भी बड़े चाव से खाते थे। इसलिए वे शलजम और तिपतिया घास की खेती नियमित रूप से करने लगे। बाद के अध्ययनों से पता चला कि इन फ़सलों से ज़मीन में नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ जाती है जो फ़सल वृद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण थी। असल में लगातार खेती करने से ज़मीन में नाइट्रोजन की मात्रा घट जाती है जिसके कारण ज़मीन की उर्वरता भी कम होने लगती है। शलजम और तिपतिया घास की खेती से ज़मीन में नाइट्रोजन की मात्रा फिर से बढ़ जाती थी और ज़मीन फिर उपजाऊ हो जाती थी। इस तरह उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में खेती में सुधार लाने के लिए किसान इन्हीं सरल तरीकों का नियमित रूप से इस्तेमाल करने लगे थे।

अब बाड़ाबंदी को एक दीर्घकालिक निवेश के रूप में देखा जाने लगा था और मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए लोग बदल-बदल कर फ़सलें बोने लगे थे। बाड़ाबंदी से अमीर भूस्वामियों को अपनी जोत बढ़ाने और बाज़ार के लिए पहले से ज़्यादा उत्पादन करने की सहूलियत मिली।

1.4 गरीबों पर क्या बीती ?

बाड़ाबंदी ने भूस्वामियों की तिजोरियाँ भर दीं। पर उन लोगों का क्या हुआ जो रोज़ी-रोटी के लिए कॉमन्स पर ही आश्रित थे? बाड़ लगने से बाड़े के भीतर की ज़मीन भूस्वामी की निजी संपत्ति बन जाती थी। गरीब अब न तो जंगल से जलावन की लकड़ी बटोर सकते थे और न ही साझा ज़मीन पर अपने पशु चरा सकते थे। वे न तो सेब या कंद-मूल बीन सकते थे और न ही गोश्त के लिए शिकार कर सकते थे। अब उनके पास फ़सल कटाई के बाद बची ठूंठों को बटोरने का विकल्प भी नहीं रह गया था। हर चीज़ पर जमींदारों का कब्ज़ा हो गया, हर चीज़ बिकने लगी और वह भी ऐसी कीमतों पर कि जिन्हें अदा करने की सामर्थ्य गरीबों के पास नहीं थी।

जहाँ कहीं बड़े पैमाने पर बाड़ाबंदी हुई, खासतौर पर इंग्लैंड के मध्यवर्ती क्षेत्रों और आसपास के प्रांतों (काउंटियों) में, वहाँ गरीबों को ज़मीन से बेदखल कर दिया गया। उनके पारंपरिक अधिकार धीरे-धीरे खत्म होते गए। अपने अधिकारों से वंचित और ज़मीन से बेदखल होकर वे नए रोज़गार की तलाश में दर-दर भटकने लगे। मध्यवर्ती क्षेत्रों से वे दक्षिणी प्रांतों की ओर जाने लगे। मध्य क्षेत्र में सबसे सघन खेती होती थी और वहाँ खेतिहर मज़दूरों की भारी माँग थी। लेकिन अब कहीं भी गरीबों को एक सुरक्षित और नियमित रोज़गार नहीं मिल पा रहा था।

पुराने ज़माने में आमतौर पर मज़दूर भूस्वामियों के साथ ही रहा करते थे। वे मालिकों के साथ खाना खाते और साल भर उनकी सेवा-टहल करते थे। यह रिवाज 1800 तक आते-आते समाप्त होने लगा था। अब मज़दूरों को काम के बदले दिहाड़ी दी जाती थी और काम भी केवल कटाई के दौरान ही होता था। जमींदार अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए मज़दूरों की दिहाड़ी की मद में कटौती करने लगे। काम अनिश्चित, रोज़गार असुरक्षित और आय अस्थिर हो गई। वर्ष के बड़े हिस्से में गरीब बेरोज़गार रहने लगे।

क्रियाकलाप

औरतों और बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ा?

गो-पालन, जलावन की लकड़ी बीनने, सार्वजनिक भूमि पर फलों और बेरियों को इकट्ठा करने का काम पहले अकसर औरतें और बच्चे करते थे।

क्या आप बता सकते हैं कि बाड़ाबंदी का बच्चों और स्त्रियों पर क्या प्रभाव पड़ा होगा?

सार्वजनिक भूमि की समाप्ति का परिवार के भीतर स्त्री-पुरुष और बच्चों के आपसी संबंधों पर क्या असर हुआ होगा?

1.5 थ्रेशिंग मशीन का आगमन

जिन दिनों नेपोलियन इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध छेड़े हुए था, उन दिनों खाद्यान्न के भाव काफ़ी ऊँचे थे और काश्तकारों ने जमकर अपना उत्पादन बढ़ाया। मज़दूरों की कमी के डर से उन्होंने बाज़ार में नई-नई आई थ्रेशिंग मशीनों को खरीदना शुरू कर दिया। काश्तकार अकसर मज़दूरों के आलस, शराबखोरी और मेहनत से जी चुराने की शिकायत किया करते थे। उन्हें लगा कि मशीनों से मज़दूरों पर उनकी निर्भरता कम हो जाएगी।

युद्ध समाप्त होने के बाद बहुत सारे सैनिक अपने गाँव और खेत-खलिहान में वापस लौट आए। अब उन्हें नए रोज़गार की ज़रूरत थी। लेकिन उसी समय यूरोप से अनाज का आयात बढ़ने लगा, उसके दाम कम हो गए और कृषि मंदी छा गई (चित्र 2 में कीमतों का ग्राफ़ देखें)। बेचैन होकर भूस्वामियों ने खेती की ज़मीन को कम करना शुरू कर दिया और माँग करने लगे कि अनाज का आयात रोका जाए। उन्होंने मज़दूरों की दिहाड़ी और संख्या कम करनी शुरू कर दी। गरीब और बेरोज़गार लोग काम की तलाश में गाँव-गाँव भटकते थे और जिनके पास अस्थायी-सा कोई काम था, उन्हें भी आजीविका खो जाने की आशंका रहती थी।

यही वह दौर था जब देहात में कैप्टेन स्विंग वाले दंगे फैले। गरीबों की नज़र में थ्रेशिंग मशीन बुरे वक्त की निशानी बन कर आई।

निष्कर्ष

इस तरह इंग्लैंड में आधुनिक खेती के आगमन से कई तरह के बदलाव आए। मुक्त खेत समाप्त हो गए और किसानों के पारंपरिक अधिकार भी जाते रहे। अमीर किसानों ने पैदावार में वृद्धि और अनाज को बाज़ार में बेच कर मोटा मुनाफ़ा कमाया और ताकतवर हो गए। गाँव के गरीब बड़ी संख्या में शहरों की ओर पलायन करने लगे। कुछ लोग मध्यवर्ती क्षेत्रों को छोड़कर दक्षिणी प्रांतों का रुख करने लगे जहाँ रोज़गार की संभावना बेहतर थी तो कुछ अन्य शहरों की ओर चल पड़े। मज़दूरों की आय का ठिकाना न रहा, रोज़गार असुरक्षित और आजीविका के स्रोत अस्थिर हो गए।

स्रोत ग

बाड़ाबंदी के कारण सार्वजनिक ज़मीन पर अधिकार समाप्त होने से एक किसान ने स्थानीय ज़मींदार को यह पत्र लिखा था :

'अगर कोई गरीब आदमी सार्वजनिक ज़मीन से आपकी एक भेड़ ले ले तो कानून उसके खिलाफ़ खड़ा हो जाएगा। लेकिन अगर आप सैकड़ों गरीबों की भेड़-बकरियों के चरने की ज़मीन छीन लेते हैं तो कानून कुछ नहीं करता। अगर गरीब आदमी आपसे कोई चीज़ छीन ले तो उसको फाँसी दे दी जाती है जबकि अगर आप उस व्यक्ति की आजीविका छीन लें तो आपके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की जाती...। गरीब इस बात को किस तरह समझें... कि कानून उनकी पहुँच से बाहर है और सरकार उनके लिए कुछ नहीं करती'?

जे. एम. नीसन, *कॉमनर्स : कॉमन राइट्स, एनक्लोज़र्स एण्ड सोशल चेंज, 1700-1820* (1993) से उद्धृत।

स्रोत घ

इसके विपरीत बहुत से लेखकों ने बाड़ाबंदी के लाभों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

'खुले खेतों और बाड़ाबंदी की ज़मीन के बीच कोई तुलना नहीं की जा सकती। बाड़ाबंदी की व्यवस्था निश्चित रूप से खुले खेतों से बेहतर है। खुले खेतों के मामले में खेतिहर जंजीरों में जकड़ा रहता है। वह मिट्टी या मूल्यों में कोई बदलाव नहीं ला सकता। उसकी हालत उस घोड़े जैसी होती है जो अन्य घोड़ों के साथ बंधा होता है। यानी वह उनसे अलग होकर कुछ नहीं कर सकता और उनके बीच ही कूद-फांद कर सकता है'।

जॉन मिडिल्टन, अठाहरवीं शताब्दी के एक लेखक।

क्रियाकलाप

स्रोत ग और घ को पढ़ें और निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें :

- स्रोत ग में किसान क्या कहना चाहता है?
- जॉन मिडिल्टन क्या दलील देना चाहते हैं?
- खंड 1.1 से 1.4 तक दोबारा पढ़ें और खुले खेतों के पक्ष और विपक्ष में दिए गए तर्कों का सार-संक्षेप प्रस्तुत करें। आप किस तर्क को ज़्यादा उचित समझते हैं?

2 'रोटी की टोकरी' और रेतीला बंजर

आइए अब जरा अटलांटिक के पार अमेरिका चलें। आइए देखें कि यहाँ आधुनिक खेती का विकास कैसे हुआ, किस तरह अमेरिका दुनिया की 'रोटी की टोकरी' (ब्रेड बास्केट) बनकर उभरा और इन बदलावों का अमेरिका के ग्रामीणों पर क्या प्रभाव पड़ा?

जब अठारहवीं सदी के अंत में इंग्लैंड में साझा ज़मीन को बाड़ाबंद किया जा रहा था उस समय तक अमेरिका में बड़े पैमाने पर स्थायी खेती का विकास नहीं हुआ था। यहाँ 80 करोड़ एकड़ भूमि पर जंगल थे और 60 करोड़ एकड़ भूमि पर सिर्फ़ घास उगती थी। चित्र 5 से आप उस समय की प्राकृतिक हरियाली के बारे में अंदाज़ा लगा सकते हैं।

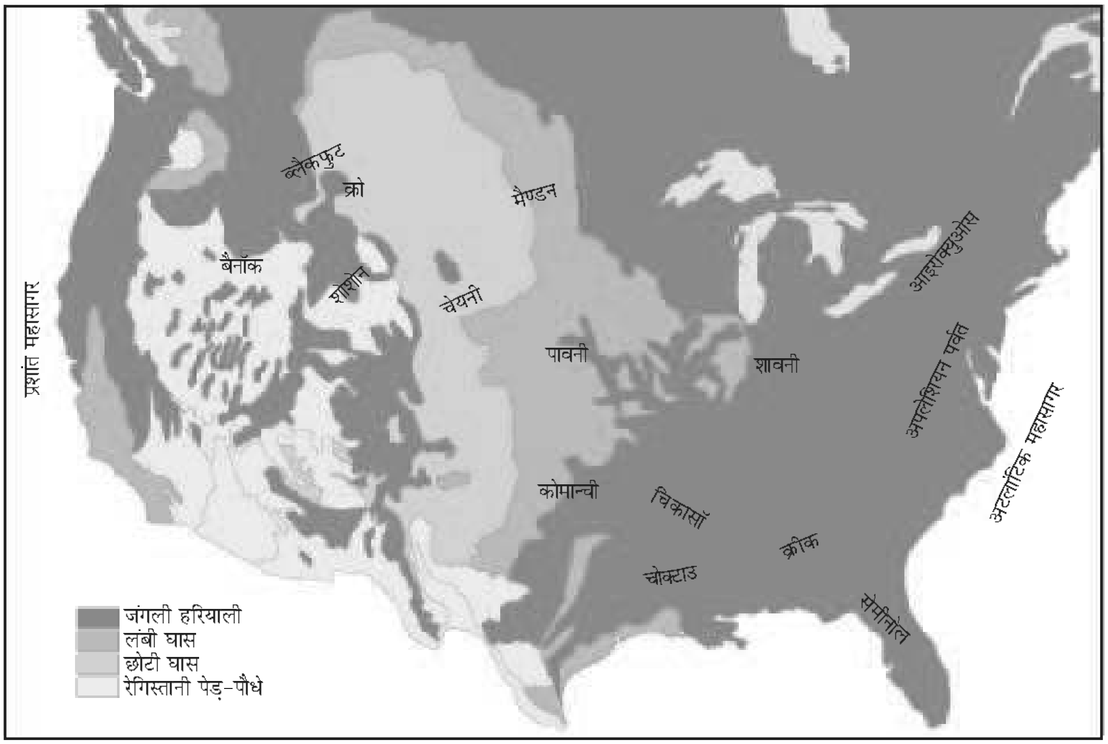

चित्र 5 – श्वेत आप्रवासियों के पश्चिमी प्रसार से पहले अमेरिका में जंगल और घास के मैदानों की स्थिति.
बेकर की पुस्तक इकनॉमिक ज्यॉग्रफ़ी, खण्ड 2, 1926 *में संकलित 'एग्रीकल्चरल रीजन्स ऑफ़ नॉर्थ अमेरिका' से उद्धृत। जंगलों का करीब आधा और घास के मैदानों का एक-तिहाई हिस्सा खेती के लिए साफ़ किया गया था। मानचित्र में आप उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में अमेरिका के विभिन्न मूल कबीलों के निवास क्षेत्रों को भी देख सकते हैं।*

उस समय अमेरिकी भूदृश्य का ज़्यादातर हिस्सा श्वेत अमेरिकियों के नियंत्रण में नहीं था। 1780 के दशक तक श्वेत अमेरिकी बसावट पूर्वी तट की एक छोटी संकीर्ण पट्टी तक सीमित थी। अगर आप उस समय अमेरिका की सैर पर निकलते तो आपको जगह-जगह अमेरिका के मूल निवासियों के बड़े-बड़े समूह मिलते। इनमें से कुछ घुमंतू थे और कुछ स्थायी रूप से रहने वाले थे। बहुत सारे समूह सिर्फ़ शिकार करके, खाद्य पदार्थ बीन कर और मछलियाँ पकड़ कर गुज़ारा करते थे जबकि कुछ मक्का, फलियों, तंबाकू और कुम्हड़े की खेती करते थे। अन्य समूह जंगली पशुओं को पकड़ने में माहिर थे और सोलहवीं सदी से ही वनबिलाव का फ़र यूरोपीय व्यापारियों को बेचते रहे थे। चित्र 5 में अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में विभिन्न कबीलों की अवस्थिति को दर्शाया गया है।

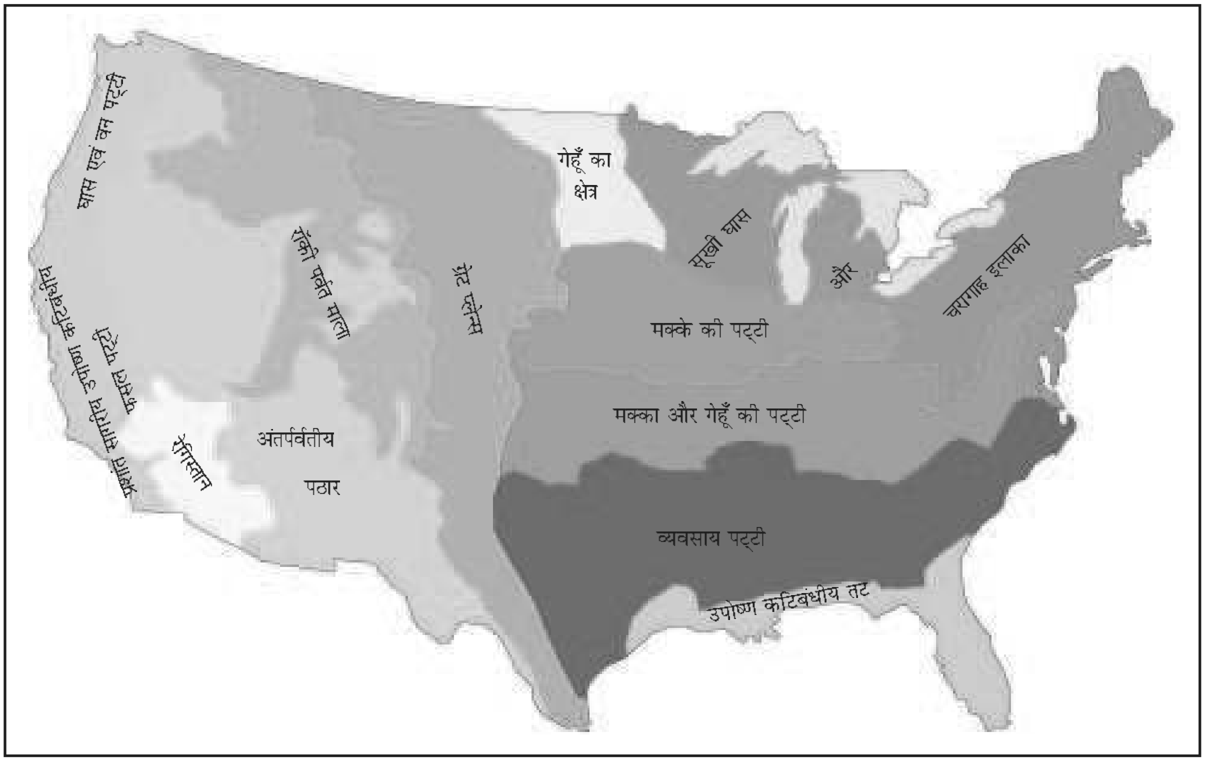

चित्र 6 : 1920 में अमेरिका के खेतिहर क्षेत्रों की स्थिति.
1920 के दशक में प्रकाशित बेकर की पुस्तक इकनॉमिक ज्यॉग्रफ़ी में संकलित लेखों के आधार पर।

बीसवीं सदी आते-आते यह भूदृश्य पूरी तरह बदल चुका था। श्वेत अमेरिकी पश्चिम की ओर फैल गए थे और उन्होंने वहाँ की ज़मीन को कृषि योग्य बना लिया था। इस प्रक्रिया में उन्होंने मूल कबीलों को उनकी जगहों से विस्थापित करके अलग-अलग खेतिहर इलाके बना लिए थे। कृषि उत्पादन के विश्व बाज़ार में अमेरिका की तूती बोलने लगी थी। यह परिवर्तन कैसे संभव हुआ? अमेरिका में बसने वाले ये नए लोग कौन थे? खेती के इस प्रसार से अमेरिका के मूल निवासी यानी इंडियन मूल के कबीलाई समुदायों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा?

2.1 पश्चिम की ओर प्रसार तथा गेहूँ की खेती

अमेरिका में कृषि विस्तार का संबंध श्वेतों के पश्चिमी क्षेत्र में जाकर बसने से गहरे रूप से जुड़ा है। 1775 से 1783 तक चले अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम और संयुक्त राज्य अमेरिका के गठन के बाद श्वेत अमेरिकी पश्चिमी इलाकों की तरफ़ बढ़ने लगे। टॉमस जेफ़र्सन के 1800 में अमेरिका का राष्ट्रपति बनने तक लगभग सात लाख श्वेत, दर्रों के रास्ते अपलेशियन पठारी क्षेत्र में जाकर बस चुके थे। पूर्वी तट से देखने पर अमेरिका संभावनाओं से भरा दिखता था। वहाँ के बियाबानों को कृषि योग्य भूमि में बदला जा सकता था, जंगल से इमारती लकड़ी का निर्यात किया जा सकता था, खाल के लिए पशुओं का शिकार किया जा सकता था और पहाड़ियों से सोने जैसे खनिज पदार्थों का दोहन किया जा सकता था। लेकिन इसका

चित्र 7 – 1775 से 1920 के बीच श्वेत आप्रवासियों का पश्चिम की ओर प्रसार.

मतलब था कि पहले यहाँ के अश्वेत निवासियों को निकाल बाहर किया जाए। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने 1800 के बाद के दशकों में औपचारिक नीति बना कर अमेरिकी इंडियनों को पहले मिसीसिपी नदी के पार और बाद में और भी पश्चिम की तरफ़ खदेड़ना शुरू किया। इस प्रक्रिया में कई लड़ाइयाँ लड़ी गईं, मूल निवासियों का जनसंहार किया गया और उनके गाँव जला दिए गए। इंडियनों ने प्रतिरोध किया, कई लड़ाइयों में जीते भी, लेकिन अंतत: उन्हें समझौता-संधियाँ करनी पड़ीं और अपना घर-बार छोड़कर पश्चिम की ओर कूच करना पड़ा।

मूल निवासियों की जगहों पर नए प्रवासी बसने लगे। प्रवासियों की लहर पर लहर आती गई। अठारहवीं शताब्दी के पहले दशक तक ये प्रवासी अपलेशियन पठार में बस चुके थे और 1820-1850 के बीच उन्होंने मिसीसिपी की घाटी में भी पैर जमा लिए। उन्होंने जंगलों को काट-जलाकर, ठूँठ उखाड़कर, खेत और घर बना लिए। फिर उन्होंने बाकी जंगलों का सफ़ाया करके बाड़ें लगा दीं। इस ज़मीन पर वह मक्का और गेहूँ की खेती करने लगे।

शुरुआती वर्षों में इस उर्वर ज़मीन पर किसानों ने अच्छी फ़सलें पैदा कीं। जैसे ही एक जगह ज़मीन की पैदावार घट जाती, किसान बेहतर ज़मीन की तलाश में नई जगह चले जाते। मिसीसिपी नदी के पार स्थित विशालकाय मैदानों में प्रवासी आबादी का प्रसार 1860 के बाद की घटना है। बाद के दशकों में यह समूचा क्षेत्र अमेरिका के गेहूँ उत्पादन का एक बड़ा क्षेत्र बन गया।

चित्र 8 – सीमांत क्षेत्रों में सॉड मकान.

घास के मैदान साफ़ करने के दौरान आप्रवासी किसान इस तरह के घर बनाते थे। इस क्षेत्र में मकान बनाने के लिए लकड़ी का अभाव था।

(सौजन्य : फ़्रेड हल्टस्ट्रैंड हिस्ट्री इन पिक्चर्स कलेक्शन, एनडीआईआरएस -एनडीएसयू, फ़ारगो)।

नए शब्द

सॉड : घास व मिट्टी का मिश्रण।

अब ज़रा गेहूँ उत्पादक किसानों के बारे में कुछ विस्तार से बात की जाए। देखा जाए कि इन किसानों ने किस तरह घास के मैदानों को अमेरिका की 'रोटी की टोकरी' में तब्दील किया। उन्हें किन समस्याओं से जूझना पड़ा और इस प्रक्रिया के क्या परिणाम रहे?

चित्र 9 – छुट्टी की दोपहर को सुस्ताता एक किसान परिवार. डकोटा के विशाल मैदानों का बीसवीं सदी के पहले दशक में लिया गया चित्र।
(सौजन्य : फ़्रेड हल्टस्ट्रैंड हिस्ट्री इन पिक्चर्स कलेक्शन, एनडीआईआरएस –एनडीएसयू, फ़ारगो)।

2.2 गेहूँ उत्पादक किसान

उन्नीसवीं सदी के आखिरी सालों में अमेरिका के गेहूँ उत्पादन में ज़बर्दस्त वृद्धि हुई। इस दौरान अमेरिका की शहरी आबादी बढ़ती जा रही थी और निर्यात बाज़ार भी दिनोंदिन फैलता जा रहा था। माँग बढ़ने के साथ गेहूँ के दामों में भी उछाल आ रहा था। इससे उत्साहित होकर किसान गेहूँ उगाने की तरफ़ झुकने लगे। रेलवे के प्रसार से खाद्यान्नों को गेहूँ उत्पादक क्षेत्रों से निर्यात के लिए पूर्वी तट पर ले जाना आसान हो गया था। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक गेहूँ की माँग में और भी वृद्धि हुई तथा प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान गेहूँ के विश्व बाज़ार में भारी उछाल आया। रूसी गेहूँ की आपूर्ति पर रोक लगने के बाद गेहूँ के लिए यूरोप अमेरिका पर ही आश्रित था। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने किसानों से वक्त की पुकार सुनने का आह्वान किया – 'खूब गेहूँ उपजाओ। गेहूँ ही हमें जंग जिताएगा।'

1910 में अमेरिका की 4.5 करोड़ एकड़ ज़मीन पर गेहूँ की खेती की जा रही थी। नौ साल बाद गेहूँ उत्पादन का क्षेत्रफल बढ़कर 7.4 करोड़ एकड़ यानी लगभग 65 प्रतिशत ज़्यादा हो गया था। इसमें से ज़्यादातर वृद्धि विशाल मैदानों (ग्रेट प्लेन्स) में हुई थी जहाँ नित नए क्षेत्रों को जोता जा रहा था। गेहूँ उत्पादन बहुधा बड़े किसानों के कब्ज़े में था–कई बड़े किसानों के पास तो दो–तीन हज़ार एकड़ तक ज़मीन होती थी।

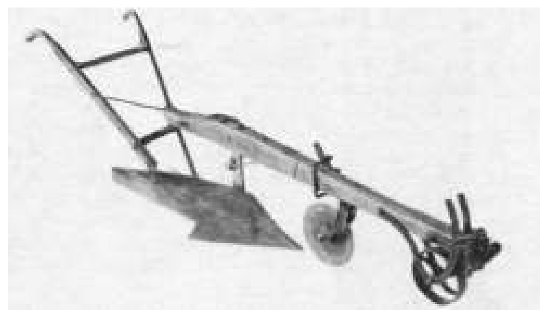

चित्र 10 – सचल हल.

गौर करें कि हल का अगला हिस्सा एक छोटे से पहिए पर टिका हुआ है। इसमें पीछे की तरफ़ एक हत्था लगा होता था जिसकी मदद से हल को आगे-पीछे चलाया जा सकता था। इस हल में बैल या घोड़े जोते जाते थे (देखें चित्र 13)।

2.3 नई तकनीक का आगमन

गेहूँ उत्पादन में हुई यह विलक्षण वृद्धि नई तकनीक का परिणाम थी। उन्नीसवीं शताब्दी में नए प्रवासी जैसे-जैसे नई ज़मीन को अपने कब्ज़े में लेते गए वैसे-वैसे उन्होंने नई ज़रूरतों के मुताबिक अपनी तकनीक में भी बदलाव किए। जब वे लोग मध्य पश्चिम के घास के मैदानों में पहुँचे तो उनके वे साधारण हल बेकार साबित हुए जिनका वे पूर्वी तट पर इस्तेमाल करते आए थे। यहाँ के मैदान घनी घास से ढँके थे जिसकी जड़ें बहुत गहरी होती थीं। इस सख्त ज़मीन को तोड़ने के लिए कई तरह के हल विकसित किए गए। स्थानीय स्तर पर विकसित इन हलों में कुछ हल 12 फुट लंबे होते थे। इन हलों का अगला हिस्सा छोटे-छोटे पहियों पर टिका होता था और उन्हें 6 बैल या घोड़े खींचते थे। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में विशाल मैदानी क्षेत्र के किसान इस सख्त ज़मीन को ट्रैक्टर और डिस्क हलों की मदद से गेहूँ की खेती करने के लिए तैयार करने में जुटे थे।

चित्र 11 – साइरस मैक्कॉर्मिक द्वारा 1831 में बनाया गया रीपर.

फ़सल पकने के बाद उसकी कटाई का नंबर आता था। 1830 से पहले फ़सल कटाई के लिए हँसिये का इस्तेमाल किया जाता था। यह एक ऐसा

चित्र 12 – उन्नीसवीं सदी के मध्य से पहले ऐसे हँसियों का इस्तेमाल घास काटने के लिए किया जाता था.

चित्र 13 – मशीनी युग से पहले नई ज़मीन को खेती के लिए इस तरह तैयार किया जाता था.

चित्र में बारह हलों के समूह में कई घोड़े जुते दिखाई दे रहे हैं। (सौजन्य : फ्रेड हल्टस्ट्रैंड हिस्ट्री इन पिक्चर्स कलेक्शन, एनडीआईआरएस-एनडीएसयू, फ़ारगो)।

चित्र 14 – ड्रिल मशीनों और ट्रैक्टरों द्वारा बीजों की रोपाई। उत्तरी डकोटा का एक कृषि फार्म, 1910.

यहाँ तीन ड्रिल और पैकर मशीनें दिखाई गई हैं। इन्हें ट्रैक्टर के पीछे बाँधा जाता था। ड्रिल मशीनें 10–12 फुट लंबी होती थीं। प्रत्येक ड्रिल में 20 डिस्क लगी होती थीं। डिस्क का काम ज़मीन को बुआई के लिए तैयार करना होता था। पैकर्स रोपे गए बीजों पर मिट्टी डालने का काम करते थे। चित्र में दूर तक फैली रोपित ज़मीन दिखाई दे रही है।

सौजन्य : एफ़. ए. पज़ानदक चित्र संग्रह, एनडीआईआरएस-एनडीएसयू, फ़ारगो।

चित्र 15 – उत्तरी डकोटा के विशाल मैदानों में ज़मीन की सफ़ाई, 1910.

इस चित्र में मिनियापोलिस वाष्प ट्रैक्टर दिखाया गया है। ट्रैक्टर के पीछे जॉन डीरे हल बंधा है और उसमें धातु के फाल लगे हैं। इन फालों की सहायता से ज़मीन को आसानी से तोड़ा जा सकता था। घास की मज़बूत जड़ों का सफ़ाया करने में भी ये हल काफ़ी मददगार थे। मशीन के पीछे गहरे कूंड़ देखे जा सकते हैं। बायीं ओर की ज़मीन पर दूर-दूर तक घास फैली हुई है। इन मशीनों का इस्तेमाल गेहूँ उगाने वाले बड़े किसान ही कर पाते थे। (सौजन्य : फ्रेड हल्टस्ट्रैंड हिस्ट्री इन पिक्चर्स कलेक्शन, एनडीआईआरएस-एनडीएसयू, फ़ारगो)।

काम था जिसे सैकड़ों स्त्री-पुरुष एक साथ लगकर करते थे। लेकिन 1831 में सायरस मैक्कॉर्मिक ने एक ऐसे औज़ार का आविष्कार किया जो एक ही दिन में इतना काम कर देता था जितना कि 16 आदमी हँसियों के साथ कर सकते थे। इस तरह बीसवीं शताब्दी के शुरू होते-होते अमेरिका के ज़्यादातर किसान फ़सल काटने के लिए कम्बाइन्ड हार्वेस्टर्स का इस्तेमाल करने लगे थे। इन मशीनों की सहायता से 500 एकड़ के खेत की कटाई का काम सिर्फ़ दो सप्ताह में ही निपटाया जा सकता था।

विशाल मैदानों के अमीर किसानों के लिए यह मशीन बहुत महत्त्वपूर्ण बन गई थी। गेहूँ के दाम आसमान छू रहे थे। उसकी माँग खत्म होने का नाम ही नहीं ले रही थी। इन मशीनों से ज़मीन के बड़े टुकड़ों पर फ़सल काटने, ठूँठ निकालने, घास हटाने और ज़मीन को दोबारा खेती के लिए तैयार करने का काम बहुत आसान हो गया था। यह सारा काम मशीनें बहुत जल्दी कर डालती थीं। इसके लिए मानव श्रम की भी बहुत आवश्यकता नहीं पड़ती थी। विद्युत से चलने वाली ये मशीनें इतनी उपयोगी थीं कि उनकी सहायता से सिर्फ़ चार व्यक्ति मिलकर एक मौसम में 2000 से 4000 एकड़ भूमि पर फ़सल पैदा कर सकते थे।

2.4 गरीब जनता की दशा

गरीब किसानों के लिए ये मशीनें बर्बादी बनकर आईं। बहुत सारे किसानों ने इन मशीनों को इस उम्मीद के साथ खरीदा था कि गेहूँ के दामों में पहले जैसी तेज़ी बनी रहेगी। इन किसानों को बैंक आसानी से ऋण दे देते थे। लेकिन ऋण को चुकाना मुश्किल काम होता था। ऋण अदा न करने की स्थिति में बहुत सारे किसानों को अपनी ज़मीन से ही हाथ धोना पड़ जाता था। और इसका मतलब होता था काम की नए सिरे से तलाश।

लेकिन इस काल में रोज़गार बहुत मुश्किल से मिल पाता था। बिजली चालित मशीनों के आगमन से मज़दूरों की ज़रूरत काफ़ी कम हो गई थी। इसके साथ ही 1920 के दशक के मध्य तक उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों की आर्थिक तेज़ी खत्म हो चली थी। महायुद्ध के उपरांत उत्पादन की हालत यह हो गई थी कि बाज़ार गेहूँ से अटा पड़ा था लेकिन खरीदार ढूँढ़े नहीं मिलते थे। ज़्यादातर किसानों के लिए यह संकट का समय था। गेहूँ के भंडार बढ़ते जा रहे थे। गोदामों में खाद्यान्न भरा रहता था। हालत यहाँ तक पहुँच गई थी कि गोदाम में रखे खाद्यान्न को पशुओं को खिलाया जा रहा था। गेहूँ के दाम गिरने से आयात बाज़ार ढह गया था। 1930 के दशक की जिस महामंदी का अकसर ज़िक्र किया जाता है उसकी पृष्ठभूमि में यही परिस्थितियाँ काम कर रही थीं। इस मंदी का असर हर जगह दिखाई पड़ता था।

2.5 'रोटी की टोकरी' से 'रेत के कटोरे' तक

विशाल मैदानों में गेहूँ की सघन खेती से कई समस्याएँ पैदा हुईं। 1930 के दशक में दक्षिण के मैदानों में रेतीले तूफ़ान आने शुरू हुए। इन तूफ़ानों की

चित्र 16 : पश्चिमी कंसास में काला तूफ़ान, 14 अप्रैल 1935.

ऊँचाई 7,000 से 8,000 फ़ीट होती थी। गंदले कीचड़ की शक्ल में आने वाले इन तूफ़ानों से चौतरफ़ा तबाही फैल जाती थी। 1930 का पूरा दशक इन तूफ़ानों से आक्रांत रहा। इस पूरे काल में ऐसा कोई दिन या वर्ष नहीं रहा जब इन रेतीले तूफ़ानों ने तबाही न मचाई हो। जैसे ही आसमान में अंधेरा छाने लगता, रेत के ये तूफ़ान शहरों और खेतों को चारों ओर से घेर लेते। तूफ़ान के कारण सब कुछ अंधकारमय हो जाता था। फेफड़ों में धूल और कीचड़ भरने से पशु भारी संख्या में मरने लगे। रेतीले तूफ़ानों से खेत के खेत पट जाते थे और उनकी मेंड़ रेत में गुम हो जाती थी। यह रेत नदी की सतह पर इस कदर जम जाती थी कि मछलियाँ साँस तक नहीं ले पाती थीं। मैदानों में हर तरफ़ चिड़ियों और पशुओं की हड्डियाँ बिखरी दिखाई देती थीं। 1920 के दशक में गेहूँ के उत्पादन में क्रांति लाने वाले ट्रैक्टर और मशीनें अब रेत के ढेरों में फंस कर बेकार हो गए थे। ये मशीनें इस हद तक खराब हो चुकी थीं कि उनकी मरम्मत भी नहीं की जा सकती थी।

इस तबाही का कारण क्या था? रेतीले तूफ़ान क्यों पैदा हुए थे? तूफ़ानों का एक कारण तो 1930 के दशक के आरंभिक वर्षों में पड़ने वाला सूखा था। कई वर्षों तक बारिश न होने के कारण तापमान बढ़ता चला गया। लेकिन रेत के ये सामान्य तूफ़ान काले भयावह तूफ़ान का रूप इसलिए ले सके क्योंकि ज़मीन के एक विशाल हिस्से पर लगातार खेती करने के कारण ज़मीन की ऊपरी परत काफ़ी हद तक टूट गई थी। उस पर घास का नामोनिशान नहीं बचा था। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में गेहूँ पैदा करने वाले किसानों ने ज़मीन के हर संभव हिस्से से घास साफ़ कर डाली थी। ये किसान ट्रैक्टरों की सहायता से इस ज़मीन को गेहूँ की खेती के लिए तैयार कर रहे थे। रेतीले तूफ़ान इसी असंतुलन से पैदा हुए थे। यह सारा क्षेत्र रेत के एक विशालकाय कटोरे में बदल गया था यानी खुशहाली का सपना एक डरावनी हकीकत बन कर रह गया था। प्रवासियों को लगता था कि वे सारी ज़मीन को अपने कब्ज़े में लेकर उसे गेहूँ की लहलहाती फ़सल में बदल डालेंगे और करोड़ों में खेलने लगेंगे। लेकिन तीस के दशक में उन्हें यह बात समझ में आई कि पर्यावरण के संतुलन का सम्मान करना कितना ज़रूरी है।

चित्र 17 – ड्राउट सर्वायवर्स : एलेक्ज़ैंडर होग का रेखाचित्र (1936).
होग ने अपने चित्रों में रेतीले तूफ़ानों से होने वाली तबाही और मौत के तांडव को दर्शाया है। लाइफ़ मैगज़ीन *ने होग को रेतीले कटोरे का चित्रकार बताया था।*

3 भारतीय किसान और अफ़ीम की खेती

आइए, अब भारत की ओर चलें और देखें कि अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों और उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में भारत के ग्रामीण क्षेत्र में क्या चल रहा था।

जैसा कि आप जानते हैं, प्लासी के युद्ध (1757) के बाद भारत में धीरे-धीरे अंग्रेज़ी राज स्थापित हो चला था। औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आमूल बदलाव आए। अंग्रेज़ सत्ता के लिए राजस्व सरकारी आय का एक बड़ा स्रोत था। सरकार अपनी आय बढ़ाने के लिए भू-राजस्व (लगान) की एक नियमित व्यवस्था करना चाहती थी। इस नीति के तहत राजस्व की दर तथा खेती की जोत बढ़ाने के प्रयास भी किए गए। जैसे-जैसे खेती का क्षेत्र बढ़ता गया वैसे-वैसे जंगल और चरागाह कम होने लगे। किसानों और चरागाहों पर आश्रित समुदायों को इसके चलते कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। अंग्रेज़ी सत्ता के कानूनों के तहत अब किसान जंगलों का मनचाहा प्रयोग नहीं कर सकते थे। सरकार ने जंगल और अन्य प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग पर कई तरह की पाबंदियाँ लगा दी थीं। किसानों पर लगान जमा करने का दबाव हर समय बना रहता था।

औपनिवेशिक काल के दौरान भारत के ग्रामीण क्षेत्र ने विश्व बाज़ार की माँग के अनुसार कई नई फ़सलों को उगाना शुरू किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में नील जैसी व्यावसायिक फ़सलों की खेती इसी अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार की मांग के फलस्वरूप शुरू की गई थी। शताब्दी का अंत होते-होते यहाँ के किसान गन्ना, कपास, जूट (पटसन), गेहूँ और अन्य ऐसी ही निर्यात आधारित फ़सलें पैदा करने लगे थे। ये फ़सलें यूरोप की शहरी आबादी और इंग्लैंड स्थित लंकाशायर और मैनचेस्टर की कपड़ा मिलों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पैदा की जा रही थीं।

भारतीय किसानों के लिए इस अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य और व्यापार से जुड़ने का अनुभव कैसा रहा, इस बात को हम अफ़ीम की खेती के माध्यम से समझने की कोशिश करेंगे। इससे हमें खेतिहर लोगों पर औपनिवेशिक शासन के प्रभाव को समझने में मदद मिलेगी। साथ ही हम यह भी जान सकेंगे कि इस दौरान उपनिवेशों में बाज़ार व्यवस्था किस तरह काम करती थी।

3.1 चाय का शौक : चीन के साथ व्यापार

भारत में अफ़ीम के उत्पादन का इतिहास चीन और इंग्लैंड के पारस्परिक व्यापार से गहरे रूप से जुड़ा है। अठारहवीं शताब्दी के आखिरी वर्षों के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी चीन से चाय और रेशम खरीदकर इंग्लैंड में बेचा करती थी। चाय की लोकप्रियता बढ़ने के साथ-साथ चाय का व्यापार दिनोंदिन महत्त्वपूर्ण होता गया। 1785 के आसपास इंग्लैंड में 1.5 करोड़ पौंड चाय का आयात किया जा रहा था। 1830 तक आते-आते यह आँकड़ा 3 करोड़ पौंड को पार कर चुका था। वास्तव में, इस समय तक ईस्ट इंडिया कंपनी के मुनाफ़े का एक बहुत बड़ा हिस्सा चाय के व्यापार से पैदा होने लगा था।

इस व्यापार की एक समस्या यह थी कि इंग्लैंड में इस समय ऐसी किसी वस्तु का उत्पादन नहीं किया जाता था जिसे चीन के बाज़ार में आसानी से बेचा जा सके। चीन का मंचू शासक विदेशी व्यापारियों को संदेह की दृष्टि से देखता था। शासकों को भय था कि ये व्यापारी स्थानीय राजनीति में हस्तक्षेप किया करेंगे और शासकों की सत्ता में अड़ंगा लगाने की कोशिश करेंगे। कुल मिलाकर मंचू शासक विदेशी वस्तुओं के लिए चीन के दरवाज़े खोलने के पक्ष में नहीं थे।

आखिर ऐसी स्थिति में पश्चिम के व्यापारी चाय के व्यापार को कैसे जारी रख सकते थे। व्यापार संतुलन कायम रखना उनके लिए एक बड़ी समस्या बन गया था। व्यापारी चाय के बदले चाँदी के सिक्के (बुलियन) दिया करते थे। चाँदी के निर्यात को इंग्लैंड में अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता था। यह एक तरह से इंग्लैंड के खज़ाने को खाली करना था। इंग्लैंड में यह सार्वजनिक चिंता का विषय बन गया था। लोगों में यह भावना घर करने लगी थी कि खज़ाना खाली होने से देश में गरीबी फैल जाएगी और राष्ट्रीय संपत्ति हाथ से निकल जाएगी। इसी कारण व्यापारी चाँदी का विकल्प ढूँढ़ने की कोशिश कर रहे थे। वे एक ऐसी वस्तु की तलाश में थे जिसे चीन के बाज़ार में बेचा जा सके।

अफ़ीम एक ऐसा ही उत्पाद था। चीन में अफ़ीम की शुरुआत सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में पुर्तगालियों ने की थी लेकिन अफ़ीम को मुख्यत:

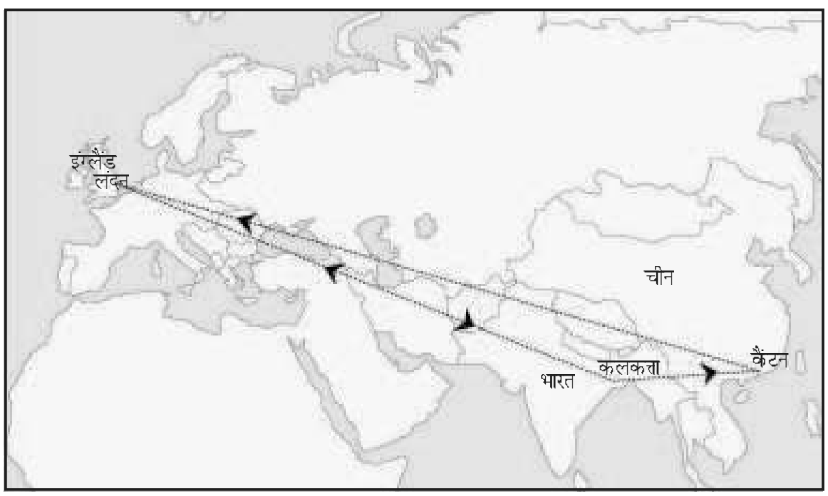

चित्र 18 – त्रिकोणीय व्यापार.

अंग्रेज़ व्यापारी भारत से अफ़ीम ले जाकर चीन में बेचते थे और चीन से इंग्लैंड को चाय का निर्यात करते थे। भारत और इंग्लैड के बीच दोतरफ़ा व्यापार होता था। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भारत से इंग्लैड को होने वाले हथकरघा निर्यात में गिरावट आने लगी और इसके स्थान पर कच्चे माल (रेशम व कपास) तथा खाद्यान्नों का निर्यात बढ़ने लगा। इंग्लैंड भारत में अपने यहाँ निर्मित माल भेजने लगा जिसके परिणामस्वरूप भारत के दस्तकारी उत्पादों का ह्रास होने लगा।

औषधि के रूप में देखा जाता था। बहुत-सी दवाइयों में इसका इस्तेमाल किया जाता था। चीन के शासक अफ़ीम की लत को लेकर चिंतित थे। वहाँ के शासक ने औषधि के अलावा अफ़ीम के उत्पादन और विक्रय पर रोक लगा रखी थी। लेकिन राजकीय पाबंदी के बावजूद अठारहवीं शताब्दी के मध्य में पश्चिम के व्यापारियों ने चीन में अफ़ीम का अवैध व्यापार करना शुरू कर दिया। पश्चिम के व्यापारी चीन के दक्षिण-पूर्वी बंदरगाहों पर अफ़ीम लाते थे और वहाँ से स्थानीय एजेंटों के ज़रिए देश के आंतरिक हिस्सों में भेज देते थे। 1820 के आसपास अफ़ीम के लगभग 10,000 क्रेट अवैध रूप से चीन में लाए जा रहे थे। 15 साल बाद गैरकानूनी ढंग से लाए जाने वाली इस अफ़ीम की मात्रा 35,000 क्रेट का आँकड़ा पार कर चुकी थी।

क्रियाकलाप

मानचित्र में दिखाई दे रहे तीर के निशानों के अनुसार बताएँ कि किस देश से कौन-सी वस्तु किस देश को भेजी जाती थी।

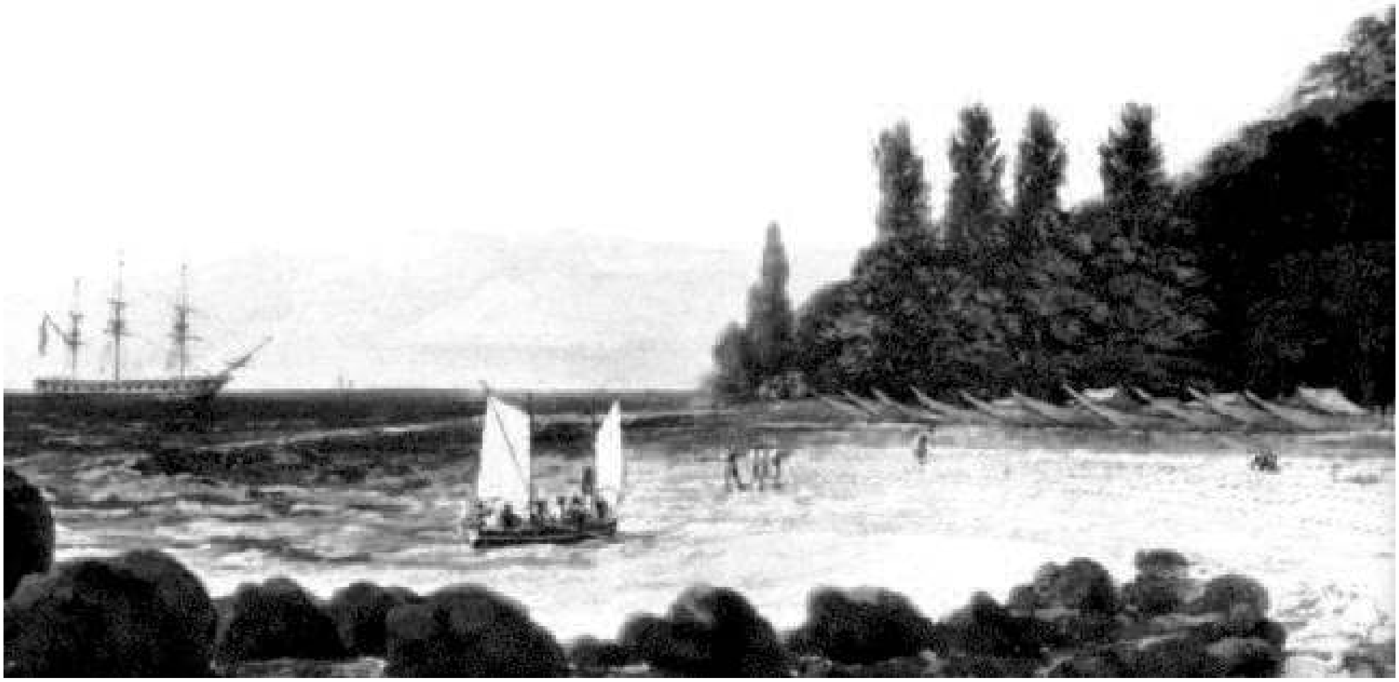

चित्र 19 – चीन से भारत आए जहाज़ का चित्र.

थॉमस डेनियल की कृति। डेनियल अपने भतीजे विलियम डेनियल के साथ 1786 में भारत आए थे। वे दोनों पहले चीन गए थे। वहाँ कुछ समय बिताने के बाद वे कैंटन, दक्षिण चीन से भारत पहुँचे। उनका जहाज़ भारत के एक बंदरगाह पर पंजीकृत था। लेकिन इस जहाज़ से पूर्वी देशों के साथ व्यापार किया जाता था। चीन के साथ अफ़ीम के अवैध व्यापार के लिए इसी तरह के जहाज़ों का इस्तेमाल किया जाता था।

स्रोत च

1839 में चीन के शासक ने लिन ज़े-शू को कैंटन का विशेष आयुक्त नियुक्त किया। लिन ज़े-शू को अफ़ीम का व्यापार रोकने की जिम्मेदारी दी गई थी। वह 1839 के वसंत में कैंटन पहुँचा। ज़े-शू ने पद संभालते ही अफ़ीम के व्यापार में लगे 1600 लोगों को गिरफ़्तार करने के आदेश दिए और 11,000 पौंड अफ़ीम जब्त कर ली। इसके बाद लिन ज़े-शू ने विदेशी फ़ैक्ट्रियों को अफ़ीम का स्टॉक खाली करने की हिदायत दी। इस कार्रवाई के तहत अफ़ीम के 20,000 क्रेट नष्ट किए गए। ज़े-शू के कैंटन में विदेशी व्यापार पर रोक लगाने से इंग्लैंड ने चीन के खिलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी। अफ़ीम युद्ध (1837-42) में चीन को मुँह की खानी पड़ी और उसे एक अपमानजनक संधि स्वीकार करनी पड़ी। संधि की शर्तों के अनुसार अफ़ीम के व्यापार को कानूनी मान्यता दे दी गई और चीन के दरवाज़े विदेशी व्यापारियों के लिए खोल दिए गए। युद्ध से पहले लिन ने इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया को एक पत्र लिखा था जिसमें अफ़ीम के व्यापार की भर्त्सना की गई थी। यहाँ लिन द्वारा महारानी को लिखे गए उस पत्र का एक अंश प्रस्तुत है।

चीन में जो लोग अफ़ीम की खरीद-फ़रोख्त करते हैं या उसका सेवन करते हैं उन्हें मृत्युदंड दिया जाना चाहिए। अगर हम अफ़ीम बेचने वाले इन बर्बर लोगों के अपराधों की जाँच करें और उनकी हरकतों से देश को होने वाले नुकसान का जायज़ा लें तो इन लोगों को मृत्युदंड देना कहीं से गलत नहीं लगता...

आपका देश चीन से साठ या सत्तर हज़ार ली (तीन ली, एक मील के बराबर होता है) दूर है। इसके बावजूद इन बर्बर लोगों के जहाज़ अफ़ीम के व्यापार के लिए चीन में आते हैं और भारी मुनाफ़ा कमाते हैं। चीन की संपत्ति का ये बर्बर व्यापारी अपने हित में दोहन कर रहे हैं। इसका मतलब यह है कि इन बर्बर व्यापारियों द्वारा कमाया गया धन वास्तव में चीन की संपत्ति है। इन लोगों को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि इस व्यापार के बदले वे चीन की जनता को यह खतरनाक नशीली दवा खिलाएँ। मैं पूछना चाहता हूँ कि आपकी नैतिकता कहाँ चली गई है। मैंने सुना है कि इंग्लैंड में अफ़ीम के सेवन पर सख्त रोक है। इसका कारण यह है कि आपका देश अफ़ीम के खतरों को समझता है। यदि आप अपने देश का नुकसान नहीं करना चाहते तो दूसरे देशों का नुकसान करने का भी आपको कोई अधिकार नहीं है। भला चीन इस बला का शिकार क्यों?

स्रोत : सूयू तेंग और जॉन फ़ेयरबैंक, *चाइनाज़ रेस्पॉन्स टू द वेस्ट* (1954)।

स्रोत

इस तरह यह हुआ कि जहाँ इंग्लैंड में चीन से आयात की गई चाय लोगों की ज़बान पर चढ़ने लगी वहीं चीन की जनता अफ़ीम की लत का शिकार होने लगी। यह लत समाज के सभी वर्गों – दुकानदार, सरकारी कर्मचारी, सेना के लोग, उच्च वर्ग और भिखारियों में फैल गई थी। 1839 में कैंटन के विशेष आयुक्त लिन ज़े-शू के अनुसार चीन में 40 लाख लोग अफ़ीम का सेवन कर रहे थे। कैंटन में रहने वाले एक अंग्रेज़ डॉक्टर के मुताबिक लगभग 1 करोड़ 20 लाख लोग अफ़ीम की लत के आदी हो चुके थे। एक तरफ़ जहाँ चीन अफ़ीमचियों का देश बन गया था वहीं इंग्लैंड का चाय व्यापार दिनोंदिन प्रगति कर रहा था। अफ़ीम के इस अवैध व्यापार से हासिल की गई राशि का इस्तेमाल चाय खरीदने के लिए किया जा रहा था।

क्रियाकलाप

कल्पना करें कि चीन के शासक ने आपसे अफ़ीम के नुकसानदेह प्रभावों के बारे में एक पर्चा तैयार करने के लिए कहा है। पता लगाएँ कि अफ़ीम के सेवन का मनुष्य पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है। एक पर्चा तैयार करें और उसे आकर्षक शीर्षक दें।

3.2 अंग्रेज़ व्यापारी अफ़ीम कहाँ से प्राप्त करते थे?

अफ़ीम के व्यापार में भारतीय किसानों की भूमिका यहीं से शुरू होती है।

बंगाल विजय के बाद अंग्रेज़ों ने अपने कब्ज़े की ज़मीन पर अफ़ीम की खेती शुरू की। जैसे-जैसे चीन में अफ़ीम का बाज़ार बढ़ता गया वैसे-वैसे बंगाल के बंदरगाहों से अफ़ीम का निर्यात बढ़ने लगा। 1767 से पहले भारत से केवल 500 पेटी (दो **मन** के बराबर) अफ़ीम निर्यात की जाती थी। सिर्फ़ चार वर्षों के भीतर यह मात्रा तीन गुना बढ़ गई। 100 वर्ष बाद अर्थात् 1870 तक आते-आते सरकार हर वर्ष लगभग 50,000 पेटी अफ़ीम का निर्यात करने लगी थी।

दिनोंदिन बढ़ते व्यापार को कायम रखने के लिए अफ़ीम की माँग को बढ़ाना आवश्यक था लेकिन यह काम आसान नहीं था। आखिर किसानों को अफ़ीम की खेती के लिए कैसे तैयार किया जा सकता था? किसान अफ़ीम बोने के लिए तैयार नहीं थे। इसके कई कारण थे। सबसे पहले किसानों को अफ़ीम की खेती सबसे उर्वर ज़मीन पर करनी होती थी। खासतौर पर ऐसी ज़मीन पर जो गाँव के पास पड़ती थी। आमतौर पर ऐसी उपजाऊ ज़मीन पर किसान दाल पैदा करते थे। अच्छी और उर्वर ज़मीन पर अफ़ीम बोने का मतलब दाल की पैदावार से हाथ धोना था। उन्हें दाल की फ़सल के लिए कम उर्वर ज़मीन का इस्तेमाल करना पड़ रहा था। खराब ज़मीन में दालों का उत्पादन न केवल अनिश्चित रहता था बल्कि उसकी पैदावार भी काफ़ी कम रहती थी। दूसरे, बहुत सारे किसानों के पास ज़मीन थी ही नहीं। अफ़ीम की खेती के लिए ऐसे किसानों को भूस्वामियों को लगान देना पड़ता था। वे इन भूस्वामियों से बटाई पर ली गई ज़मीन पर अफ़ीम उगाते थे। गाँव के पास की ज़मीन की लगान दर बहुत ऊँची रहती थी। तीसरे, अफ़ीम की खेती बहुत मुश्किल से होती थी। अफ़ीम के नाज़ुक पौधे को जिंदा रखना बहुत मेहनत का काम था। अफ़ीम बोने के बाद किसान दूसरी फ़सलों पर ध्यान नहीं दे पाते थे। अंत में, सरकार अफ़ीम बोने के बदले किसानों को बहुत कम दाम देती थी। किसानों के लिए सरकारी मूल्य पर अफ़ीम पैदा करना घाटे का सौदा था।

नए शब्द

मन : भार की माप

1 मन : 40 सेर। 1 सेर 1 किलोग्राम से कुछ कम होता है।

क्रियाकलाप

कल्पना करें कि आप अफ़ीम की खेती का विरोध करने वाले किसानों का नेतृत्व कर रहे हैं। आपको ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थानीय अधिकारियों से इस संबंध में बात करनी है। बातचीत कैसे आगे बढ़ेगी? कक्षा के विद्यार्थियों को दो समूह में बाँटें और चर्चा करें।

3.3 किसानों को अफ़ीम की खेती के लिए कैसे मनाया गया?

किसानों को अफ़ीम की खेती करने के लिए अग्रिम रकम दी जाती थी। बंगाल और बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में गरीब किसानों की एक बड़ी जमात ऐसी थी जो हर समय आर्थिक संकट में घिरी रहती थी। भूस्वामी का कर चुकाने या अपने लिए भोजन और वस्त्र का प्रबंध करना उनके लिए हमेशा मुश्किल रहता था। 1780 के बाद गाँव के मुखिया इन किसानों को अफ़ीम पैदा करने के लिए अग्रिम रकम पेश करने लगे। ऋण की सुविधा इन किसानों के लिए बड़ी राहत बन कर आई। ऋण की सुविधा के चलते किसान न केवल अपनी तात्कालिक ज़रूरतों को पूरा कर पाते थे बल्कि पहले से लिए कर्ज़ को भी अदा करने की हालत में आ जाते थे। लेकिन इस ऋण व्यवस्था के साथ एक खराब बात यह जुड़ी हुई थी कि ऋण लेते ही किसान गाँव के प्रधान और सरकार के बंधुआ हो जाते थे। इन किसानों तक यह रकम अफ़ीम के सरकारी एजेंटों के जरिए पहुँचती थी। ये एजेंट गाँव के प्रधान को अग्रिम रकम देते थे और गाँव का प्रधान इन किसानों को। एक बार ऋण लेने के बाद किसान अफ़ीम बोने से मुकर नहीं सकते थे। इस व्यवस्था के तहत किसानों को एक निश्चित क्षेत्रफल में अफ़ीम बोनी पड़ती थी। फ़सल अफ़ीम के एजेंटों द्वारा काटी जाती थी। एक बार फ़सल बोने के बाद उस पर किसान का कोई अधिकार नहीं रह जाता था। वह इस ज़मीन पर कोई दूसरी फ़सल नहीं उगा सकता था। उसे इस फ़सल को कहीं और बेचने की भी आज़ादी नहीं थी। साथ ही फ़सल के दाम एजेंट द्वारा तय किए जाते थे और ये दाम हमेशा ही बहुत कम होते थे।

जहाँ तक अफ़ीम की खेती से होने वाली कम आय का सवाल है यह अफ़ीम के दाम बढ़ाने से दूर की जा सकती थी। लेकिन इस मामले में सरकार का रवैया सकारात्मक नहीं था। वह खुद इस बात के पक्ष में थी कि अफ़ीम का उत्पादन कम से कम लागत पर किया जाए और कलकत्ता के अफ़ीम एजेंटों को यह अफ़ीम ऊँचे दाम पर बेची जाए। कलकत्ता स्थित ये एजेंट इस अफ़ीम को चीन भेजने की व्यवस्था करते थे। अफ़ीम के इस क्रय और विक्रय का अंतर सरकार के खाते में जाता था। दूसरे शब्दों में यही सरकार का राजस्व होता था। अफ़ीम पैदा करने वाले किसानों को इतना कम मूल्य दिया जाता था कि अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत तक आते-आते किसान बेहतर दाम की माँग करने लगे थे और अग्रिम पेशगी लेने से इन्कार करने लगे थे। बनारस के आसपास के क्षेत्र में अफ़ीम पैदा करने वाले किसानों ने तंग आकर इसकी खेती ही बंद कर दी थी। इसके बदले उन्होंने गन्ने और आलू की खेती अपना ली। बहुत सारे किसानों ने अपनी फ़सलों को घुमंतू व्यापारियों (पैकारों) को बेच डाला था। ये व्यापारी किसानों को बेहतर दाम देते थे।

1773 तक बंगाल सरकार ने अफ़ीम के व्यापार पर आधिपत्य जमा लिया। सरकार के अलावा कोई बाहरी व्यक्ति यह व्यापार नहीं कर सकता था। 1820 के दशक में अंग्रेज़ सरकार ने पाया कि उनके क्षेत्र में अफ़ीम का उत्पादन घटने लगा है। जबकि गैर-ब्रिटिश इलाकों में अफ़ीम की खेती खूब फल-फूल रही थी। मध्य भारत और राजस्थान जैसे गैर-ब्रिटिश क्षेत्रों में

स्रोत छ

1833 में इलाहाबाद के सहायक अफ़ीम एजेंट ने लिखा था :

'बोर्ड मानता है कि किसान अफ़ीम पैदा नहीं करना चाहते। पिछले दो वर्षों के दौरान मैं जमुना के दक्षिणी ज़िलों में रहने वाले किसानों के संपर्क में रहा हूँ और मैंने यह बात महसूस की है कि यहाँ के सभी किसान इस व्यवस्था से नाराज़ हैं। वे इसे कतई पसंद नहीं करते। इस मामले में मैंने कई जगह पड़ताल की है और मेरा अनुभव यह है कि अफ़ीम की खेती को किसान अभिशाप मानते हैं। वे अफ़ीम की खेती अपनी मर्ज़ी से नहीं बल्कि डंडे के ज़ोर पर करते हैं...। यह खेती कलेक्टर के आदेश के तहत शुरू की गई थी...। लोग बाग बताते हैं कि उनके साथ चपरासी बदतमीजी से पेश आते हैं और उनसे गाली-गलौज़ करते हैं...। किसानों की राय है कि अफ़ीम की खेती से उन्हें नुकसान हुआ है।'

बिनॉय चौधरी की पुस्तक *ग्रोथ ऑफ़ कमर्शियल एग्रीकल्चर इन बंगाल* से।

अफ़ीम का उत्पादन बदस्तूर जारी था। इन क्षेत्रों में स्थानीय व्यापारी किसानों को बेहतर मूल्य देते थे। 1820 के दशक में ये व्यापारी सशस्त्र दल-बल के साथ व्यापार करते थे। अंग्रेज़ों की दृष्टि में यह व्यापार अवैध था। वे इसे तस्करी मानते थे और इस पर रोक लगाना चाहते थे। सरकार अफ़ीम पर अपना आधिपत्य बनाए रखना चाहती थी इसलिए उसने रियासतों में तैनात अपने एजेंटों को इन व्यापारियों की अफ़ीम ज़ब्त करने और फ़सलों को नष्ट करने के आदेश दिए।

जब तक अफ़ीम का उत्पादन जारी रहा तब तक ब्रिटिश सरकार, किसान और स्थानीय व्यापारियों के बीच यह टकराव चलता रहा।

लेकिन इससे हमें यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि औपनिवेशिक भारत में सभी किसानों की हालत अफ़ीम की खेती करने वाले किसानों जैसी ही थी। औपनिवेशिक भारत में अन्य किसानों की हालत के बारे में हम एक अलग अध्याय में बात करेंगे।

निष्कर्ष

इस अध्याय में आपने पढ़ा कि आधुनिक काल में विश्व के विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। इन बदलावों पर नज़र डालते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये बदलाव हर जगह एक जैसे नहीं थे। ग्रामीण क्षेत्र के सभी वर्गों पर इन परिवर्तनों का प्रभाव एक समान नहीं था। इन बदलावों से कुछ वर्गों को लाभ हुआ और कुछ को नुकसान। आधुनिकीकरण का यह इतिहास सिर्फ़ वैभवपूर्ण ही नहीं था। इसे केवल वृद्धि और विकास की एक शानदार कहानी भर नहीं कहा जा सकता। इस काल में लोगों को अपनी मूल जगह छोड़कर आजीविका की तलाश में अन्य स्थानों का रुख करना पड़ा। यह काल गरीबी, पर्यावरणीय संकट, सामाजिक विद्रोह, औपनिवेशीकरण और दमन का काल भी था। हमें इन बदलावों के विभिन्न पक्षों को समझने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि आधुनिक विश्व में खेतिहर जनता और किसानों ने इस स्थिति का मुकाबला अलग-अलग ढंग से किया है।

चित्र 20 – उन्नीसवीं सदी में अफ़ीम की पेटियों को ग़ाज़ीपुर रेलवे स्टेशन ले जाते किसान.

क्रियाकलाप

1. 1650 से 1930 के बीच कृषि के क्षेत्र में आए महत्त्वपूर्ण बदलावों को दर्शाने के लिए एक कालरेखा तैयार करें।
2. नीचे दी गई सारणी में इस अध्याय में उल्लिखित घटनाओं के आधार पर जानकारी भरें। याद रखें कि किसी देश में एक से ज़्यादा बदलाव भी देखे जा सकते हैं।

क्रियाकलाप

देश	परिवर्तन	किसका नुकसान हुआ	किसको लाभ हुआ

प्रश्न

1. अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड की ग्रामीण जनता खुले खेत की व्यवस्था को किस दृष्टि से देखती थी। संक्षेप में व्याख्या करें। इस व्यवस्था को
   - एक संपन्न किसान
   - एक मज़दूर
   - एक खेतिहर स्त्री

   की दृष्टि से देखने का प्रयास करें।
2. इंग्लैंड में हुए बाड़ाबंदी आंदोलन के कारणों की संक्षेप में व्याख्या करें।
3. इंग्लैंड के गरीब किसान थ्रेशिंग मशीनों का विरोध क्यों कर रहे थे?
4. कैप्टेन स्विंग कौन था? यह नाम किस बात का प्रतीक था और वह किन वर्गों का प्रतिनिधित्व करता था?
5. अमेरिका पर नए आप्रवासियों के पश्चिमी प्रसार का क्या प्रभाव पड़ा?
6. अमेरिका में फ़सल काटने वाली मशीनों के फ़ायदे-नुकसान क्या-क्या थे?
7. अमेरिका में गेहूँ की खेती में आए उछाल और बाद में पैदा हुए पर्यावरण संकट से हम क्या सबक ले सकते हैं?
8. अंग्रेज़ अफ़ीम की खेती करने के लिए भारतीय किसानों पर क्यों दबाव डाल रहे थे?
9. भारतीय किसान अफ़ीम की खेती के प्रति क्यों उदासीन थे?

?

खण्ड III

रोज़ाना की ज़िंदगी, संस्कृति और राजनीति

तीसरे खंड में आपका परिचय दैनिक जीवन के इतिहास से होगा। यहाँ आप खेल और पहनावे का इतिहास पढ़ सकेंगे।

इतिहास महज़ दुनिया की महान या नाटकीय घटनाओं की दास्तान नहीं है। यह हमारे जीवन की छोटी-मोटी बातों से भी उतना ही जुड़ा है। हमारे आसपास की हर चीज़ का एक इतिहास है-जो कपड़े हम पहनते हैं, जो खाना हम खाते हैं, जो दवाएँ हम लेते हैं, जो संगीत सुनते हैं, जो साहित्य पढ़ते हैं और जो खेल खेलते हैं। ये सब चीज़ें वक्त के साथ बनी हैं या बदली हैं। रोज़मर्रा की चीज़ होने के चलते हमारा ध्यान उन पर नहीं जाता। हम ठहरकर सोचते भी नहीं कि सौ साल पहले इनमें से कोई चीज़ कैसी रही होगी; या अलग-अलग समाज के लोग भोजन या कपड़े के बारे में कैसे भिन्न-भिन्न तरीके से सोचते हैं।

अध्याय 7 इतिहास व खेल पर है। इसमें आप एक ऐसे खेल का इतिहास पढ़ेंगे जिसने पिछले कुछ दशकों से अपने देश के लोगों को दीवाना कर रखा है। क्रिकेट से जुड़ी खबरें अखबारों की सुर्खियाँ बन जाती हैं। क्रिकेट का खेल आयोजित करके राष्ट्रों के बीच दोस्तियाँ गाँठी जाती हैं और क्रिकेटर अपने देश के राजदूत माने जाते हैं। सच कहा जाए तो यह खेल भारत की एकता का प्रतीक बनकर उभरा है। लेकिन क्या आप जानते हैं कि हमेशा से ऐसा नहीं था? इस अध्याय में आपको इसके लंबे और टेढ़े-मेढ़े सफ़र की एक झलक मिलेगी।

एक ज़माने में, करीब डेढ़ सौ साल पहले, क्रिकेट फ़िरंगी खेल था। इसका आविष्कार इंग्लैंड में हुआ और यह 19वीं सदी के विक्टोरियाई समाज और संस्कृति के रंग में रँग गया। इस खेल को अंग्रेज़ अपने तमाम प्रिय मूल्यों-बराबरी का न्याय, अनुशासन, शराफ़त (जेन्ट्लमैनलिनेस)-का वाहक मानते थे। क्रिकेट को स्कूलों में शारीरिक शिक्षा के वृहत्तर कार्यक्रम के तहत लगाया गया कि लड़के आदर्श नागरिक बन सकें। लड़कियों को लड़कों का खेल खेलने की इजाज़त नहीं थी। अंग्रेज़ों के साथ चलकर क्रिकेट उपनिवेशों में पहुँचा। औपनिवेशिक मालिकों ने सोचा कि खेल को इसके वाजिब अंदाज़, इसकी असली भावना के साथ सिर्फ़ वही खेल सकते हैं। लिहाज़ा जब उपनिवेश के गुलाम लोग क्रिकेट खेलने लगे और अकसर उनसे बेहतर खेलने लगे; इतना ही नहीं कई बार उन्हें हराने में भी सफल रहे, तो उन्हें गंभीर चिंता होने लगी। इस तरह क्रिकेट का खेल उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद की राजनीति से जुड़ गया।

उपनिवेशों के अंदर खेल का अपना इतिहास भी पेचीदा रहा। जैसा कि आप अध्याय 7 में देखेंगे, क्रिकेट जाति, क्षेत्र, समुदाय व राष्ट्र की राजनीति से जुड़ गया। राष्ट्रीय खेल के रूप में क्रिकेट का उभरना कई दशकों के ऐतिहासिक विकास का परिणाम था।

क्रिकेट के बाद हम पहनावे की ओर बढ़ेंगे (अध्याय 8)। आप देखेंगे कि पहनावे के इतिहास से हमें विभिन्न समाजों के इतिहास के बारे कितना कुछ पता चलता है। लोग जो कपड़े पहनते हैं, उन पर समाज की रीति-नीतियों की छाप होती है। उनसे हमें सुंदरता, मर्यादा व उचित-अनुचित आचार-व्यवहार के उनके ख़यालात का पता चलता है। समाज के बदलने से ये रीतियाँ-नीतियाँ भी बदलती हैं। लेकिन समाज के रस्मों-रिवाज और पहनावे-ओढ़ावे में बदलाव के पीछे लंबी जद्दोजहद होती है। इनका एक इतिहास होता है, ये स्वाभाविक तौर पर, यूँ ही बस, हो नहीं जाते।

अध्याय 8 इसी इतिहास से आपका परिचय कराएगा। आप पढ़ेंगे कि इंग्लैंड व भारत में पहनावे में हुए बदलाव किस तरह इन देशों में चल रहे सामाजिक आंदोलनों और आर्थिक परिवर्तनों से प्रभावित हुए। आप एक बार फिर देखेंगे कि पहनावा भी उपनिवेशवादी व राष्ट्रवादी, जाति और वर्ग की राजनीति से किस गहराई से जुड़ा है। पहनावे के इतिहास पर थोड़ा गौर करें तो स्वदेशी की राजनीति व चरखे के प्रतीक में हमें नए अर्थ खुलते दिखेंगे। शायद इससे हमें महात्मा गांधी को भी बेहतर समझने का मौका मिले क्योंकि वह अकेले ऐसे इंसान थे, जो न सिर्फ कपड़ों की राजनीति के प्रति निहायत सजग थे, बल्कि उन्होंने इस पर जमकर लिखा भी।

अगर आप इन दो-एक चीज़ों के इतिहास को समझने लगें तो शायद अपनी ज़िंदगी के ऐसे पहलुओं का इतिहास खुद टटोलने लगेंगे जिन्हें अब तक आपने साधारण मानकर अनदेखा कर दिया था।

इतिहास और खेल : क्रिकेट की कहानी

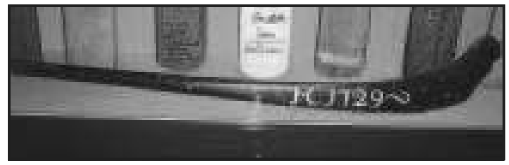

चित्र 1 – आज मौजूद सबसे पुराना बल्ला.
इसके मुड़े हुए सिरे को देखें जो हॉकी स्टिक जैसा लगता है।

क्रिकेट इंग्लैंड में 500 साल पहले अलग-अलग नियमों के तहत खेले जा रहे गेंद-डंडे के खेलों से पैदा हुआ। 'बैट' अंग्रेज़ी का एक पुराना शब्द है, जिसका सीधा अर्थ है 'डंडा' या 'कुंदा'। सत्रहवीं सदी में एक खेल के रूप में क्रिकेट की आम पहचान बन चुकी थी और यह इतना लोकप्रिय हो चुका था कि रविवार को चर्च न जाकर मैच खेलने के लिए इसके दीवानों पर जुर्माना लगाया जाता था। अठारहवीं सदी के मध्य तक बल्ले की बनावट हॉकी-स्टिक की तरह नीचे से मुड़ी होती थी। इसकी सीधी-सी वजह ये थी कि बॉल लुढ़का कर, अंडरआर्म, फेंकी जाती थी और बैट के निचले सिरे का घुमाव बल्लेबाज़ को गेंद से संपर्क साधने में मदद करता था।

इंग्लैंड के गाँवों से उठकर यह खेल कैसे और कब बड़े शहरों के विशाल स्टेडियम में खेला जानेवाला आधुनिक खेल बन गया, यह इतिहास का एक दिलचस्प विषय है, क्योंकि इतिहास का एक इस्तेमाल तो यही है कि वह हमें वर्तमान के बनने की कहानी बताए। खेल हमारी मौजूदा ज़िंदगी का एक अहम हिस्सा है-इसके ज़रिए हम अपना मनोरंजन करते हैं, एक दूसरे से होड़ लेते हैं, खुद को फ़िट रखते हैं और अपनी सामाजिक तरफ़दारी भी व्यक्त करते हैं। अगर आज के दिन लाखों-करोड़ों हिन्दुस्तानी सब-कुछ छोड़-छाड़कर भारतीय टीम को टेस्ट या एकदिवसीय मैच खेलते देखने में जुट जाते हैं तो यह जानना ज़रूरी लगता है कि दक्षिण-पूर्व इंग्लैंड में खोजा गया यह गेंद-डंडे का खेल आखिर भारतीय उपमहाद्वीप का जुनून कैसे बन गया। इस खेल की कहानी इसलिए भी दिलचस्प है क्योंकि एक ओर जहाँ उपनिवेशवाद व राष्ट्रवाद की बड़ी कहानी इससे जुड़ी है तो दूसरी ओर धर्म व जाति की राजनीति ने भी एक हद तक इसका स्वरूप गढ़ा।

क्रिकेट के इस इतिहास में पहले हम इंग्लैंड में इसके विकास को देखेंगे और उस समय प्रचलित शारीरिक चुस्ती व प्रशिक्षण की संस्कृति का भी जायज़ा लेंगे। तब हम भारत का रुख़ करते हुए क्रिकेट को यहाँ अपनाये जाने से लेकर इसमें हुए आधुनिक बदलावों तक की चर्चा करेंगे। हरेक खंड में हम देखेंगे कि खेल का इतिहास किस तरह सामाजिक इतिहास से नथा-गुँथा है।

चित्र 2 – लॉर्ड्स, इंग्लैंड क्रिकेट मैदान का एक चित्रकार द्वारा बनाया गया चित्र, 1821.

1 इंग्लैंड में खेल के रूप में क्रिकेट का ऐतिहासिक विकास

अठारहवीं व उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास ने क्रिकेट को इसका अनोखा स्वरूप प्रदान किया, क्योंकि यह क्रिकेट का शुरुआती दौर था। मिसाल के तौर पर यह सिर्फ़ टेस्ट क्रिकेट का ही अजूबा है कि खेल पाँच दिन तक लगातार चले और कोई नतीजा न निकले। किसी भी अन्य आधुनिक खेल के खत्म होने में इससे आधा वक्त भी नहीं लगता। फुटबॉल मैच करीब डेढ़ घंटे चलता है। गेंद व बल्ले से खेले जाने वाले बेसबॉल जैसे आधुनिक ज़माने के लिहाज़ से अपेक्षाकृत लंबे खेल में भी उतने समय में नौ पारियाँ हो जाती हैं जितने में क्रिकेट के लघु संस्करण, यानी एकदिवसीय मैच, की एक पारी हो पाती है।

क्रिकेट की एक और दिलचस्प ख़ासियत यह है कि पिच की लंबाई तो तय- 22 गज़-होती है पर मैदान का आकार-प्रकार एक-सा नहीं होता। हॉकी, फुटबॉल जैसे दूसरे टीम-खेलों में मैदान के आयाम तय होते हैं, क्रिकेट में नहीं। ऐडीलेड ओवल की तरह मैदान अंडाकार हो सकता है, तो चेन्नई के चेपॉक की तरह लगभग गोल भी। मेलबर्न क्रिकेट ग्राउंड में छक्का होने के लिए गेंद को काफ़ी दूरी तय करनी पड़ती है, जबकि दिल्ली के फ़िरोज़शाह कोटला में थोड़े प्रयास में ही गेंद सीमा-रेखा के पार जाकर गिरती है।

इन दोनों अजूबों के पीछे ऐतिहासिक कारण हैं। क़ायदा-क़ानून से बँधने वाले खेलों में क्रिकेट का नंबर अव्वल था, यानी, सॉकर व हॉकी जैसे बाक़ी खेलों के मुक़ाबले में क्रिकेट ने सबसे पहले अपने लिए नियम बनाए और वर्दियाँ भी अपनाईं। 'क्रिकेट के क़ानून' पहले-पहल 1744 ई. में लिखे गए। उनके मुताबिक, ''हाज़िर शरीफ़ों में से दोनों प्रिंसिपल (कप्तान) दो अंपायर चुनेंगे, जिन्हें किसी भी विवाद को निपटाने का अंतिम अधिकार होगा। स्टंप 22 इंच ऊँचे होंगे, उनके बीच की गिल्लियाँ 6 इंच की। गेंद का वज़न 5 से 6 औंस के बीच होगा और स्टंप के बीच की दूरी 22 गज़ होगी''। बल्ले के रूप व आकार पर कोई पाबंदी नहीं थी।

ऐसा लगता है कि 40 *नॉच* या रन का स्कोर काफ़ी बड़ा होता था, शायद इसलिए कि गेंदबाज़ तेज़ी से बल्लेबाज़ के नंगे, पैडरहित पिंडलियों पर गेंद फेंकते थे। दुनिया का पहला क्रिकेट क्लब हैम्बल्डन में 1760 के दशक में बना और मेरिलिबॉन क्रिकेट क्लब (एमसीसी) की स्थापना 1787 में हुई। इसके अगले साल ही एमसीसी ने क्रिकेट के

चित्र 3 - मेरिलिबॉन क्रिकेट क्लब (एमसीसी) का पैविलियन, 1874.

नियमों में सुधार किए और उनका अभिभावक बन बैठा। एमसीसी के सुधारों से खेल के रंग-ढंग में ढेर सारे परिवर्तन हुए, जिन्हें 18वीं सदी के दूसरे हिस्से में लागू किया गया।

1760 व 1770 के दशक में ज़मीन पर लुढ़काने की जगह गेंद को हवा में लहराकर आगे पटकने का चलन हो गया था। इससे गेंदबाज़ों को गेंद की लंबाई का विकल्प तो मिला ही, वे अब हवा में चकमा भी दे सकते थे और पहले से कहीं तेज़ गेंदें फेंक सकते थे। इससे स्पिन और स्विंग के लिए नए दरवाज़े खुले। जवाब में बल्लेबाज़ों को अपनी टाइमिंग व शॉट चयन पर महारत हासिल करनी थी। एक नतीजा तो फ़ौरन यह हुआ कि मुड़े हुए बल्ले की जगह सीधे बल्ले ने ले ली। इन सबकी वजह से हुनर व तकनीक महत्वपूर्ण हो गए, जबकि ऊबड़-खाबड़ मैदान या शुद्ध ताकत की भूमिका कम हो गई।

गेंद का वज़न अब साढ़े पाँच से पौने छ: औंस तक हो गया और बल्ले की चौड़ाई चार इंच कर दी गई। यह तब हुआ जब एक बल्लेबाज़ ने अपनी पूरी पारी विकेट जितने चौड़े बल्ले से खेल डाली! पहला लेग बिफ़ोर विकेट (पगबाधा) नियम 1774 में प्रकाशित हुआ। लगभग उसी समय तीसरे स्टंप का चलन भी हुआ। 1780 तक बड़े मैचों की अवधि तीन दिन की हो गई थी और इसी साल छ: सीवन वाली क्रिकेट बॉल भी अस्तित्व में आई।

उन्नीसवीं सदी में ढेर सारे बदलाव हुए। वाइड बॉल का नियम लागू हुआ, गेंद का सटीक व्यास तय किया गया, चोट से बचाने के लिए पैड व दस्ताने जैसे हिफ़ाज़ती उपकरण उपलब्ध हुए, बाउंड्री की शुरुआत हुई, जबकि पहले हरेक रन दौड़ कर लेना पड़ता था, और सबसे अहम बात, ओवरआर्म बोलिंग कानूनी ठहरायी गई। पर अठारहवीं सदी में क्रिकेट पूर्व-औद्योगिक खेल रहा, जिसे परिपक्व होने के लिए औद्योगिक क्रांति, यानी 19वीं सदी के दूसरे हिस्से का इंतज़ार करना पड़ा। अपने इस ख़ास इतिहास के चलते क्रिकेट में भूत-वर्तमान दोनों की विशेषताएँ शामिल हैं।

क्रिकेट की ग्रामीण जड़ों की पुष्टि टेस्ट मैच की अवधि से भी हो जाती है। शुरू में क्रिकेट मैच की समय-सीमा नहीं होती थी। खेल तब तक चलता था जब तक एक टीम दूसरी को दोबारा पूरा आउट न कर दे। ग्रामीण ज़िंदगी की रफ़्तार धीमी थी और क्रिकेट के नियम औद्योगिक क्रांति से पहले बनाए गए थे। आधुनिक फ़ैक्ट्री का मतलब था कि लोगों को घंटे, दिहाड़ी या हफ़्ते के हिसाब से काम के पैसे मिलते थे: फुटबॉल या हॉकी जैसे खेलों की **संहिताएँ** औद्योगिक क्रांति के बाद बनीं, लिहाज़ा उनकी कठोर समय-सीमाएँ औद्योगिक शहरी ज़िंदगी के रूटीन को ध्यान में रखकर बनाई गईं।

उसी तरह क्रिकेट में मैदान के आकार का अस्पष्ट होना उसकी ग्रामीण शुरुआत का सबूत है। क्रिकेट मूलत: गाँव के *कॉमन्स* में खेला जाता था। कॉमन्स ऐसे सार्वजनिक और खुले मैदान थे जिनपर पूरे समुदाय का साझा हक़ होता था। कॉमन्स का आकार हरेक गाँव में अलग-अलग होता था, इसलिए न तो बाउंड्री तय थी और न ही चौके। जब गेंद भीड़ में घुस जाती

चित्र 4 – एमसीसी द्वारा निर्धारित और संशोधित होने वाले क्रिकेट के नियमों को इस रूप में नियमित रूप से प्रकाशित किया जाता था। बल्लेबाज़ी के नियमों को भी औपचारिक रूप से तय किया जाता था.

नए शब्द

संहिता : स्पष्ट रूप से निर्धारित नियमों और कानूनों को औपचारिक रूप में सूत्रबद्ध कर देना।

तो लोग क्षेत्ररक्षक या फ़ील्डर के लिए रास्ता बना देते थे, ताकि वह आकर गेंद वापस ले जाए। जब सीमा-रेखा क्रिकेट की नियमावली का हिस्सा बनी तब भी, विकेट से उसकी दूरी तय नहीं की गई। नियम सिर्फ़ यह कहता है कि 'अंपायर दोनों कप्तानों से सलाह कर के खेल के इलाके की सीमा तय करेगा।'

खेल के औज़ारों को देखें तो पता चलता है कि वक्त के साथ बदलने के बावजूद क्रिकेट अपनी ग्रामीण इंग्लैंड की जड़ों के प्रति वफ़ादार रहा। क्रिकेट के सबसे ज़रूरी उपकरण प्रकृति में उपलब्ध पूर्व-औद्योगिक सामग्री से बनते हैं। बल्ला, स्टंप व गिल्लियाँ लकड़ी से बनती हैं, जबकि गेंद चमड़े, सुतली (ट्वाइन) और काग (कॉर्क) से। आज भी बल्ला और गेंद हाथ से ही बनते हैं, मशीन से नहीं। बल्ले की सामग्री अलबत्ता वक्त के साथ बदली। किसी ज़माने में इसे लकड़ी के एक साबुत टुकड़े से बनाया जाता था। लेकिन अब इसके दो हिस्से होते हैं - ब्लेड या फट्टा जो *विलो* (बैद) नामक पेड़ से बनता है और हत्था जो बेंत से बनता है। बेंत तब जाकर उपलब्ध हुई जब यूरोपीय उपनिवेशकारों व कंपनियों ने खुद को एशिया में जमाया। गोल्फ़ और टेनिस के विपरीत, क्रिकेट ने प्लास्टिक, फ़ायबर-शीशा या धातु-जैसी औद्योगिक या कृत्रिम सामग्री के इस्तेमाल को सिरे से नकारा है। जब ऑस्ट्रेलियाई क्रिकेटर डेनिस लिली ने एल्युमीनियम के बल्ले से खेलने की कोशिश की तो अंपायरों ने उसे अवैध करार दिया।

दूसरी ओर हिफ़ाज़ती साज़-सामान पर तकनीकी बदलाव का सीधा असर पड़ा है। वल्केनाइज़्ड रबड़ की खोज के बाद पैड पहनने का रिवाज 1848 में चला, जल्द ही दस्ताने भी बने और धातु, सिन्थेटिक व हल्की सामग्री से बने हेल्मेट के बिना तो आधुनिक क्रिकेट की कल्पना ही असंभव है।

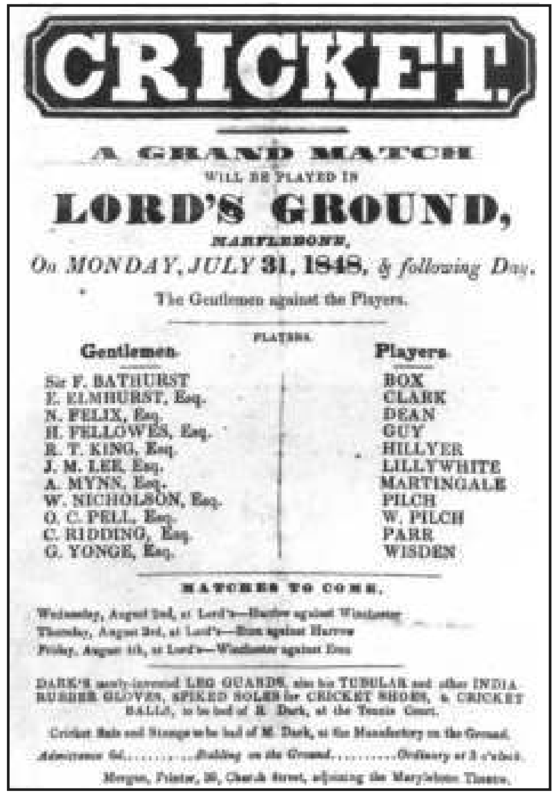

चित्र 5 - इस पोस्टर में लॉर्ड्स में 1848 में होने वाले एक मैच का ऐलान किया जा रहा है.
पोस्टर में शौकिया और पेशेवर खिलाड़ियों को 'जेंटलमेन' और 'प्लेयर्स' कह कर संबोधित किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाले मैचों के विज्ञापन रंगमंच के पोस्टरों जैसे लगते थे और उनसे इस खेल के नाटकीय स्वरूप का पता चलता है।

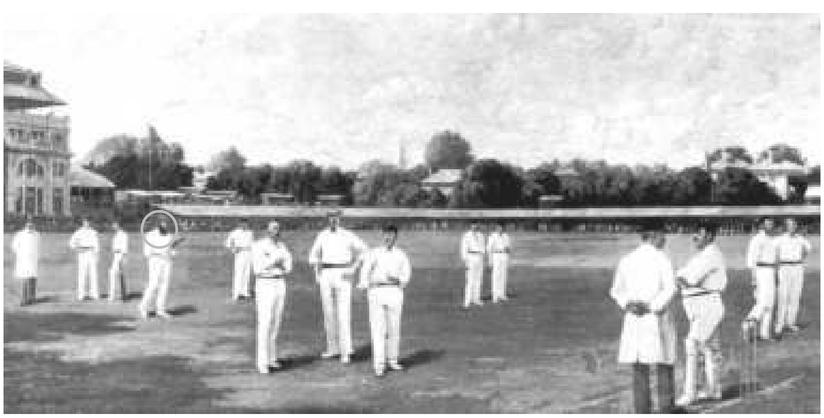

चित्र 6 - महान बल्लेबाज़ डब्ल्यू. जी. ग्रेस बल्लेबाज़ी के लिए आते हुए, लॉर्ड्स, 1895.
वह प्लेयर्स के खिला.फ जेंटलमेन के लिए खेलते थे।

1.1 क्रिकेट और विक्टोरियाई इंग्लैंड

इंग्लैंड में क्रिकेट के आयोजन पर अंग्रेज़ी समाज की छाप साफ़ है। अमीरों को, जो मज़े के लिए क्रिकेट खेलते थे, 'शौकिया' खिलाड़ी कहा गया और अपनी रोज़ी-रोटी के लिए खेलनेवाले गरीबों को 'पेशेवर' (प्रोफ़ेशनल) कहा गया। अमीर शौक़िया दो कारणों से थे: एक, यह खेल उनके लिए एक तरह का मनोरंजन था - खेलने के आनंद के लिए न कि पैसे के लिए खेलना नवाबी ठाठ की निशानी था। दूसरे, खेल में अमीरों को लुभा सकने लायक पैसा भी नहीं था। पेशेवर खिलाड़ियों का मेहनताना वज़ीफ़ा, **चंदे**, या गेट पर इकट्ठा किए गए पैसे से दिया जाता था। मौसमी होने के कारण खेल से साल भर का रोज़गार तो नहीं मिल सकता था। जाड़े के महीनों, यानी ऑफ़-सीज़न में, ज़्यादातर पेशेवर खिलाड़ी खदानों में काम करते थे या कहीं और मज़दूरी करते थे।

शौकीनों की सामाजिक श्रेष्ठता क्रिकेट की परंपरा का हिस्सा बन गई। शौक़ीनों को जहाँ 'जेंट्लमेन' की उपाधि दी गई तो पेशेवरों को 'खिलाड़ी' ('प्लेयर्स') का अदना-सा नाम मिला। मैदान में घुसने के उनके प्रवेश-द्वार भी अलग-अलग थे। शौकीन जहाँ बल्लेबाज़ हुआ करते वहीं खेल में असली मशक्कत और ऊर्जा वाले काम, जैसे तेज़ गेंदबाज़ी, खिलाड़ियों के

नए शब्द

चंदा : किसी खास उद्देश्य (जैसे क्रिकेट) के लिए इकट्ठा की जाने वाली राशि या मदद।

स्रोत क

टॉमस ह्यूज़ (1822-1896) ने उस समय रग्बी स्कूल में पढ़ाई की थी जिस समय थॉमस आर्नल्ड वहाँ के प्रधानाचार्य थे। अपने स्कूली अनुभवों के आधार पर उन्होंने एक उपन्यास लिखा जिसका शीर्षक था – *टॉम ब्राउन्स स्कूलडेज़।* 1857 में छपी यह किताब काफ़ी लोकप्रिय हुई और उससे बाहुबली ईसाइयत (मस्क्युलर क्रिश्चिऐनिटी) के प्रसार में मदद मिली। ईसाई धर्म की इस धारा का मानना था कि स्वस्थ नागरिकों को ईसाई आदर्शों और खेलों के ज़रिए ढाला जाना चाहिए।

इस पुस्तक में टॉम ब्राउन, घर की याद में खोए रहने वाले और मुर्झाए से लड़के की जगह एक कद्दावर, मर्दाना विद्यार्थी बन जाता है। उसे नायकों जैसी ख्याति मिलती है और शारीरिक साहस, खिलाड़ीपन, वफ़ादारी और देशभक्ति की भावना के लिए सब उसकी चर्चा करते हैं। यह रूपांतरण उस पब्लिक स्कूल के अनुशासन और खेल संस्कृति से पैदा होता है।

इसी उपन्यास के अंश

'चलो, ब्राउन, अब अपने व्यंग्य-बाण मत मारो', मास्टर ने कहा। 'मैंने इस खेल को वैज्ञानिक ढंग से समझना शुरू कर दिया है और क्या शालीन खेल है यह!'

'है कि नहीं? लेकिन यह सिर्फ़ खेल नहीं है', टॉम ने कहा।

'बिलकुल', आर्थर ने कहा, 'ब्रिटिश जवानों से लेकर बूढ़ों का जन्मसिद्ध अधिकार जैसे कि बंदी प्रत्यक्षीकरण और प्रक्रिया-सम्मत न्याय हर ब्रिटिश का हक़ है।'

'इससे हमें अनुशासन और पारस्परिक निर्भरता की जो सीख मिलती है, वह अनमोल है', मास्टर ने कहना जारी रखा, 'मुझे लगता है कि इस खेल को इतना ही निःस्वार्थी होना चाहिए। यहाँ व्यक्ति एकादश में मिल जाता है; वह इसलिए नहीं खेलता कि वह जीते, बल्कि उसकी टीम जीते।'

'यह बिलकुल सही है', टॉम ने कहा, 'और इसीलिए फ़ुटबाल और क्रिकेट पुराने पारंपरिक खेलों के मुक़ाबले ज़्यादा लोकप्रिय हैं। क्योंकि बाकी खेलों में इंसान अपनी जीत के लिए खेलता है न कि अपने पक्ष की जीत के लिए।'

'फिर एकादश के कप्तान के क्या कहने!' मास्टर ने कहा, 'हमारी स्कूली दुनिया में कैसी गरिमा है इस पद की!... इसके लिए हुनर भी चाहिए, भद्रता और सख़्ती भी, और न जाने कितने सारे और गुण।'

टॉमस ह्यूज़, *टॉम ब्राउन्स स्कूलडेज़* से उद्धृत।

हिस्से आते थे। क्रिकेट में संदेह का लाभ (बेनेफ़िट ऑफ़ डाउट) हमेशा बल्लेबाज़ को क्यों मिलता है, उसकी एक वजह यह भी है। क्रिकेट बल्लेबाज़ों का ही खेल इसीलिए बना क्योंकि नियम बनाते समय बल्लेबाज़ी करनेवाले 'जेंटलमेन' को तरजीह दी गई। शौक़िया खिलाड़ियों की सामाजिक श्रेष्ठता का ही नतीजा था कि टीम का कप्तान पारंपरिक तौर पर बल्लेबाज़ ही होता था: इसलिए नहीं कि बल्लेबाज़ कुदरती तौर पर बेहतर कप्तान होते थे, बल्कि इसलिए कि बल्लेबाज़ तो आम तौर पर 'जेंटलमेन' ही होते थे। चाहे क्लब की टीम हो या राष्ट्रीय टीम, कप्तान तो शौक़िया खिलाड़ी ही होता था। 1930 के दशक में जाकर पहली बार अंग्रेज़ी टीम की कप्तानी किसी पेशेवर खिलाड़ी–यॉर्कशायर के बल्लेबाज़ लेन हटन–ने की।

अकसर कहा जाता है कि 'वाटरलू का युद्ध ईटन के खेल के मैदान में जीता गया'। इसका अर्थ यह है कि ब्रिटेन की सैनिक सफलता का राज़ उसके पब्लिक स्कूल के बच्चों को सिखाए गए मूल्यों में था। अंग्रेज़ी आवासीय विद्यालय में अंग्रेज़ लड़कों को शाही इंग्लैंड के तीन अहम संस्थानों–सेना, प्रशासनिक सेवा व चर्च में करियर के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक टॉमस आर्नल्ड–जो मशहूर रग्बी स्कूल के हेडमास्टर होने के साथ-साथ आधुनिक पब्लिक स्कूल प्रणाली के प्रणेता थे–रग्बी व क्रिकेट जैसे खेलों को महज़ मैदानी खेल नहीं मानते थे बल्कि अंग्रेज़ लड़कों को अनुशासन, ऊँच-नीच का बोध, हुनर, स्वाभिमान की रीति-नीति और नेतृत्व क्षमता सिखाने का ज़रिया मानते थे। इन्हीं गुणों पर तो ब्रितानी साम्राज्य को बनाने और चलाने का दारोमदार था। विक्टोरियाई साम्राज्य-निर्माता दूसरे देशों को जीतना निःस्वार्थ समाज सेवा मानते थे, क्योंकि उनसे हारने के बाद ही तो पिछड़े समाज ब्रितानी कानून व पश्चिमी ज्ञान के संपर्क में आकर सभ्यता का सबक सीख सकते थे। क्रिकेट ने अभिजात अंग्रेज़ों की इस आत्मछवि को पुष्ट करने में मदद की–ऐसा शौकिया खेल को बतौर आदर्श पेश करके हुआ, यानी खेल जहाँ फ़ायदे या जीत के लिए न होकर सिर्फ़ खेलने और स्पिरिट ऑफ़ फ़ेयरप्ले (न्यायोचित खेल भावना) के लिए खेला जाता था।

सच्ची बात तो यह है कि नेपोलियन के खिलाफ़ लड़ाई इसलिए जीती जा सकी कि स्कॉटलैंड व वेल्स के लौह उद्योग, लंकाशायर की मिलों व सिटी ऑफ़ लंदन के वित्तीय घरानों से भरपूर सहयोग मिला। इंग्लैंड के व्यापार व उद्योग में आगे होने के चलते ब्रिटेन विश्व की सबसे बड़ी ताकत बन गया था, लेकिन अंग्रेज़ी शासक-वर्ग को यही खयाल अच्छा लगता था कि दुनिया में उनकी श्रेष्ठता के पीछे आवासीय विद्यालयों में पढ़कर तैयार हुए और शरीफ़ों का खेल-क्रिकेट-खेलनेवाले युवावर्ग का चरित्र ही है।

चित्र 7 – लॉर्ड्स पर ईटन और हैरो नामक मशहूर पब्लिक स्कूलों के बीच क्रिकेट का मैच.

यह खेल तो सब जगह एक जैसा लगता है लेकिन उसको देखने के लिए जुटने वाली भीड़ एक जैसी नहीं होती। बाऊलर टोपियाँ पहने पुरुष और धूप से बचने के लिए पैरासोल पहने मैच देखने आयी औरतों के चित्रण से इस खेल का उच्चवर्गीय सामाजिक चरित्र साफ़ दिखाई देता है। इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 20 जुलाई 1872 से।

चित्र 8 – औरतों के लिए क्रिकेट नहीं बल्कि क्रोकेट.
औरतों के लिए कठिन और प्रतिस्पर्धी खेल अच्छा नहीं माना जाता था। क्रोकेट एक धीमी गति वाला सौम्य खेल था जिसे औरतों के लिए, खासतौर से उच्चवर्गीय औरतों के लिए अच्छा माना जाता था। खिलाड़िनों के लंबे गाउन, झालरों और टोपियों से उनके खेलों के स्वरूप की झलक मिलती है। इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 20 जुलाई 1872 से।

स्रोत ख

उन्नीसवीं सदी के आखिरी सालों तक खेल–कूद और व्यायाम लड़कियों की शिक्षा का हिस्सा नहीं था। 1858 से 1906 तक चेलटेनहेम लेडीज़ कॉलेज की प्रधानाचार्या रही डोरोथी बीएले ने स्कूल के जाँच आयोग को बताया था :

'लड़कों को क्रिकेट आदि खेलों से जो शारीरिक व्यायाम मिलता है उसके स्थान पर लड़कियों के लिए पैदल चाल और ... कूदने आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए।'

कैथलीन, ई. मैक्क्रॉने, *'प्ले अप! प्ले अप! ऐण्ड प्ले द गेम : स्पोर्ट ऐंट द लेट विक्टोरियन गर्ल्स पब्लिक स्कूल'* से उद्धृत।

1890 के दशक तक पहुँचते–पहुँचते स्कूल को खेल के मैदान आदि मिलने लगे और लड़कियों को भी उन खेलों में हाथ आज़माने का मौका मिलने लगा जिन्हें अब तक केवल लड़कों का खेल माना जाता था। लेकिन लड़कियों से प्रतिस्पर्धात्मक खेल की उम्मीद अब भी नहीं की जाती थी। डोरोथी बीएले ने 1893–1894 में स्कूल परिषद् को बताया :

'मैं मानती हूँ कि लड़कियों को अपने शरीर पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर नहीं डालना चाहिए और न ही उन्हें ऐथलेटिक प्रतिद्वंद्विता में डूब जाना चाहिए। इसीलिए, हम दूसरे स्कूलों के विरुद्ध नहीं खेलते। मेरे खयाल में लड़कियों को ऊबड़–खाबड़ मैदानों में खुद को थकाने के बजाय वनस्पति शास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि में ही दिलचस्पी लेनी चाहिए।'

कैथलीन, ई. मैक्क्रॉने, *'प्ले अप! प्ले अप! ऐण्ड प्ले द गेम'* से उद्धृत।

क्रियाकलाप

उन्नीसवीं सदी के स्कूली पाठ्यक्रम के आधार पर उस समय लड़कियों के लिए कैसा आचरण सही माना जाता था?

2 क्रिकेट का प्रसार

हॉकी व फुटबॉल जैसे टीम-खेल तो अंतर्राष्ट्रीय बन गए, पर क्रिकेट औपनिवेशिक खेल ही बना रहा, यानी यह उन्हीं देशों तक सीमित रहा जो कभी ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे। क्रिकेट की पूर्व-औद्योगिक विचित्रता के कारण इसका निर्यात होना मुश्किल था। इसने उन्हीं देशों में जड़ें जमायीं जहाँ अंग्रेज़ों ने कब्ज़ा जमाकर शासन किया। इन उपनिवेशों (जैसे कि दक्षिण अफ़्रीका, ज़िम्बाब्वे, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, वेस्ट इंडीज़ और कीनिया) में क्रिकेट इसलिए लोकप्रिय खेल बन पाया क्योंकि गोरे बाशिंदों ने इसे अपनाया या फिर जहाँ स्थानीय अभिजात वर्ग ने अपने औपनिवेशिक मालिकों की आदतों की नकल करने की कोशिश की, जैसे कि भारत में।

हालाँकि ब्रिटिश शाही अफ़सर उपनिवेशों में यह खेल लेकर ज़रूर आए पर इसके प्रसार के लिए, खास तौर पर वेस्ट इंडीज़ व हिंदुस्तान जैसे ग़ैर-गोरे उपनिवेशों में, उन्होंने शायद ही कोई प्रयास किया। क्रिकेट खेलना यहाँ सामाजिक व नस्ली श्रेष्ठता का प्रतीक बन गया और अफ़्रीकी-कैरिबियाई आबादी को क्लब क्रिकेट खेलने से हमेशा हतोत्साहित किया गया। नतीजतन, इस पर गोरे बागान-मालिकों और उनके नौकरों का बोलबाला रहा। वेस्ट इंडीज़ में पहला गैर-गोरा क्लब उन्नीसवीं सदी के अंत में बना और यहाँ भी सदस्य हल्के रंगवाले **मुलैट्टो** समुदाय के थे। इस तरह काले रंग के लोग समुद्री बीचों पर, सुनसान गलियों और पार्कों में बड़ी संख्या में

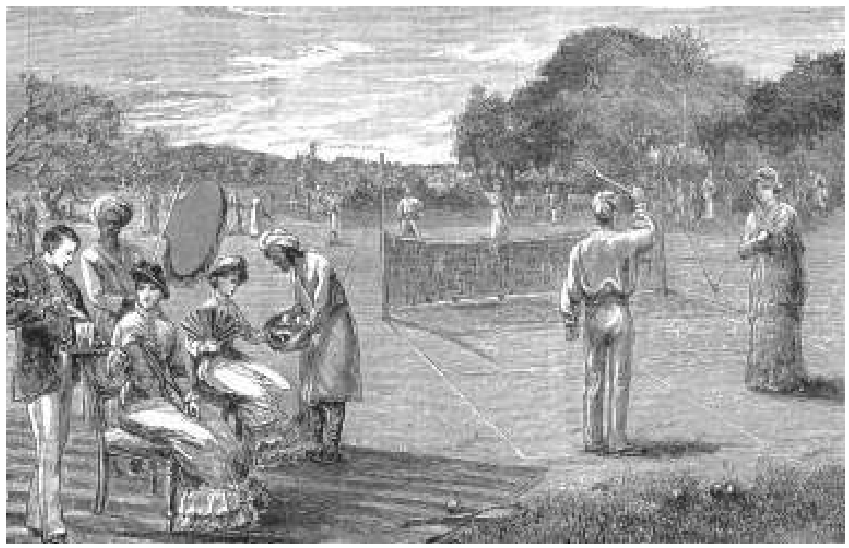

चित्र 9 – औपनिवेशिक भारत के मैदानों में दोपहर बाद टेनिस.
यहाँ चित्रकार ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि यह खेल मनोरंजन और व्यायाम, दोनों लिहाज़ से उपयोगी था। औरत-मर्द प्रतिस्पर्धा के लिए नहीं बल्कि मनोरंजन के लिए साथ-साथ खेल सकते थे। ग्राफ़िक, फरवरी 1880 से।

चित्र 10 – हिमालय की पृष्ठभूमि में मौज-मस्ती के लिए चल रहा खेल.
इस तस्वीर में पैविलियन के आसपास खड़े नौकरों के अलावा शायद और कोई भारतीय नहीं है।

नए शब्द

मुलैट्टो : मिश्रित यूरोपीय और अफ़्रीकी मूल के लोग।

क्रिकेट खेलते थे, लेकिन क्लब क्रिकेट पर 1930 के दशक तक गोरे अभिजनों का ही वर्चस्व रहा।

वेस्ट इंडीज़ में अभिजात गोरों की विशिष्टतावादी नीतियों के बावजूद कैरिबियाई द्वीप समूह में क्रिकेट महालोकप्रिय हो गया। क्रिकेट में कामयाबी का मतलब नस्ली समानता व राजनीतिक प्रगति हो गया। अपनी आज़ादी के समय, फ़ोर्ब्स बर्नहैम व एरिक विलियम्स जैसे नेताओं ने क्रिकेट में आत्मसम्मान और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की संभावनाएँ देखीं। जब वेस्ट इंडीज़ ने 1950 के दशक में इंग्लैंड के खिलाफ़ अपनी पहली टेस्ट शृंखला जीती तो राष्ट्रीय उत्सव मनाया गया, मानो वेस्ट इंडियनों ने दिखा दिया हो कि वे गोरे अंग्रेज़ों से कम नहीं हैं। इस महान जीत में दो विडंबनाएँ थीं। पहली, विजयी वेस्ट इंडीज़ की टीम का कप्तान एक गोरा ही था। याद रहे कि 1960 में पहली बार किसी अश्वेत– फ़्रैन्क वॉरेल – को नेतृत्व सँभालने का मौका मिला। दूसरी, वेस्ट इंडीज़ की टीम किसी एक देश की नहीं थी, बल्कि उसमें कई **डोमीनियनों** के खिलाड़ी शामिल थे और ये राज्य बाद में स्वतंत्र देश बने। मज़ेदार बात है कि कैरिबियाई क्षेत्र की नुमाइंदगी करनेवाली वेस्ट इंडियन टीम, वेस्ट इंडियन एकता के तमाम असफल प्रयासों का एकमात्र अपवाद है।

चित्र 11 – हिमालय के एक गाँव में लोग कामचलाऊ अंदाज़ में क्रिकेट खेल रहे हैं (1894).
चित्र 10 के विपरीत यहाँ खिलाड़ी हाथ की बनी विकेटों और बल्लों से ही खेल रहे हैं। उन्होंने लकड़ी के सामान्य टुकड़ों को ही काट-छाँट कर ये उपकरण बनाए हैं।

क्रिकेट के फ़ैन जानते हैं कि क्रिकेट देखने का मतलब ही है कि आप किसी न किसी ओर से हैं। रणजी ट्रॉफ़ी मैच में जब दिल्ली का मुंबई से मुक़ाबला हो तो दर्शक की वफ़ादारी इस पर निर्भर करती है कि वह किस शहर का है या वह किसका साथ दे रहा है। जब भारत बनाम पाकिस्तान हो तो भोपाल या चेन्नई में टेलीविज़न पर मैच देखते दर्शकों की भावनाएँ राष्ट्रीय निष्ठाओं से तय होती हैं। लेकिन भारतीय प्रथम श्रेणी क्रिकेट के शुरुआती इतिहास में टीमों को भौगोलिक आधारों पर नहीं बाँटा जाता था – बल्कि यह जानना दिलचस्प है कि 1932 के पहले किसी टीम को टेस्ट मैच में राष्ट्रीय नुमाइंदगी का अधिकार नहीं मिला था। तो टीमें बनती कैसे थीं और राष्ट्रीय और क्षेत्रीय टीमों के नहीं होने की स्थिति में फ़ैन अपनी तरफ़दारी कैसे तय करते थे? आइए देखें कि इतिहास के पास इन सवालों के क्या जवाब हैं–देखें कि भारत में क्रिकेट कैसे पनपा और कौन-सी वफ़ादारियाँ ब्रितानी राज के ज़माने में हिंदुस्तानियों को साथ ला रही थीं और कौन उन्हें बाँट रही थीं।

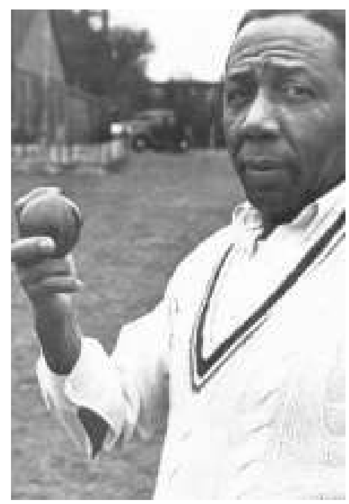

चित्र 12 – लैरी कॉन्स्टैंटाइन.
वेस्ट इंडीज़ के विश्व प्रसिद्ध खिलाड़ियों में से एक।

2.2 क्रिकेट, नस्ल और धर्म

औपनिवेशिक भारत में क्रिकेट नस्ल व धर्म के आधार पर संगठित था। भारत में क्रिकेट का पहला सबूत हमें 1721 से मिला है, जो अंग्रेज़ जहाज़ियों द्वारा कैम्बे में खेले गए मैच का ब्यौरा है। पहला भारतीय क्लब,

नए शब्द

डोमीनियन : ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत आने वाले स्वशासित क्षेत्र।

कलकत्ता क्लब, 1792 में बना। पूरी अठारहवीं सदी में क्रिकेट भारत में ब्रिटिश सैनिक व सिविल सर्वेंट्स द्वारा सिर्फ़-गोरे क्लबों व जिमखानों में खेला जानेवाला खेल रहा। इन क्लबों की निजी चहारदीवारियों के अंदर क्रिकेट खेलने में मज़ा तो था ही, यह अंग्रेज़ों के भारतीय प्रवास के खतरों व मुश्किलों से राहत व पलायन का सामान भी था। हिंदुस्तानियों में इस खेल के लिए ज़रूरी हुनर की कमी समझी जाती थी, न ही उनसे खेलने की उम्मीद की जाती थी। लेकिन वे खेले।

हिंदुस्तानी क्रिकेट-यानी हिंदुस्तानियों द्वारा क्रिकेट-की शुरुआत का श्रेय बम्बई के ज़रतुश्तियों यानी पारसियों के छोटे से समुदाय को जाता है। व्यापार के चलते सबसे पहले अंग्रेज़ों के संपर्क में आए और पश्चिमीकृत होनेवाले पहले भारतीय समुदाय के रूप में पारसियों ने 1848 में पहले क्रिकेट क्लब की स्थापना बम्बई में की, जिसका नाम था-ओरिएंटल क्रिकेट क्लब। पारसी क्लबों के प्रायोजक व वित्तपोषक थे टाटा व वाडिया जैसे पारसी व्यवसायी। क्रिकेट खेलने वाले गोरे प्रभुवर्ग ने उत्साही पारसियों की कोई मदद नहीं की। उल्टे, गोरों के बॉम्बे जिमखाना क्लब और पारसी क्रिकेटरों के बीच पार्क के इस्तेमाल को लेकर एक झगड़ा भी हुआ। पारसियों ने शिकायत की कि बॉम्बे जिमखाना के पोलो टीम के घोड़ों द्वारा रौंदे जाने के बाद मैदान क्रिकेट खेलने लायक नहीं रह गया। जब ये साफ़ हो गया कि औपनिवेशिक अधिकारी अपने देशवासियों का पक्ष ले रहे हैं, तो पारसियों ने क्रिकेट खेलने के लिए अपना खुद का जिमखाना बनाया। पर पारसियों व नस्लवादी बॉम्बे जिमखाना के बीच की इस स्पर्धा का अंत अच्छा हुआ-पारसियों की एक टीम ने बॉम्बे जिमखाना को 1889 में हरा दिया। यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के चार साल बाद हुआ, और दिलचस्प बात यह है कि इस संस्था के मूल नेताओं में से एक दादाभाई नौरोजी, जो अपने वक्त के महान राजनेता व बुद्धिजीवी थे, पारसी ही थे।

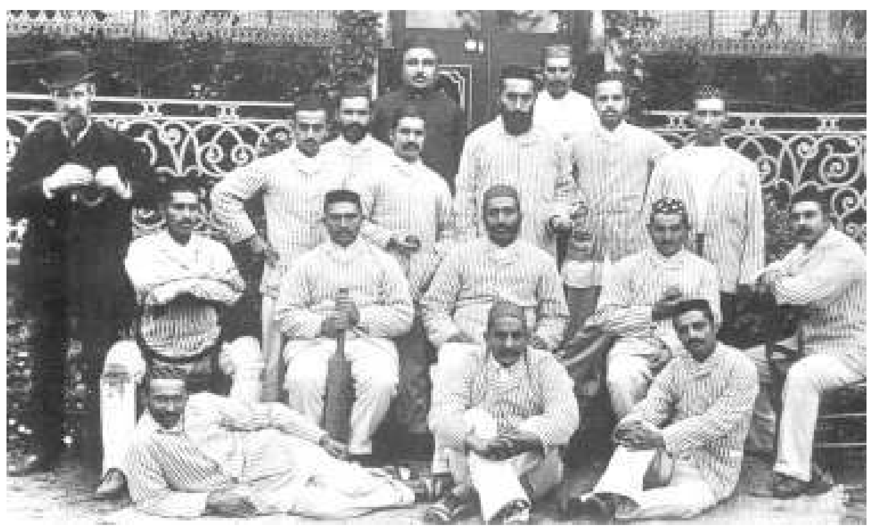

चित्र 13 – पारसी टीम, पहली भारतीय क्रिकेट टीम जिसने 1886 में इंग्लैंड का दौरा किया.
परंपरागत क्रिकेट पोशाक के साथ वे पारसी टोपी भी पहने हुए हैं।

पारसी जिमखाना क्लब की स्थापना ने जैसे एक नई परंपरा डाल दी, दूसरे भारतीयों ने भी धर्म के आधार पर क्लब बनाने चालू कर दिए। हिंदू व मुसलमान दोनों ही 1890 के दशक में हिंदू व इस्लाम जिमखाना के लिए पैसे इकट्ठे करते दिखाई दिए। ब्रिटिश औपनिवेशिक भारत को राष्ट्र नहीं मानते थे-उनके लिए तो यह जातियों, नस्लों व धर्मों के लोगों का एक समुच्चय था, जिन्हें उन्होंने उपमहाद्वीप के स्तर पर एकीकृत किया। 19वीं सदी के अंत में कई हिंदुस्तानी संस्थाएँ व आंदोलन जाति व धर्म के आधार पर ही बने क्योंकि औपनिवेशिक सरकार भी इन बँटवारों को बढ़ावा देती थी-सामुदायिक संस्थाओं को फ़ौरन मान्यता मिल जाती थी। मिसाल के तौर पर, इस्लाम जिमखाना द्वारा बम्बई के समुद्री

इलाके के पास वाली ज़मीन की अर्ज़ी पर विचार करते हुए बॉम्बे प्रेसिडेंसी के गवर्नर ने लिखा: '... हमें मानकर चलना चाहिए कि बहुत जल्द हमारे पास किसी हिंदू जिमखाना के लिए ऐसी ही अर्ज़ी आएगी... इन अर्ज़ियों को नामंज़ूर करने का कोई उपाय मेरे पास नहीं है, लेकिन मैं ... हर *राष्ट्रीयता* के जिमखाने की स्थापना के बाद... आगे के आवेदनों को स्वीकार नहीं करूँगा'। (ज़ोर हमारा)। इस पत्र से ज़ाहिर है कि औपनिवेशिक अफ़सर हरेक धार्मिक समुदाय को अलग राष्ट्रीयता मानते थे। यह भी साफ़ है कि धार्मिक प्रतिनिधित्व के नाम पर स्वीकृति की गुंजाइश ज़्यादा थी।

जिमखाना क्रिकेट के इतिहास ने प्रथम श्रेणी के क्रिकेट को सांप्रदायिक व नस्ली आधारों पर संगठित करने की रिवायत डाली। औपनिवेशिक हिंदुस्तान में सबसे मशहूर क्रिकेट टूर्नामेंट खेलनेवाली टीमें क्षेत्र के आधार पर नहीं बनती थीं, जैसा कि आजकल रणजी ट्रॉफी में होता है, बल्कि धार्मिक समुदायों की बनती थीं। इस टूर्नामेंट को शुरू-शुरू में क्वाड्रैंग्युलर या चतुष्कोणीय कहा गया, क्योंकि इसमें चार टीमें-यूरोपीय, पारसी, हिंदू व मुसलमान - खेलती थीं। बाद में यह पेंटांग्युलर या पाँचकोणीय हो गया–और द रेस्ट नाम की नई टीम में भारतीय ईसाई जैसे बचे-खुचे समुदायों को नुमाइंदगी दी गई। मिसाल के तौर पर विजय हज़ारे, जो ईसाई थे, द रेस्ट के लिए खेलते थे।

पत्रकारों, क्रिकेटरों व राजनेताओं ने 1930-40 के दशक तक इस पाँचकोणीय टूर्नामेंट की नस्लवादी व सांप्रदायिक बुनियाद पर सवाल उठाने शुरू कर दिए थे। *बॉम्बे क्रॉनिकल* नामक अखबार के मशहूर संपादक एस.ए. बरेलवी, रेडियो कमेंटेटर ए.एफ़.एस. तलयारखान और भारत के सबसे लोकप्रिय राजनेता महात्मा गांधी ने पेंटांग्युलर को समुदाय के आधार पर बाँटनेवाला बताकर इसकी निंदा की। उनका कहना था ऐसे समय में जब राष्ट्रवादी हिंदुस्तानी अवाम को एकजुट करना चाह रहे थे, इस टूर्नामेंट का क्या तुक था? इसके विपरीत क्षेत्र-आधारित नैशनल क्रिकेट चैंपियनशिप नामक एक नए टूर्नामेंट का आयोजन शुरू हुआ (जिसे बाद में रणजी ट्रॉफ़ी कहा गया), लेकिन पाँचकोणीय टूर्नामेंट की जगह लेने के लिए इसे आज़ादी का इंतज़ार करना पड़ा। पाँचकोणीय टूर्नामेंट की नींव में ब्रितानी सरकार की 'फूट डालो राज करो' की नीति थी। यह एक औपनिवेशिक टूर्नामेंट था, जो ब्रिटिश राज के साथ खत्म हो गया।

बॉक्स 1

जाति और क्रिकेट

पालवंकर बालू का जन्म 1875 में पूना में हुआ था। उस समय भारतीयों को टेस्ट क्रिकेट नहीं खेलने दिया जाता था। इसके बावजूद बालू धीमी गति की गेंदबाजी में अपने समय के बेहतरीन गेंदबाज थे। बालू औपनिवेशिक काल के सबसे बड़े भारतीय क्रिकेट मुकाबले क्वाड्रैंग्युलर में हिंदूज़ टीम की तरफ़ से खेलते थे। अपनी टीम का सबसे अच्छा खिलाड़ी होते हुए भी उन्हें कभी कप्तान नहीं बनाया गया क्योंकि वह दलित थे और सवर्ण चयनकर्ता उनके विरुद्ध पक्षपात करते थे। आगे चलकर 1923 में, उनके छोटे भाई विट्ठल को हिंदूज़ टीम की कप्तानी का मौका मिला और यूरोपीय खिलाड़ियों के खिलाफ़ कई सफलताओं में उन्होंने अपनी टीम का नेतृत्व किया। एक अखबार के नाम भेजे गए पत्र में क्रिकेट के एक प्रशंसक ने हिंदूज़ टीम की जीत और 'अस्पृश्यता' के विरुद्ध गांधीजी द्वारा चलाए जा रहे अभियान को एक-दूसरे से जोड़ते हुए लिखा था :

'हिंदूज़ की शानदार विजय का श्रेय मुख्य रूप से इस बात को जाता है कि हिंदू जिमखाना के कर्ताधर्ताओं ने देश के बेहतरीन गेंदबाज़ श्री बालू के भाई श्री विट्ठल को हिंदूज़ टीम का कप्तान नियुक्त किया है जो कि अछूत वर्ग से आते हैं। हिंदूज़ की जीत से यही सबक निकलता है कि छुआछूत के खात्मे से ही स्वराज का रास्ता खुलेगा–जो महात्मा जी की भी भविष्यवाणी है।'

रामचंद्र गुहा, *ए कॉर्नर ऑफ ए फ़ॉरेन फ़ील्ड*।

चित्र 14 - पालवंकर बालू (1904).
अभूतपूर्व खेल योग्यता के धनी बालू को टीम से बाहर तो नहीं रखा जा सकता था लेकिन दलित जाति से होने के कारण उन्हें कभी टीम का कप्तान नहीं बनाया गया।

3 खेल के आधुनिक बदलाव

आधुनिक क्रिकेट में टेस्ट और एकदिवसीय इंटरनैशनल का वर्चस्व है, जिन्हें राष्ट्रीय टीमों के बीच खेला जाता है। मशहूर होकर लोगों की यादों में रच-बस जानेवाले क्रिकेटर आम तौर पर अपनी राष्ट्रीय टीमों के खिलाड़ी होते हैं। पाँचकोणीय और चतुष्कोणीय मैचों के दौर से उन्हीं खिलाड़ियों को हिंदुस्तानी फ़ैन याद करते हैं, जिन्हें टेस्ट क्रिकेट खेलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने समय के बेहतरीन बल्लेबाज़ सी.के. नायडू को तो लोग अब भी याद करते हैं, जबकि पालवंकर विट्ठल व पालवंकर बालू जैसे उनके कुछ अन्य समकालीन इसलिए भुला दिए गए हैं, क्योंकि नायडू का करियर तो लंबा था पर ये दोनों खिलाड़ी टेस्ट क्रिकेट खेलने के वक्त तक सक्रिय

स्रोत घ

महात्मा गांधी और औपनिवेशिक खेल

महात्मा गांधी देह और दिमाग के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए खेल-कूद को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। लेकिन वह यह बात भी अकसर कहते थे कि क्रिकेट और हॉकी जैसे खेल अंग्रेज़ भारत में लेकर आए हैं और ये खेल हमारे परंपरागत खेलों को नष्ट करते जा रहे हैं। उनका मानना था कि क्रिकेट, हॉकी, फुटबॉल और टेनिस जैसे खेल संपन्न वर्गों के खेल हैं। इन खेलों में औपनिवेशिक मनोदशा के दर्शन होते हैं और ये खेल हमारी अपनी मिट्टी से उपजे साधारण व्यायामों के मुकाबले कम प्रभावी शिक्षा ही दे पाते हैं, ऐसा उनका मानना था।

महात्मा गांधी के लेखों में से लिए गए इन तीन अंशों को पढ़िये और टॉमस आर्नल्ड या ह्यूज़ (स्रोत क) द्वारा शिक्षा और खेल-कूद के बारे में व्यक्त किए गए विचारों से उनकी तुलना कीजिए :

'आइए, अब शरीर की ओर दृष्टिपात करें। हर रोज़ एक घंटा टेनिस, फुटबॉल अथवा क्रिकेट खेल लेने से क्या हम शरीर को शिक्षित हुआ कह सकते हैं? यह सच है कि शरीर इसमें मजबूत होता है। लेकिन जैसे जंगल में मनमाना दौड़ने-फिरनेवाले घोड़े का शरीर मजबूत तो कहा जा सकता है, किंतु शिक्षित नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार ऐसा शरीर मजबूत होते हुए भी शिक्षित नहीं कहा जा सकता। शिक्षित शरीर नीरोग होता है, मजबूत होता है, कसा हुआ होता है और उसके हाथ-पैर आदि भी इच्छित कार्य कर सकते हैं। उसके हाथों में कुदाली, फावड़ा, हथौड़ा, आदि सुशोभित होते हैं और ये हाथ इन सबका उपयोग भी कर सकते हैं। तीस मील की यात्रा करते हुए शिक्षित शरीर थकेगा नहीं; ऐसी शरीरिक शिक्षा कैसे मिलती है? हम कह सकते हैं कि आधुनिक पाठ्यक्रम में इस दृष्टि से शरीरिक शिक्षा नहीं दी जाती।'

'सच्ची शिक्षा क्या है', 20 फरवरी 1926, *संपूर्ण गांधी वाङ्मय,* खण्ड 30.

'लेकिन, अगर यह हकीकत हो कि इस पवित्र भूमि पर क्रिकेट और फुटबॉल का चलन होने से पहले आपके अपने राष्ट्रीय खेल हों तो मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आपकी संस्था को उन्हें पुन: प्रतिष्ठित करना चाहिए। मैं जानता हूँ कि भारत के कई बहुत अच्छे देशी खेल हैं। वे क्रिकेट और फुटबॉल की ही तरह रोचक और उत्साहवर्धक हैं। उनमें खतरे भी उतने ही रहते हैं और ऊपर से उनकी एक खूबी यह है कि वे व्ययसाध्य नहीं होते, क्योंकि उनपर लगभग कोई खर्च नहीं बैठता।'

महिंद कालेज, गैल में भाषण, 24 नवंबर 1927, *संपूर्ण गांधी वाङ्मय,* खण्ड 35.

'मेरी दृष्टि में स्वस्थ शरीर वह है जो आत्मा का अंकुश मानता है और उसकी सेवा के साधन के रूप में सदा तैयार रहता है। मेरी राय में ऐसे शरीर फुटबॉल के मैदान में नहीं बनाये जाते। वे तो अनाज के खेतों और फार्मों में बनाये जाते हैं। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप इस संबंध में विचार करें और आपको मैंने जो कुछ कहा है उसकी सच्चाई के समर्थन में असंख्य उदाहरण मिल जायेंगे। हमारे उपनिवेशों में उत्पन्न भारतीय फुटबॉल और क्रिकेट के इस उन्माद के प्रवाह में बह जाते हैं। कुछ विशेष स्थितियों में इन खेलों का अपना महत्व हो सकता है। आप इस सीधी-सादी बात पर विचार क्यों नहीं करते कि मानव जाति का बहुत बड़ा भाग जिनके शरीर और मस्तिष्क शक्तिशाली हैं, सिर्फ किसान ही हैं, वे इन खेलों को जानते तक नहीं और वे ही संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं।'

पत्र : लाजरस को, 17 अप्रैल 1915, *संपूर्ण गांधी वाङ्मय,* खण्ड 13.

नहीं रहे। हालाँकि नायडू भी इंग्लैंड के खिलाफ़ 1932 में शुरू होनेवाले पहले क्रिकेट मैचों तक अपने पुराने फ़ॉर्म में नहीं थे, पर देश के पहले टेस्ट कप्तान के रूप में इतिहास में उनका नाम सुरक्षित है।

इस तरह भारत ने आज़ाद होने के डेढ़ दशक पहले ही टेस्ट क्रिकेट में प्रवेश ले लिया था। ऐसा इसलिए संभव हुआ चूँकि 1877 में अपनी शुरुआत से ही टेस्ट क्रिकेट ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों के बीच खेला जाता था न कि संप्रभु राष्ट्रों के बीच। पहला टेस्ट ऑस्ट्रेलिया व इंग्लैंड के बीच जब खेला गया तब ऑस्ट्रेलिया गोरों का उपनिवेश-भर था, स्वशासी डोमीनियन राज्य भी नहीं था। उसी तरह, वेस्ट इंडीज़ के नाम से जाने जानेवाले विभिन्न कैरिबियाई देश दूसरे विश्वयुद्ध के काफ़ी बाद तक ब्रिटिश उपनिवेश ही थे।

3.2 खेल और वि-औपनिवेशीकरण

यूरोपीय साम्राज्यों से आज़ादी हासिल कर स्वतंत्र राष्ट्रों के बनने की प्रक्रिया को वि-औपनिवेशीकरण कहा जाता है। सन् 1947 में भारत की आज़ादी से शुरू होकर यह सिलसिला अगली आधी सदी तक चलता रहा। इस सिलसिले का असर व्यापार-वाणिज्य, सैन्य क्षेत्र, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और अंततः खेल में ब्रिटेन के पतन के रूप में हुआ। लेकिन यह सब एकबारगी नहीं हुआ - क्रिकेट संगठन में उत्तर-साम्राज्यवादी ब्रिटेन के प्रभाव को कम होने में अच्छा-खासा वक्त लगा।

भारत की आज़ादी से ब्रितानी साम्राज्य के खात्मे का बिगुल तो बज गया था, पर क्रिकेट के अंतर्राष्ट्रीय आयोजन पर साम्राज्यवादी क्रिकेट कॉन्फ्रेन्स का नियंत्रण बरकरार रहा। आईसीसी पर, जिसका 1965 में नाम बदलकर इंटरनैशनल क्रिकेट कॉन्फ्रेन्स हो गया, इसके संस्थापक सदस्यों का वर्चस्व रहा, उन्हीं के हाथ में कार्यकलाप के वीटो अधिकार रहे। इंग्लैंड व ऑस्ट्रेलिया के विशेषाधिकार 1989 में जाकर खत्म हुए और वे अब सामान्य सदस्य रह गए।

पिछली सदी के 50 व 60 के दशक में विश्व क्रिकेट के मिज़ाज का पता इस बात से मिलता है कि इंग्लैंड तथा कॉमनवेल्थ के दूसरे देशों-ऑस्ट्रेलिया व न्यूज़ीलैंड-ने दक्षिण अफ़्रीका जैसे देश के साथ क्रिकेट खेलना जारी रखा, जहाँ न सिर्फ़ नीतिगत तौर पर नस्ली भेदभाव बरता जाता था, बल्कि टेस्ट मैचों में अश्वेतों (द. अफ़्रीका की बहुमत आबादी) को खेलने की मनाही थी। भारत, पाकिस्तान व वेस्ट इंडीज़ ने हालाँकि दक्षिण अफ़्रीका का बहिष्कार किया, लेकिन अंतर्राष्ट्रीय क्रिकेट परिषद् (आईसीसी) में उनकी इतनी ताकत नहीं थी कि उसे खेल से प्रतिबंधित कर दें। यह तभी हो पाया जब एशिया व अफ़्रीका में उपनिवेशवाद से नए आज़ाद हुए देशों ने और साथ में ब्रिटेन की उदारवादी हवा ने अंग्रेज़ी क्रिकेट अधिकारियों पर दबाव डालकर 1970 में ब्रिटेन के दक्षिण अफ़्रीकी दौरे को रद्द करवाने में कामयाबी पायी।

4 आज के दौर में व्यापार, मीडिया और क्रिकेट

क्रिकेट 1970 के दशक में काफ़ी बदल गया: यह ऐसा दौर था जिसमें इस पारंपरिक खेल ने बदलते ज़माने के साथ खुद को ढाल लिया। अगर 1970 में दक्षिण अफ़्रीका को क्रिकेट से बहिष्कृत किया गया, तो 1971 को इसलिए याद किया जाएगा चूँकि इस साल इंग्लैंड व ऑस्ट्रेलिया के बीच सबसे पहला एकदिवसीय मैच मेलबर्न में खेला गया। क्रिकेट का यह छोटा संस्करण इतना लोकप्रिय हुआ कि 1975 में पहला विश्व कप खेला गया और सफल रहा। फिर 1977 में, जब क्रिकेट टेस्ट मैचों की सौवीं जयंती मना रहा था, तो खेल हमेशा के लिए बदल गया। इस बदलाव में किसी खिलाड़ी या प्रशासक का नहीं, बल्कि एक व्यवसायी का हाथ था।

केरी पैकर नामक ऑस्ट्रेलियाई टेलीविज़न मुग़ल ने क्रिकेट के प्रसारण की बाज़ारी संभावनाओं को भाँपकर दुनिया के 51 बेहतरीन खिलाड़ियों को उनके बोर्ड की मर्ज़ी के खिलाफ़ अनुबंध पर ले लिया और दो सालों तक वर्ल्ड सीरीज़ क्रिकेट के नाम से समांतर, ग़ैर-अधिकृत 'टेस्ट' व 'एकदिवसीय' खेलों का आयोजन किया। पैकर का यह 'सर्कस' (इसे तब यही कहा जाता था) दो सालों के बाद पैक हो गया, लेकिन टेलीविज़न दर्शकों को लुभाने के लिए उसके द्वारा किए गए बदलाव स्थायी साबित हुए, और इससे खेल का रंग-ढंग ही बदल गया।

रंगीन वर्दी, हिफ़ाज़ती हेल्मेट, क्षेत्ररक्षण की पाबंदियाँ, रौशनी जलाकर रात को क्रिकेट खेलना, आदि कुछ ऐसी चीज़ें हैं जो पैकर के बाद क्रिकेट का स्थायी हिस्सा बन गए। सबसे अहम बात, पैकर ने ज़ाहिर कर दिया कि क्रिकेट का बाज़ार है और इसे बेचकर बहुत पैसे कमाये जा सकते हैं। टेलीविज़न कंपनियों को टेलीविज़न प्रसारण का अधिकार बेचकर क्रिकेट बोर्ड अमीर हो गए। टेलीविज़न कंपनियों ने विज्ञापन-समय व्यावसायिक कंपनियों को बेचे, जिन्हें इतना बड़ा दर्शक-समूह और कहाँ मिलता! निरंतर टीवी कवरेज के बाद क्रिकेटर सेलेब्रिटी बन गए और उन्हें अपने क्रिकेट बोर्ड से तो ज़्यादा वेतन मिलने ही लगा, पर उससे भी बड़ी कमाई के साधन टायर से लेकर कोला तक के टीवी विज्ञापन हो गए।

टीवी प्रसारण से क्रिकेट बदल गया। इसके ज़रिए क्रिकेट की पहुँच छोटे शहरों व गाँवों के दर्शकों तक हो गई। क्रिकेट का सामाजिक आधार भी व्यापक हुआ। महानगरों से दूर रहनेवाले बच्चे जो कभी बड़े मैच नहीं देख पाते थे, अब अपने नायकों को देखकर सीख सकते हैं।

उपग्रह (सैटेलाइट) टीवी की तकनीक और बहु-राष्ट्रीय कंपनियों की दुनिया भर की पहुँच के चलते क्रिकेट का वैश्विक बाज़ार बन गया। सिडनी में चल रहे मैच को अब सीधे सूरत में देखा जा सकता था। इस मामूली बात ने क्रिकेट की सत्ता का केंद्र ही बदल दिया: जिस प्रक्रिया की शुरुआत ब्रिटिश साम्राज्य के पतन से हुई थी, वह वैश्वीकरण में अपने तार्किक

अंजाम तक पहुँची। चूँकि भारत में खेल के सबसे ज़्यादा दर्शक थे और यह क्रिकेट खेलने वाले देशों में सबसे बड़ा बाज़ार था, इसलिए खेल का गुरुत्व केन्द्र दक्षिण एशिया हो गया। प्रतीकात्मक तौर पर आईसीसी मुख्यालय का लंदन से टैक्स-फ्री दुबई में आना स्वाभाविक लगता है।

अंग्रेज़ी-ऑस्ट्रेलियाई धुरी से गुरुत्व केन्द्र के खिसकने की एक और निशानी ये है कि हाल के वर्षों में क्रिकेट के नए तकनीकी प्रयोग भारतीय उपमहाद्वीप के खिलाड़ियों ने शुरू किए हैं। पाकिस्तान ने गेंदबाज़ी को 'दूसरा' व 'रिवर्स-स्विंग' नाम के दो अहम हथियार दिए। ये दोनों ईजाद महाद्वीपीय स्थितियों की उपज हैं। 'दूसरा' इसलिए कि भारी बल्लों से आक्रामक बल्लेबाज़ी करनेवाले खिलाड़ी उँगलियों की स्पिन को बेकार साबित किए दे रहे थे और 'रिवर्स स्विंग' इसलिए कि खुली धूप में, धूल उड़ाती, बेजान पिचों पर तेज़ गेंदें घुमाई जा सकें। इन दोनों प्रयोगों को शुरू-शुरू में इंग्लैंड व ऑस्ट्रेलिया जैसे देशों ने शक की नज़र से देखा, उन्हें लगा कि ये तो चोरी-छिपे क्रिकेट के नियमों के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। वक्त के साथ यह मान लिया गया कि क्रिकेट के कानून सिर्फ ऑस्ट्रेलियाई या अंग्रेज़ी स्थितियों के मुताबिक नहीं बनाए जा सकते और इन जुगाड़ों को पूरी दुनिया के गेंदबाज़ों ने अपना लिया।

लगभग 150 साल पहले भारत के अग्रणी क्रिकेटरों - पारसियों - को खेल के मैदान के लिए संघर्ष करना पड़ा था। आज वैश्विक बाज़ार ने हिन्दुस्तानी क्रिकेटरों को खेल का सबसे मशहूर और अमीर खिलाड़ी बना दिया है, पूरी दुनिया जैसे अब उनका रंगमंच हो गया है। इस ऐतिहासिक बदलाव के पीछे कुछ छोटे-मोटे कारण भी थे: शौकिया जेंट्लमेन की जगह वेतनभोगी पेशेवरों का आना, लोकप्रियता में टेस्ट मैच क्रिकेट का एकदिवसीय मैचों द्वारा पछाड़ दिया जाना और वैश्विक वाणिज्य व प्रौद्योगिकी में अहम बदलावों का होना। वक्त के साथ परिवर्तन को समझना ही इतिहास का काम है। इस अध्याय में हमने एक औपनिवेशिक खेल के इतिहास के ज़रिए इसके विस्तार को समझा और यह भी कि **उपनिवेशोत्तर** ज़माने में इसने खुद को कैसे ढाला।

नए शब्द

उपनिवेशोत्तर : उपनिवेश+उत्तर=आज़ादी के बाद।

बॉक्स 2

हॉकी, भारत का राष्ट्रीय खेल

आधुनिक हॉकी का उदय एक ज़माने में ब्रिटेन में बड़े पैमाने पर खेले जाने वाले परंपरागत खेलों से हुआ है। स्कॉटलैंड में खेले जाने वाले खेल शिंटी और इंग्लिश एवं वेल्श खेल बेंडी व आइरिश हर्लिंग को हॉकी का पूर्वज माना जा सकता है।

बहुत सारे दूसरे आधुनिक खेलों की तरह हमारे यहाँ भी हॉकी की शुरुआत औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश सेना द्वारा ही की गई थी। पहले हॉकी क्लब की स्थापना 1885–1886 में कलकत्ता में हुई। ओलम्पिक खेलों की हॉकी प्रतिस्पर्धा में भारत को पहली बार 1928 में शामिल किया गया था। इस प्रतिस्पर्धा में ऑस्ट्रिया, जर्मनी, डेनमार्क और स्विट्ज़रलैंड को हराते हुए भारत फ़ाइनल तक जा पहुँचा। फ़ाइनल में भारत ने हॉलैंड को भी शून्य के मुकाबले तीन गोल से मात दे दी।

हॉकी के जादूगर ध्यानचंद जैसे खिलाड़ियों के खेल–कौशल और तीक्ष्णता ने हमारे देश को ओलम्पिक के कई स्वर्ण पदक दिलाए। 1928 से 1956 के बीच भारतीय टीम ने लगातार छः ओलम्पिक खेलों में स्वर्ण पदक जीता था। हॉकी की दुनिया में भारतीय वर्चस्व के इस स्वर्ण युग में भारत ने ओलम्पिक में कुल 24 मैच खेले और सभी में सफलता प्राप्त की। इन मैचों में भारतीय खिलाड़ियों ने 178 गोल (प्रति मैच औसतन 7.43 गोल) दागे और विपक्षी टीमें उनके खिलाफ़ केवल 7 ही गोल कर पायीं। हॉकी में भारत को बाकी दो स्वर्ण पदक 1964 के टोकियो ओलम्पिक और 1980 के मास्को ओलम्पिक में प्राप्त हुए थे।

बॉक्स 3

पोलो को सेना और भागदौड़ के माहिर नौजवानों के लिए अच्छा खेल माना जाता था। इंग्लैंड के पुराने खेलों में से एक का विश्लेषण करते हुए *इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़* ने दावा किया था :

'कसरत के तौर पर ... इस साहसिक और गरिमापूर्ण खेल से सैनिकों को बल्लम व तलवार के या अन्य सैन्य हथियारों के इस्तेमाल में और ज़्यादा दक्षता प्राप्त हो सकती है। इसके साथ ही उन्हें रकाब में और मज़बूती से जमे रहने तथा पलक झपकते दाहिने या बाएँ मुड़ने का अभ्यास भी होगा जो कि युद्ध के मोर्चे पर बेहद उपयोगी साबित होगा।'

इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1872 से उद्धृत।

चित्र 15 – पोलो का खेल भी औपनिवेशिक अधिकारियों ने ही विकसित किया था और जल्दी ही उसे भारी लोकप्रियता मिलने लगी। क्रिकेट ब्रिटेन से भारत आया था जबकि पोलो जैसे कुछ खेल उपनिवेशों में विकसित हुए और बाद में उन्हें ब्रिटेन में भी खेला जाने लगा जिससे वहाँ खेलों का स्वरूप भी प्रभावित हुआ। इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, *20 जुलाई 1872 से।*

क्रियाकलाप

1. पढ़ाई–लिखाई में खेलों के महत्व पर रग्बी स्कूल के प्रधानाचार्य टॉमस आर्नल्ड और महात्मा गांधी के बीच एक काल्पनिक बातचीत के बारे में सोचिए। दोनों के कथन क्या होते? पूरी बातचीत को लिखिए।
2. किसी एक स्थानीय खेल के इतिहास का पता लगाइए। अपने माता–पिता और उनसे भी पुरानी पीढ़ी के लोगों से पूछिए कि जब वे बच्चे थे तो वह खेल कैसे खेला जाता था। तुलना कीजिए कि क्या उस खेल को अभी भी उसी तरह खेला जाता है। अगर कोई बदलाव आए हैं तो इस बात पर विचार कीजिए कि उनके पीछे किन ऐतिहासिक शक्तियों का हाथ रहा होगा।

क्रियाकलाप

प्रश्न

1. टेस्ट क्रिकेट कई मायनों में एक अनूठा खेल है। इस बारे में चर्चा कीजिए कि यह किन–किन अर्थों में बाकी खेलों से भिन्न है। ऐतिहासिक रूप से एक ग्रामीण खेल के रूप में पैदा होने से टेस्ट क्रिकेट में किस तरह की विलक्षणताएँ पैदा हुई हैं?
2. एक ऐसा उदाहरण दीजिए जिसके आधार पर आप कह सकें कि उन्नीसवीं सदी में तकनीक के कारण क्रिकेट के साज़ो–सामान में परिवर्तन आया। साथ ही ऐसे उपकरणों में से भी कोई एक उदाहरण दीजिए जिनमें कोई बदलाव नहीं आया।
3. भारत और वेस्ट इंडीज़ में ही क्रिकेट क्यों इतना लोकप्रिय हुआ? क्या आप बता सकते हैं कि यह खेल दक्षिणी अमेरिका में इतना लोकप्रिय क्यों नहीं हुआ?
4. निम्नलिखित की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए :
   - भारत में पहला क्रिकेट क्लब पारसियों ने खोला।
   - महात्मा गांधी पेंटांग्युलर टूर्नामेंट के आलोचक थे।
   - आईसीसी का नाम बदल कर *इम्पीरियल* क्रिकेट कॉन्फ्रेंस के स्थान पर *इंटरनैशनल* (अंतर्राष्ट्रीय) क्रिकेट कॉन्फ्रेंस कर दिया गया।
   - आईसीसी मुख्यालय लंदन की जगह दुबई में स्थानांतरित कर दिया गया।
5. तकनीक के क्षेत्र में आए बदलावों, खासतौर से टेलीविज़न तकनीक में आए परिवर्तनों से समकालीन क्रिकेट के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा है?

?

Clothing: A Social History

It is easy to forget that there is a history to the clothes we wear. All societies observe certain rules, some of them quite strict, about the way in which men, women and children should dress, or how different social classes and groups should present themselves. These norms come to define the identity of people, the way they see themselves, the way they want others to see them. They shape our notions of grace and beauty, ideas of modesty and shame. As times change and societies are transformed, these notions also alter. Modifications in clothing come to reflect these changes.

The emergence of the modern world is marked by dramatic changes in clothing. In this chapter, we will look at some of the histories of clothing in the modern period, that is in the nineteenth and twentieth centuries.

Why are these two centuries important?

Before the age of democratic revolutions and the development of capitalist markets in eighteenth-century Europe, most people dressed according to their regional codes, and were limited by the types of clothes and the cost of materials that were available in their region. Clothing styles were also strictly regulated by class, gender or status in the social hierarchy.

After the eighteenth century, the colonisation of most of the world by Europe, the spread of democratic ideals and the growth of an industrial society, completely changed the ways in which people thought about dress and its meanings. People could use styles and materials that were drawn from other cultures and locations, and western dress styles for men were adopted worldwide.

In Chapter I you have seen how the French Revolution transformed many aspects of social and political life. The revolution also swept away existing dress codes, known as the sumptuary laws. Let us look briefly at what these laws were.

Clothing: A Social History

1 Sumptuary Laws and Social Hierarchy

In medieval Europe, dress codes were sometimes imposed upon members of different layers of society through actual laws which were spelt out in some detail. From about 1294 to the time of the French Revolution in 1789, the people of France were expected to strictly follow what were known as 'sumptuary laws.' The laws tried to control the behaviour of those considered social inferiors, preventing them from wearing certain clothes, consuming certain foods and beverages (usually this referred to alcohol) and hunting game in certain areas. In medieval France, the items of clothing a person could purchase per year was regulated, not only by income but also by social rank. The material to be used for clothing was also legally prescribed. Only royalty could wear expensive materials like **ermine** and fur, or silk, velvet and brocade. Other classes were debarred from clothing themselves with materials that were associated with the aristocracy.

The French Revolution ended these distinctions. As you know from Chapter I, members of the Jacobin clubs even called themselves the 'sans culottes' to distinguish themselves from the aristocracy who wore the fashionable 'knee breeches'. Sans culottes literally meant those 'without knee breeches'. From now on, both men and women began wearing clothing that was loose and comfortable. The colours of France – blue, white and red – became popular as they were a sign of the patriotic citizen. Other political symbols too became a part of dress: the red cap of liberty, long trousers and the revolutionary **cockade** pinned on to a hat. The simplicity of clothing was meant to express the idea of equality.

Fig.1 – An upper-class couple in eighteenth-century England. Painting by the English artist Thomas Gainsborough (1727-1788)

New words

Cockade – Cap, usually worn on one side.
Ermine – Type of fur.

Fig.3 – Woman of the middle classes, 1791.

Fig.4 – Volunteers during the French Revolution.

Fig.2 – An aristocratic couple on the eve of the French Revolution.
Notice the sumptuous clothing, the elaborate headgear, and the lace edgings on the dress the lady is wearing. She also has a ***corset*** *inside the dress. This was meant to confine and shape her waist so that she appeared narrow waisted. The nobleman, as was the custom of the time, is wearing a long soldier's coat, knee breeches, silk stockings and high heeled shoes. Both of them have elaborate wigs and both have their faces painted a delicate shade of pink, for the display of natural skin was considered uncultured.*

Fig.5 – A sans-culottes family, 1793.

Box 1

Not all sumptuary laws were meant to emphasise social hierarchy. Some sumptuary laws were passed to protect home production against imports. For instance, in sixteenth-century England, velvet caps made with material imported from France and Italy were popular amongst men. England passed a law which compelled all persons over six years of age, except those of high position, to wear woollen caps made in England, on Sundays and all holy days. This law remained in effect for twenty-six years and was very useful in building up the English woollen industry.

Activity

Look at Figures 2 - 5. Write 150 words on what the differences in the pictures tell us about the society and culture in France at the time of the Revolution.

2 Clothing and Notions of Beauty

*Fig.6 – **Scene at an upper-class wedding** by the English painter William Hogarth (1697-1764)*

The end of sumptuary laws did not mean that everyone in European societies could now dress in the same way. The French Revolution had raised the question of equality and ended aristocratic privileges, as well as the laws that maintained those privileges. However, differences between social strata remained. Clearly, the poor could not dress like the rich, nor eat the same food. But laws no longer barred people's right to dress in the way they wished. Differences in earning, rather than sumptuary laws, now defined what the rich and poor could wear. And different classes developed their own culture of dress. The notion of what was beautiful or ugly, proper or improper, decent or vulgar, differed.

Styles of clothing also emphasised differences between men and women. Women in Victorian England were groomed from childhood to be docile and dutiful, submissive and obedient. The ideal woman was one who could bear pain and suffering. While men were expected to be serious, strong, independent and aggressive, women were seen as frivolous, delicate, passive and docile. Norms of clothing reflected these ideals. From childhood, girls were tightly laced up and dressed in **stays**. The effort was to restrict the growth of their bodies, contain them within small moulds. When slightly older, girls had to wear tight fitting **corsets**. Tightly laced, small-waisted women were admired as attractive, elegant and graceful. Clothing thus played a part in creating the image of frail, submissive Victorian women.

*Fig.7 – **A child in an aristocratic household** by the English painter William Hogarth (1697-1764). Notice the tiny waist even at this age, probably held in by a corset, and the sweeping gown which would restrict her movement.*

2.1 How Did Women React to These Norms?

Many women believed in the ideals of womanhood. The ideals were in the air they breathed, the literature they read, the education they had received at school and at home. From childhood they grew up to believe that having a small waist was a womanly duty. Suffering pain was essential to being a woman. To be seen as attractive, to be womanly, they had to wear the corset. The torture and pain this inflicted on the body was to be accepted as normal.

But not everyone accepted these values. Over the nineteenth century, ideas changed. By the 1830s, women in England began agitating for democratic rights. As the **suffrage** movement developed, many began campaigning for dress reform. Women's magazines described how tight dresses and corsets caused deformities and illness among young

New words

Stays – Support as part of a woman's dress to hold the body straight
Corset – A closely fitting and stiff inner bodice, worn by women to give shape and support to the figure.
Suffrage – The right to vote. The suffragettes wanted the right for women to vote.

girls. Such clothing restricted body growth and hampered blood circulation. Muscles remained underdeveloped and the spines got bent. Doctors reported that many women were regularly complaining of acute weakness, felt languid, and fainted frequently. Corsets then became necessary to hold up the weakened spine.

Source A

Mary Somerville, one of the first woman mathematicians, describes in her memoirs the experience of her childhood days:

'Although perfectly straight and well made, I was encased in stiff stays, with a steel busk in front, while above my frock, bands drew my shoulder back until the shoulder blades met. Then a steel rod with a semi-circle, which went under my chin, was clasped to the steel busk in my stays. In this constrained state, I and most of the younger girls had to prepare our lessons.'

From Martha Somerville, ed., *Personal Recollections from Early Life to Old Age of Mary Somerville*, London 1873.

Activity

Read Sources A and B. What do they tell you about the ideas of clothing in Victorian society? If you were the principal in Mary Somerville's school how would you have justified the clothing practices?

Source B

Many government officials of the time were alarmed at the health implications of the prevailing styles of dressing amongst women. Consider the following attack on the corset:

'It is evident physiologically that air is the pabulum of life, and that the effect of a tight cord round the neck and of tight lacing differ only in degrees ... for the strangulations are both fatal. To wear tight stays in many cases is to wither, to waste, to die.'

The Registrar General in the *Ninth Annual Report* of 1857.

Source C

Do you know how the famous English poet John Keats (1795 – 1821) described his ideal woman? He said she was 'like a milk-white lamb that bleats for man's protection'.

In his novel *Vanity Fair* (1848), Thackeray described the charm of a woman character, Amelia, in these words:

'I think it was her weakness which was her principle charm, a kind of sweet submission and softness, which seemed to appeal to each man she met, for his sympathy and protection.'

Activity

In what ways do you think these notions of weakness and dependence came to be reflected in women's clothing?

New words

Busk – A strip of wood, whalebone or steel in front of the corset to stiffen and support it

Pabulum – Anything essential to maintain life and growth.

In America, a similar movement developed amongst the white settlers on the east coast. Traditional feminine clothes were criticised on a variety of grounds. Long skirts, it was said, swept the grounds and collected filth and dirt. This caused illness. The skirts were voluminous and difficult to handle. They hampered movement and prevented women from working and earning. Reform of the dress, it was said, would change the position of women. If clothes were comfortable and convenient, then women could work, earn their living, and become independent. In the 1870s, the National Woman Suffrage Association headed by Mrs Stanton, and the American Woman Suffrage Association dominated by Lucy Stone both campaigned for dress reform. The argument was: simplify dress, shorten skirts, and abandon corsets. On both sides of the Atlantic, there was now a movement for rational dress reform.

Fig.8 – A woman in nineteenth-century USA, before the dress reforms.
Notice the flowing gown sweeping the ground. Reformers reacted to this type of clothing for women.

Box 2

The movement for Rational Dress Reform

Mrs Amelia Bloomer, an American, was the first dress reformer to launch loose tunics worn over ankle-length trousers. The trousers were known as 'bloomers', 'rationals', or 'knickerbockers'. The Rational Dress Society was started in England in 1881, but did not achieve significant results. It was the First World War that brought about radical changes in women's clothing.

The reformers did not immediately succeed in changing social values. They had to face ridicule and hostility. Conservatives everywhere opposed change. They lamented that women who gave up traditional norms of dressing no longer looked beautiful, and lost their femininty and grace. Faced with persistent attacks, many women reformers changed back into traditional clothes to conform to conventions.

By the end of the nineteenth century, however, change was clearly in the air. Ideals of beauty and styles of clothing were both transformed under a variety of pressures. People began accepting the ideas of reformers they had earlier ridiculed. With new times came new values.

3 New Times

What were these new values? What created the pressure for change?

Many changes were made possible in Britain due to the introduction of new materials and technologies. Other changes came about because of the two world wars and the new working conditions for women. Let us retrace our steps a few centuries to see what these changes were.

3.1 New Materials

Before the seventeenth century, most ordinary women in Britain possessed very few clothes made of flax, linen or wool, which were difficult to clean. After 1600, trade with India brought cheap, beautiful and easy-to-maintain Indian **chintzes** within the reach of many Europeans who could now increase the size of their wardrobes.

Then, during the Industrial Revolution, in the nineteenth century, Britain began the mass manufacture of cotton textiles which it exported to many parts of the world, including India. Cotton clothes became more accessible to a wider section of people in Europe. By the early twentieth century, artificial fibres made clothes cheaper still and easier to wash and maintain.

In the late 1870s, heavy, restrictive underclothes, which had created such a storm in the pages of women's magazines, were gradually discarded. Clothes got lighter, shorter and simpler.

Fig.9 – Changes in clothing in the early twentieth century.

Fig.9a *– Even for middle- and upper-class women, clothing styles changed. Skirts became shorter and frills were done away with.*

Fig.9b *– Women working at a British ammunition factory during the First World War. At this time thousands of women came out to work as war production created a demand for increased labour. The need for easy movement changed clothing styles.*

New words

Chintz – Cotton cloth printed with designs and flowers. From the Hindi word *chint*.

Yet until 1914, clothes were ankle length, as they had been since the thirteenth century. By 1915, however, the hemline of the skirt rose dramatically to mid-calf.

Why this sudden change?

3.2 The War

Changes in women's clothing came about as a result of the two World wars.

Many European women stopped wearing jewellery and luxurious clothes. As upper-class women mixed with other classes, social barriers were eroded and women began to look similar.

Clothes got shorter during the First World War (1914-1918) out of practical necessity. By 1917, over 700,000 women in Britain were employed in ammunition factories. They wore a working uniform of blouse and trousers with accessories such as scarves, which was later replaced by khaki overalls and caps. Bright colours faded from sight and only sober colours were worn as the war dragged on. Thus clothes became plainer and simpler. Skirts became shorter. Soon trousers became a vital part of Western women's clothing, giving them greater freedom of movement. Most important, women took to cutting their hair short for convenience.

By the twentieth century, a plain and austere style came to reflect seriousness and professionalism. New schools for children emphasised the importance of plain dressing, and discouraged ornamentation. Gymnastics and games entered the school curriculum for women. As women took to sports, they had to wear clothes that did not hamper movement. When they went out to work they needed clothes that were comfortable and convenient.

So we see that the history of clothing is linked to the larger history of society. We saw how clothing was defined by dominant cultural attitudes and ideals of beauty, and how these notions changed over time. We saw how reformers and conservatives struggled to shape these ideals, and how changes within technology and economy, and the pressures of new times made people feel the need for change.

4 Transformations in Colonial India

What about India in this same period?

During the colonial period there were significant changes in male and female clothing in India. On the one hand this was a consequence of the influence of Western dress forms and missionary activity; on the other it was due to the effort by Indians to fashion clothing styles that embodied an indigenous tradition and culture. Cloth and clothing in fact became very important symbols of the national movement. A brief look at the nineteenth century changes will tell us a great deal about the transformations of the twentieth century.

When western-style clothing came into India in the nineteenth century, Indians reacted in three different ways:

One. Many, especially men, began incorporating some elements of western-style clothing in their dress. The wealthy Parsis of western India were among the first to adapt Western-style clothing. Baggy trousers and the *phenta* (or hat) were added to long collarless coats, with boots and a walking stick to complete the look of the gentleman. To some, Western clothes were a sign of modernity and progress.

Western-style clothing was also especially attractive to groups of dalit converts to Christianity who now found it liberating. Here too, it was men rather than women who affected the new dress styles.

Two. There were others who were convinced that western culture would lead to a loss of traditional cultural identity. The use of Western-style clothes was taken as a sign of the world turning upside down. The cartoon of the Bengali Babu shown here, mocks him for wearing Western-style boots and hat and coat along with his dhoti.

Three. Some men resolved this dilemma by wearing Western clothes without giving up their Indian ones. Many Bengali bureaucrats in the late nineteenth century began stocking western-style clothes for work outside the home and changed into more comfortable Indian clothes at home. Early- twentieth-century anthropologist Verrier Elwin remembered that policemen in Poona who were going off duty would take their

Fig.10 – Parsis in Bombay, 1863.

Fig.11 – Converts to Christianity in Goa in 1907, who have adopted Western dress.

Fig.12 – Cartoon, 'The Modern Patriot', by Gaganendranath Tagore, early twentieth century. *A sarcastic picture of a foolish man who copies western dress but claims to love his motherland with all his heart. The pot-bellied man with cigarette and Western clothes was ridiculed in many cartoons of the time.*

Fig.13 – Cartoon from* Indian Charivari, *1873.

trousers off in the street and walk home in 'just tunic and undergarments'. This difference between outer and inner worlds is still observed by some men today.

Still others tried a slightly different solution to the same dilemma. They attempted to combine Western and Indian forms of dressing.

These changes in clothing, however, had a turbulent history.

4.1 Caste Conflict and Dress Change

Though there were no formal sumptuary laws as in Europe, India had its own strict social codes of food and dress. The caste system clearly defined what subordinate and dominant caste Hindus should wear, eat, etc., and these codes had the force of law. Changes in clothing styles that threatened these norms therefore often created violent social reactions.

In May 1822, women of the Shanar caste were attacked by upper-caste Nairs in public places in the southern princely state of Travancore, for wearing a cloth across their upper bodies. Over subsequent decades, a violent conflict over dress codes ensued.

The Shanars (also called Nadars) were a community of toddy tappers who migrated to southern Travancore to work under Nair landlords. As they were considered a 'subordinate caste', they were prohibited from using umbrellas and wearing shoes or golden ornaments. Men and women were also expected to follow the local custom of never covering their upper bodies before the upper castes.

Under the influence of Christian missions, Shanar women converts began in the 1820s to wear tailored blouses and cloths to cover themselves like the upper castes. Soon Nairs, one of the upper castes of the region, attacked these women in public places and tore off their upper cloths. Complaints were also filed in court against this dress change, especially since Shanars were also refusing to render free labour for the upper castes.

At first, the Government of Travancore issued a proclamation in 1829 ordering Shanar women 'to abstain in future from covering the upper parts of the body.' But this did not prevent Shanar Christian women, and even Shanar Hindus, from adopting the blouse and upper cloth.

The abolition of slavery in Travancore in 1855 led to even more frustration among the upper castes who felt they were losing control. In October 1859, riots broke out as Shanar women were attacked in

the marketplace and stripped of their upper cloths. Houses were looted and chapels burned. Finally, the government issued another proclamation permitting Shanar women, whether Christian or Hindu, to wear a jacket, or cover their upper bodies 'in any manner whatever, *but not like the women of high caste*'.

4.2 British Rule and Dress Codes

How did the British react to Indian ways of dressing? How did Indians react to British attitudes?

In different cultures, specific items of clothing often convey contrary meanings. This frequently leads to misunderstanding and conflict. Styles of clothing in British India changed through such conflicts.

Consider the case of the turban and the hat. When European traders first began frequenting India, they were distinguished from the Indian 'turban wearers' as the 'hat wearers.' These two headgears not only looked different, they also signified different things. The turban in India was not just for protection from the heat but was a sign of respectability, and could not be removed at will. In the Western tradition, the hat had to be removed before social superiors as a sign of respect. This cultural difference created misunderstanding. The British were often offended if Indians did not take off their turban when they met colonial officials. Many Indians on the other hand wore the turban to consciously assert their regional or national identity.

Another such conflict related to the wearing of shoes. At the beginning of the nineteenth century, it was customary for British officials to follow Indian etiquette and remove their footwear in the courts of ruling kings or chiefs. Some British officials also wore Indian clothes. But in 1830, Europeans were forbidden from wearing Indian clothes at official functions, so that the cultural identity of the white masters was not undermined.

Box 3

The turban on the head

The Mysore turban, called *peta*, was edged with gold lace, and adopted as part of the Durbar dress of the Mysore court in the mid-nineteenth century. By the end of the nineteenth century, a wide variety of officials, teachers and artists in Mysore began wearing the turban, sometimes with the Western suit, as a sign of belonging to the princely state. Today, the Mysore turban is used largely on ceremonial occasions and to honour visiting dignitaries.

***Fig. 14** – Europeans bringing gifts to Shah Jehan, Agra, 1633, from the* Padshahnama. *Notice the European visitors' hats at the bottom of the picture, creating a contrast with the turbans of the courtiers.*

***Fig. 15** – Sir M. Visveswaraya. A leading engineer-technocrat and the Dewan of Mysore state from 1912 to 1918. He wore a turban with his three-piece Western style suit.*

At the same time, Indians were expected to wear Indian clothes to office and follow Indian dress codes. In 1824 - 1828, Governor-General Amherst insisted that Indians take their shoes off as a sign of respect when they appeared before him, but this was not strictly followed. By the mid-nineteenth century, when Lord Dalhousie was Governor- General, 'shoe respect' was made stricter, and Indians were made to take off their shoes when entering any government institution; only those who wore European clothes were exempted from this rule. Many Indian government servants were increasingly uncomfortable with these rules.

In 1862, there was a famous case of defiance of the 'shoe respect' rule in a Surat courtroom. Manockjee Cowasjee Entee, an assessor in the Surat Fouzdaree Adawlut, refused to take off his shoes in the court of the sessions judge. The judge insisted that he take off his shoes as that was the Indian way of showing respect to superiors. But Manockjee remained adamant. He was barred entry into the courtroom and he sent a letter of protest to the governor of Bombay.

The British insisted that since Indians took off their shoes when they entered a sacred place or home, they should do so when they entered the courtroom. In the controversy that followed, Indians urged that taking off shoes in sacred places and at home was linked to two different questions. One: there was the problem of dirt and filth. Shoes collected the dirt on the road. This dirt could not be allowed into spaces that were clean, particularly when people in Indian homes sat on the ground. Second, leather shoes and the filth that stuck under it were seen as polluting. But public buildings like the courtroom were different from home.

But it took many years before shoes were permitted into the courtroom.

Source D

When asked to take off his shoes at the Surat Fouzdaree Adawlut at Surat in 1862, Manockjee told the judge that he was willing to take off even his turban but not his shoes. He said:

'Taking off my pugree would have been a greater insult to myself than to the court, but I would have submitted to it, because there is nothing of conscience, or religion involved in it. I hold no respect or disrespect, embodied or disembodied in the shoes, but the putting on of our turban is the greatest of all respects that we pay. We do not have our pugrees on when at home, but when we go out to see respectable persons we are bound by social etiquette to have it on whilst we [Parsees] in our social intercourse never ever take off our shoes before any Parsee however great ...'

Activity

Imagine yourself to be a Muslim pleader in the Allahabad high court in the late nineteenth century. What kind of clothes would you wear? Would they be very different from what you wore at home?

5 Designing the National Dress

As nationalist feelings swept across India by the late nineteenth century, Indians began devising cultural symbols that would express the unity of the nation. Artists looked for a national style of art. Poets wrote national songs. Then a debate began over the design of the national flag. The search for a national dress was part of this move to define the cultural identity of the nation in symbolic ways.

Self-conscious experiments with dress engaged men and women of the upper classes and castes in many parts of India. The Tagore family of Bengal experimented, beginning in the 1870s, with designs for a national dress for both men and women in India. Rabindranath Tagore suggested that instead of combining Indian and European dress, India's national dress should combine elements of Hindu and Muslim dress. Thus the *chapkan* (a long buttoned coat) was considered the most suitable dress for men.

There were also attempts to develop a dress style that would draw on the tradition of different regions. In the late 1870s, Jnanadanandini Devi, wife of Satyendranath Tagore, the first Indian member of the ICS, returned from Bombay to Calcutta. She adopted the Parsi style of wearing the sari pinned to the left shoulder with a brooch, and worn with a blouse and shoes. This was quickly adopted by Brahmo Samaji women and came to be known as the Brahmika sari. This style gained acceptance before long among Maharashtrian and Uttar Pradesh Brahmos, as well as non-Brahmos.

***Fig. 16** – Lady Bachoobai (1890), a well-known Parsi social activist.*
She is wearing a silk gara *embroidered with swans and peonies, a common English flower.*
(courtesy: Parsi Zoroastrian Project, New Delhi.)

***Fig.17** – Jnanadanandini Tagore (on the left) with her husband Satyendranath Tagore and other family members. She is wearing a Brahmika sari with a blouse modelled on a Western gown. (Courtesy: Rabindra Bhawan Photo Archives, Visva Bharati University, Shantiniketan)*

***Fig.18** – Sarala daughter of RC Dutt. Note the Parsi-bordered sari with the high collared and sleeved velvet blouse showing how clothing styles flowed across regions and cultures.*

New words

Brahmo – Those belonging to the Brahmo Samaj

However, these attempts at devising a pan-Indian style did not fully succeed. Women of Gujarat, Kodagu, Kerala and Assam continue to wear different types of sari.

Source E

Some people supported the attempt to change women's clothing, others opposed it.

'Any civilised nation is against the kind of clothing in use in the present time among women of our country. Indeed it is a sign of shamelessness. Educated men have been greatly agitated about it, almost everyone wishes for another kind of civilised clothing ... there is a custom here of women wearing fine and transparent clothing which reveals the whole body. Such shameless attire in no way allows one to frequent civilised company ... such clothes can stand in the way of our moral improvement.'

Soudamini Khastagiri, *Striloker Paricchad* (1872)

Fig.19 – Maharani of Travancore (1930). *Note the Western shoes and the modest long-sleeved blouse. This style had become common among the upper classes by the early twentieth century.*

Source F

C. Kesavan's autobiography *Jeevita Samaram* recalls his mother-in-law's first encounter with a blouse gifted by her sister-in-law in the late nineteenth century:

'It looked good, but I felt ticklish wearing it. I took it off, folded it carefully and brimming with enthusiasm, showed it to my mother. She gave me a stern look and said "Where are you going to gallivant in this? Fold it and keep it in the box." ... I was scared of my mother. She could kill me. At night I wore the blouse and showed it to my husband. He said it looked good ... [the next morning] I came out wearing the blouse ... I didn't notice my mother coming. Suddenly I heard her break a piece from a coconut branch. When I turned round, she was behind me fierce and furious ... she said "Take it off ... you want to walk around in shirts like Muslim women?"'

Activity

These two quotations (Sources E and F), from about the same period are from two different regions of India, Kerala and Bengal. What do they tell you about the very different notions of shame regarding women's attire?

5.1 The Swadeshi Movement

You have read about the Swadeshi movement in Bengal in the first decade of the twentieth century. If you reflect back on the movement you will realize that it was centrally linked to the politics of clothing.

What was this politics?

You know that the British first came to trade in Indian textiles that were in great demand all over the world. India accounted for one-fourth of the world's manufactured goods in the seventeenth century. There were a million weavers in Bengal alone in the middle of the

eighteenth century. However, the Industrial Revolution in Britain, which mechanised spinning and weaving and greatly increased the demand for raw materials such as cotton and indigo, changed India's status in the world economy.

Political control of India helped the British in two ways: Indian peasants could be forced to grow crops such as indigo, and cheap British manufacture easily replaced coarser Indian one. Large numbers of Indian weavers and spinners were left without work, and important textile weaving centres such as Murshidabad, Machilipatnam and Surat declined as demand fell.

Yet by the middle of the twentieth century, large numbers of people began boycotting British or mill-made cloth and adopting khadi, even though it was coarser, more expensive and difficult to obtain. How did this change come about?

In 1905, Lord Curzon decided to partition Bengal to control the growing opposition to British rule. The Swadeshi movement developed in reaction to this measure. People were urged to boycott British goods of all kinds and start their own industries for the manufacture of goods such as matchboxes and cigarettes. Mass protests followed, with people vowing to cleanse themselves of colonial rule. The use of khadi was made a patriotic duty. Women were urged to throw away their silks and glass bangles and wear simple shell bangles. Rough homespun was glorified in songs and poems to popularise it.

Activity

If you were a poor peasant would you have willingly taken to giving up mill-made cloth?

The change of dress appealed largely to the upper castes and classes rather than to those who had to make do with less and could not afford the new products. After 15 years, many among the upper classes also returned to wearing European dress.

Though many people rallied to the cause of nationalism at this time, it was almost impossible to compete with cheap British goods that had flooded the market.

Despite its limitations, the experiment with Swadeshi gave Mahatma Gandhi important ideas about using cloth as a symbolic weapon against British rule.

***Fig.20** – The familiar image of Mahatma Gandhi, bare chested and at his spinning wheel.*

5.2 Mahatma Gandhi's Experiments with Clothing

The most familiar image of Mahatma Gandhi is of him seated, bare chested and in a short dhoti, at the spinning wheel. He

made spinning on the charkha and the daily use of khadi, or coarse cloth made from homespun yarn, very powerful symbols. These were not only symbols of self-reliance but also of resistance to the use of British mill-made cloth.

Mahatma Gandhi's life and his experiments with clothing sum up the changing attitude to dress in the Indian subcontinent. As a boy from a Gujarati Bania family, he usually wore a shirt with a dhoti or pyjama, and sometimes a coat. When he went to London to study law as a boy of 19 in 1888, he cut off the tuft on his head and dressed in a Western suit so that he would not be laughed at. On his return, he continued to wear Western suits, topped with a turban. As a lawyer in Johannesburg, South Africa in the 1890s, he still wore Western clothes.

Soon he decided that dressing 'unsuitably' was a more powerful political statement. In Durban in 1913, Gandhi first appeared in a lungi and kurta with his head shaved as a sign of mourning to protest against the shooting of Indian coal miners.

On his return to India in 1915, he decided to dress like a Kathiawadi peasant. Only in 1921 did he adopt the short dhoti, the form of dress he wore until his death. On 2 September 1921, a year after launching the non-cooperation movement, which sought swaraj in one year, he announced:

Fig.21 *– Mahatma Gandhi in his earliest known picture, aged 7.*

Fig.22 *– Mahatma Gandhi at age 14, with a friend.*

Fig.23 *– Mahatma Gandhi (seated front right) London, 1890, at the age of 21. Note the typical Western three-piece suit.*

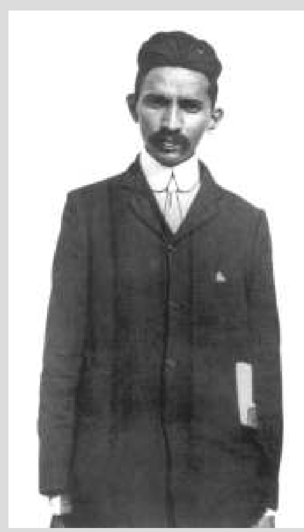

Fig.24 *– In Johannesburg in 1900, still in Western dress, including tie.*

Fig. 25 *– In 1913 in South Africa, dressed for Satyagraha*

Fig.26 *– Mahatma Gandhi with Kasturba, shortly after his return from South Africa. Dressed simply, he later confessed to feeling awkward amongst the Westernised Bombay elite. He said that he was more at home among the labourers in South Africa.*

'I propose to discard at least up to 31st of October my topi and vest and to content myself with a loincloth, and a chaddar whenever necessary for protection of my body. I adopt the change because I have always hesitated to advise anything I may not be prepared to follow …'

At this time, he did not want to use this dress all his life and only wanted to 'experiment for a month or two'. But soon he saw this as his duty to the poor, and he never wore any other dress. He consciously rejected the well-known clothes of the Indian ascetic and adopted the dress of the poorest Indian. Khadi, white and coarse, was to him a sign of purity, of simplicity, and of poverty. Wearing it became also a symbol of nationalism, a rejection of Western mill- made cloth.

He wore the short dhoti without a shirt when he went to England for the Round Table Conference in 1931. He refused to compromise and wore it even before King George V at Buckingham Palace. When he was asked by journalists whether he was wearing enough clothes to go before the King, he joked that that 'the King had enough on for both of us'!

5.3 Not All could Wear Khadi

Mahatma Gandhi's dream was to clothe the whole nation in khadi. He felt khadi would be a means of erasing difference between religions, classes, etc. But was it easy for others to follow in his footsteps? Was such a unity possible? Not many could take to the single peasant loincloth as he had. Nor did all want to. Here are some examples of other responses to Mahatma Gandhi's call:

- Nationalists such as Motilal Nehru, a successful barrister from Allahabad, gave up his expensive Western-style suits and adopted the Indian dhoti and kurta. But these were not made of coarse cloth.
- Those who had been deprived by caste norms for centuries were attracted to Western dress styles. Therefore, unlike Mahatma Gandhi, other nationalists such as Babasaheb Ambedkar never gave up the Western-style suit. Many Dalits began in the early 1910s to wear three-piece suits, and shoes and socks on all public occasions, as a political statement of self-respect.
- A woman who wrote to Mahatma Gandhi from Maharashtra in 1928 said, 'A year ago, I heard you speaking on the extreme necessity of every one of us wearing khadi and thereupon decided to adopt it. But we are poor people, My husband says khadi is costly. Belonging as I do to Maharashtra, I wear a sari nine yards long … (and) the elders will not hear of a reduction (to six yards).'
- Other women, like Sarojini Naidu and Kamala Nehru, wore coloured saris with designs, instead of coarse, white homespun.

Conclusion

Changes in styles of clothing are thus linked up with shifts in cultural tastes and notions of beauty, with changes within the economy and society, and with issues of social and political conflict. So when we see clothing styles alter we need to ask: why do these changes take place? What do they tell us about society and its history? What can they tell us about changes in tastes and technologies, markets and industries?

Activity

Can you think of other reasons why the use of khadi could not spread among some classes, castes and regions of India?

Box 4

The Gandhi cap

Some time after his return to India from South Africa in 1915, Mahatma Gandhi transformed the Kashmiri cap that he sometimes used into a cheap white cotton khadi cap. For two years from 1919, he himself wore the cap, and then gave it up, but by this time it had become part of the nationalist uniform and even a symbol of defiance. For example, the Gwalior state tried to prohibit its use in 1921 during the non co-operation movement. During the Khilafat movement the cap was worn by large numbers of Hindus and Muslims. A group of Santhals who attacked the police in 1922 in Bengal demanding the release of Santhal prisoners believed that the Gandhi cap would protect them from bullets: three of them died as a result.

Large numbers of nationalists defiantly wore the Gandhi cap and were even beaten or arrested for doing so. With the rise of the Khilafat movement in the post-First World War years, the fez, a tasseled Turkish cap, became a sign of anti-colonialism in India. Though many Hindus – as in Hyderabad for instance – also wore the fez, it soon became identified solely with Muslims.

***Fig.27** – 1915. Mahatma Gandhi with a turban.*

***Fig.28** – 1915. In an embroidered Kashmiri cap.*

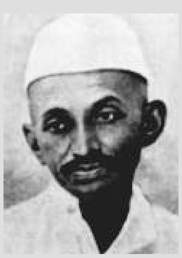

***Fig.29** – 1920. Wearing the Gandhi cap.*

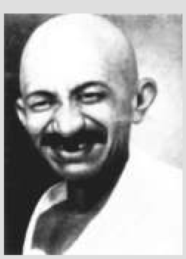

***Fig.30** – 1921. After shaving his head.*

***Fig.31** – On his visit to Europe in 1931. By now his clothes had become a powerful political statement against Western cultural domination.*

Activities

Activities

1. Imagine you are the 14-year-old child of a trader. Write a paragraph on what you feel about the sumptuary laws in France.
2. Can you think of any expectations of proper and improper dress which exist today? Give examples of two forms of clothing which would be considered disrespectful in certain places but acceptable in others.

Questions

?

1. Explain the reasons for the changes in clothing patterns and materials in the eighteenth century.
2. What were the sumptuary laws in France?
3. Give any two examples of the ways in which European dress codes were different from Indian dress codes.
4. In 1805, a British official, Benjamin Heyne, listed the manufactures of Bangalore which included the following:
   - Women's cloth of different musters and names
   - Coarse chintz
   - Muslins
   - Silk cloths

   Of this list, which kind of cloth would have definitely fallen out of use in the early 1800s and why?
5. Suggest reasons why women in nineteenth century India were obliged to continue wearing traditional Indian dress even when men switched over to the more convenient Western clothing. What does this show about the position of women in society?
6. Winston Churchill described Mahatma Gandhi as a 'seditious Middle Temple Lawyer' now 'posing as a half naked fakir'.
   What provoked such a comment and what does it tell you about the symbolic strength of Mahatma Gandhi's dress?
7. Why did Mahatma Gandhi's dream of clothing the nation in khadi appeal only to some sections of Indians?